॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

३



श्रीसागरनन्दीप्रणीतः

नाटकलक्षणरत्नकोशः

'प्रभा' हिन्दीव्याख्योपेतः

पुरोवाक्-प्रस्तावना-परिशिष्टादिभिश्च समलङ्कृतः

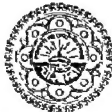
हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्राध्यापक श्री बाबूलालशुक्लः शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्यः

स्नातकोत्तर संस्कृतविभागाध्यक्ष

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर (म० प्र०)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७२

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२८

मूल्य : २०-००

गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE

JAIKRISHNADAS-KRISHNADAS PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA

3



NĀṬAKALAKSHAṆA-RATNA-KOSHA

OF

SĀGARANANDIN

Critically Edited with a Prabhā Hindi Commentary.

Preface, Introduction, Appendices and Index

By

Prof. BĀBŪLĀL SHUKLA, SHĀSTRĪ

M. A., Sāhityāchārya

Head of the Post Graduate Sanskrit Department

Government Post Graduate College, Mandsaur. (M. P.)



THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1972

Gopal Mandir Lane
P. O Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1972
Phone : 63145

First Edition
1972
Price Rs 20-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

आमुख

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के इतिहास में सागरनन्दी विरचित नाटकलक्षण-रत्नकोश का रूपक विषयक सिद्धान्तों के संक्षिप्त एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के कारण अतिशय महत्त्व है। यह ग्रन्थ उत्तरकालीन नाट्य एवं साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थकारों का उपकारक तथा उपजीव्य रहा है। ऐसे ग्रन्थ के प्रकाशन तथा हिन्दी व्याख्यान की आवश्यकता अनेक वर्षों से अनुभव की जाती रही थी। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत में एक संस्करण श्री ए० डिल्लन ने लन्दन से सम्पादित कर सन् १९३७ में प्रकाशित किया था। श्री डिल्लन को इस ग्रन्थ की सूचना तथा प्राप्ति फ्रान्स के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक सिल्वाँ लेवी से हुई थी। सन् १९२२ में अपनी नेपालयात्रा के अवसर पर श्री लेवी को नाटकलक्षणरत्नकोश की ताडपत्र पर लिखित प्रति प्राप्त हुई जिसकी प्रतिलिपि वे अपने देश ले गये तथा सन् १९२३ के जर्नल एशियाटिक में प्रा० लेवी ने इस ग्रन्थ की प्राप्ति के विषय में एक सूचना प्रकाशित की। ताडपत्र पर लिखित ग्रन्थ चौदहवीं शती में की गयी प्रतिलिपि थी। श्री लेवी ने अपने लेख में इस ग्रन्थ के विवेचन के साथ यह भी सूचित किया कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय-विवरण 'दशरूपक' (धनञ्जय-दसवीं शती) की परम्परा से गृहीत नहीं है। इसके अतिरिक्त इन्होंने यह भी सूचना दी कि विश्वनाथ कविराज प्रणीत साहित्यदर्पण में 'रत्नकोश' से भी स्रोतग्रन्थ के रूप में विषय-विवरण लिये गये हैं। इन सभी चर्चाओं के परिणामस्वरूप संशोधक विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ पर आकृष्ट होने लगा। श्री लेवी ने इस ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि करवाकर उपयोगार्थ श्री ए० डिल्लन को प्रेषित की जिसके आधार पर श्री डिल्लन ने इस ग्रन्थ को सम्पादित कर लन्दन से प्रकाशित

करवाया। श्री डिल्लन के सम्पादन काल में ही इस ग्रन्थ में सम्प्राप्त मूलपाठ की अशुद्धियाँ अनुभव की गयीं किन्तु उसने इसकी पाण्डुलिपियों के अन्यत्र कहीं न प्राप्त होने आदि अनेक कारणों को बतलाकर व्यवस्थितरूप में इनके परिमार्जन का अधिक प्रयास न करते हुए यावत्प्राप्य सामग्री के आधार पर इसे प्रस्तुत कर डाला। तभी से इस ग्रन्थ के विषय में अनेक कोणों से विचार आरम्भ हो गये थे। डिल्लन के संस्करण के उपरान्त एक परिशुद्ध पाठवाले संस्करण की सानुवाद आवश्यकता अधिकाधिक बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप यह नाटकलक्षणरत्नकोश का सम्पादित तथा प्रभा हिन्दी व्याख्या एवं टिप्पणी आदि के सहित यह संस्करण तैयार किया गया जिसमें श्री ए० डिल्लन के पाठों का परीक्षण कर व्यवस्थित एवं शुद्ध करते हुए उनकी व्याख्या हिन्दी भाषा में की गयी है। इसके अतिरिक्त अपेक्षित तत्वों को व्याख्यात्मक संक्षिप्त टिप्पणियों के द्वारा स्पष्ट किया गया है जिससे किसी अंश के अर्थबोध में क्लिष्टता या अस्पष्टता न रहे। कुछ स्थलों पर उदाहरण पद्यों का शाब्दिक अनुवाद दिया गया है, कुछ का भाव स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करते हुए व्याख्यानात्मक रूप रखा गया है और एक-दो पद्यों का पद्यात्मक अनुवाद भी लिखा गया है। व्याख्या को पूर्णतः सुबोध एवं उदाहरणों के अनुवादों को भावाभिव्यञ्जक एवं सुस्पष्ट बनाने के उद्देश्य से ही ऐसा किया गया है।

इस प्रकार प्रभाव्याख्या समन्वित 'नाटकलक्षणरत्नकोश' का यह संस्करण सुधीजन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। इसमें एक अप्राप्य ग्रन्थ की उपलब्धि तो होगी ही अनुवादात्मक व्याख्यान तथा परिशुद्ध पाठ की सम्प्राप्ति भी संशोधकों एवं परिशीलनकर्त्ता सुधीजन को होगी। प्रस्तुत परिशुद्ध पाठों के अपने संस्करण में मुझे सफलता कहाँ तक मिली है इसका निर्णय विवेचक विद्वान् दोनों संस्करणों की तुलना से स्वयं ही कर सकेंगे। साहित्यशास्त्र के संशोधक विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे उन उन दोषों की ओर निर्देश करने की मुझ पर कृपा करें जिससे भावी संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके।

इस ग्रन्थ के रचयिता सागरनन्दी तथा इनके ग्रन्थ के विषय में 'प्रस्तावना' में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है तथा प्रायः अभिनवविज्ञात तथ्यों को यथाप्रसंग इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में आवश्यक सामग्री के रूप में पाँच परिशिष्टों में नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों की सूची, नाट्यरचनाओं की अनुक्रमणिका, नाट्यरचनाओं के अङ्कों की अनुक्रमणिका, कारिकानुक्रमणिका तथा उदाहरणपद्यों की अनुक्रमणिका को जोड़ दिया गया है जिससे अधीतिजन को अवश्य लाभ होगा।

ग्रन्थ के मुद्रणकाल में मेरे स्वास्थ्य के विषमतम हो जाने के कारण अप्रत्याशित विलम्ब हुआ है। इसका दूरस्थ वाराणसी में मुद्रण भी एक और कारण था फिर भी परमेश्वर की कृपा से इसका निर्विघ्न प्रकाशन हो गया यही समय बड़ी प्रसन्नता है। अपनी स्वास्थ्यजन्य विषमता से होने वाले विलम्ब तथा ग्रन्थ में आयी हुई त्रुटियों के लिये एकबार पुनः विद्वज्जन से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी,
वि० सं० २०२८

सुधीजन कृपाकाङ्क्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र तथा तदुत्तरभावी कोहल आदि अन्य आचार्यों के नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों की शृङ्खला में सागरनन्दी प्रणीत 'नाटकलक्षणरत्नकोष' का भी क्रम आता है। नाट्यसिद्धान्तों को बिना किसी लम्बे विचार के प्रस्तुत करते हुए अनेक तुलनात्मक मतों के साथ संक्षेप में रख देना इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है, जिससे अल्पश्रम के द्वारा नाट्य शास्त्रीय तथ्यों का अवगम हो सके।

सागरनन्दी (व्यक्तित्व एवं स्थितिकाल)

ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों में दिये गये विवरण से नन्दी वंश में विद्यमान श्री सागर के द्वारा रत्नकोश नामक ग्रन्थ रचना करने का उल्लेख मिलता है। ये सागर किसी राजवंश में उत्पन्न थे। 'नन्दी' उपाधि से इनके नन्दवंशीय या जैन होने की भी आशङ्का होती है। 'नन्दिन्' शब्द के बहानुक्रमी प्रयोग के आधार पर कुछ अन्य विद्वान् इन्हें बौद्ध लेखक भी मानते हैं, इसका कारण वे सागरनन्दी के ही उल्लेख को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए यह मानते हैं कि भिक्षु के नाम के आगे नन्दी शब्द का प्रयोग होता है। सागरनन्दी के इस उल्लेख को आधार मानने पर इनका बौद्ध लेखक होना भी सम्भव प्रतीत होता है परन्तु आरम्भ के मङ्गलाचरण पद्य में गौरीकान्त शिव की वन्दना इस मान्यता में थोड़ी बाधक है; जिसका समाधान यह कहकर दिया जाता है कि नाट्यशास्त्र के आद्यप्रवर्तक देव भगवान् शिव हैं। अतः उनकी वन्दना सभी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में एक कर्तव्य-भावना के रूप में रहने से जैन या बौद्ध लेखक ने भी वैसा ही अनुसरण कर दिया होगा। हमारे मत में ग्रन्थकार किसी राजवंश में उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय जाति का तथा जैन या बौद्ध में से अन्यतम या जिसने नाट्यशास्त्रीय परम्परा का व्यायत अनुसरण करते हुए भगवान् शिव की नाट्यप्रवर्तक आदिदेव के रूप में वन्दना की है।

नाटकलक्षणरत्नकोश के अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने से ग्रन्थकार का स्थितिकाल सरलता से जाना जा सकता है। इस क्रम में नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों को लिया जा सकता है। इस क्रम में सर्वप्रथम राजशेखर को हम रखते हैं जिनकी नाटिका विद्धशालभञ्जिका से उद्धरण लिये गये हैं, कर्पूरमञ्जरी का उल्लेख किया

गया है तथा काव्यमीमांसा के विचारों को निर्दशित किया गया है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर राजशेखर का स्थितिकाल ८८५ ई० से ८९५ ई० के मध्य नवीं शती के अन्तिम चरण में माना जाता है। अतएव स्पष्ट है कि सागरनन्दी का स्थितिकाल राजशेखर के परवर्ती है।

इसके अतिरिक्त नाटकलक्षणरत्नकोष में पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व से हावादि के लक्षण तथा उदाहरण भी आकलित किये गये हैं। पद्मश्री का स्थितिकाल नवीं शती का अन्तिम भाग तथा दसवीं शती का आरम्भ माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि सागरनन्दी नागरसर्वस्वकार से परवर्ती हैं।

यह इसकी पूर्वसीमा है। श्री ए० डिल्लन आदि विद्वानों ने नाटकलक्षणरत्नकोष में लिखित 'दूताङ्गद' शब्द से सुभटकविप्रणीत दूताङ्गद छाया नाटक को लेकर इसकी पूर्वसीमा १२४३ ई० के पश्चात् तक मानी है। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि एक तो सुभट कवि के दूताङ्गद से कोई उद्धरण न लेने के कारण यह दूताङ्गद ही सुभटकविप्रणीत नहीं माना जा सकता। दूसरे यदि सुभट कविप्रणीत दूताङ्गद को ही ग्रन्थकार ने संकेतित किया होता तो ग्रन्थ के रूपकादि लक्षणों के प्रसङ्ग में छाया नाटक का लक्षण अवश्य मिलना चाहिए था। किन्तु वैसा कोई लक्षणादि का उल्लेख न रहने से सागरनन्दी द्वारा उद्धृत 'दूताङ्गद' सुभट कविप्रणीत न होकर किसी अन्य कवि की रचना होगी, जिसका स्वरूप अज्ञात है।

नाटकलक्षणरत्नकोष में प्रतिपादित नाट्यादि लक्षणों की समानता भोज तथा अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र टीका अभिनवभारती में क्रमानुरूप में विद्यमान मानते हुए उनसे प्रभावग्रहण करने वाले सागरनन्दी इन दोनों के उत्तरभावी थे ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। अब इसकी उत्तरसीमा में हम नाटकलक्षणरत्नकोष से उद्धृत वचनों वाले ग्रन्थों को रखते हुए विचार करेंगे। इस क्रम में सर्वप्रथम अमरकोष के प्राचीन व्याख्याकार रायमुकुट आते हैं। इनका नाम बृहस्पति तथा उपनाम रायमुकुट था तथा ये बङ्गाल के निवासी थे। इनके पिता का नाम गोविन्द तथा पुत्रों का नाम विश्राम तथा राम था। रायमुकुट ने अमरकोष पर पदार्थचन्द्रिका व्याख्या लिखी जिसमें पूर्ववर्ती लगभग २७० ग्रन्थों से उद्धरण लिये गये थे। इसका रचनाकाल ई० सन् १४३१ या पन्द्रहवीं शती था जिसमें नाटकलक्षणरत्नकोष से उद्धरण लिया गया है। अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल ई० सन् १४३१ से पूर्वभावी अवश्य था।

इसके अतिरिक्त अमरकोष की सुभूतिचन्द्र तथा सर्वानन्द प्रणीत व्याख्याओं में भी नाटकलक्षणरत्नकोश के उद्धरण भी विद्वानों ने खोज निकाले हैं। इनमें

सर्वानन्द की टीका का लेखनकाल शाके १०८१ या ई० सन् ११५८–५९ है। अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल इससे भी पूर्वभावी अवश्य माना जाना चाहिए।

अमरकोष की सुप्रसिद्ध टीका सुधा मे—जिसके लेखक भानुजी दीक्षित थे—भी नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिये गये हैं किन्तु श्री भानुजी दीक्षित का स्थितिकाल १६३० ई० के आसपास रहने से अधिक उत्तरकालभाविता को धारण करता है। यद्यपि इस व्याख्या मे नाटकलक्षणकोश के वर्तमान पाठ से थोड़ा अन्तर लिये हुए पाठ उद्धृत है फिर भी रायमुकुट की व्याख्या या फिर सीधे रत्नकोष की ही किसी प्रति से पाठ लेने की बात निराधार नहीं हो सकती।

भानुजी दीक्षित के पश्चाद्भावी विक्रमोर्वशीय के व्याख्याकार रङ्गनाथ दीक्षित ने सागरनन्दी तथा उनके ग्रन्थ नाटकलक्षणरत्नकोश का नामोल्लेख करते हुए अपनी व्याख्या मे दस उद्धरण दिये हैं। रङ्गनाथ दीक्षित का स्थितिकाल भी सत्रहवी शती का अन्तिम चरण तथा भानुजी दीक्षित के समीप माना जाता है। अत. यह स्पष्ट है कि सत्रहवी शती के अन्तिम चरण तथा अठारहवी शती के आरम्भ तक 'नाटकलक्षणरत्नकोश' का एक प्रामाणिक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप मे आदर एवं प्रचलन विद्यमान था।

अनर्घराघव नाटक की रुचिपति उपाध्याय व्याख्या मे नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिये गये हैं। रुचिपति उपाध्याय की अनर्घराघव व्याख्या की एक हस्तलिखित प्रति का प्रतिलिपिकाल ई० स० १६१३ है (जो भट्टोजी दीक्षित के समय प्रतिलिपि की गई होगी)। अतएव रुचिपति उपाध्याय का स्थितिकाल सोलहवी शती माना जा सकता है। इस प्रकार उत्तरकाल की अन्तिम कड़ी रङ्गनाथ प्रणीत विक्रमोर्वशीय व्याख्या ही है।

इन प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सागरनन्दी को हम दसवी शती मे विद्यमान यशश्री के उपरान्त तथा बारहवी शती के पूर्वार्ध मे विद्यमान अमरकोष के टीकाकार सर्वानन्द तथा सुभूतिचन्द्र से पूर्वकाल मे रख सकते हैं। यदि नाटकलक्षणरत्नकोश के विषय तथा शैली आदि को ध्यान मे रखकर देखें तो स्पष्ट है कि 'रत्नकोश' पर भोज तथा अभिनवगुप्तपाद की मान्यताओ की छाया देखी जा सकती है परन्तु इसका कारण तत्कालीन नाट्यशास्त्रीय विचार सरणि भी हो सकती है। जिसका प्रभाव भोज की रचना मे तथा तत्पूर्वभावी धनञ्जय की रचनादि मे स्पष्टत दृष्टिगत होता है। यह भी हो सकता है कि सागरनन्दी ने भोज या अन्य आचार्यों के ग्रन्थो का अवलोकन हो न किया

हो। अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल ग्यारहवीं शती का अन्तिम चरण मानना उचित होगा (क्योंकि ५० या ७५ वर्ष इस ग्रन्थ को प्रसिद्ध होने में अवश्य लग गए होंगे जिसके बाद ही सर्वानन्द ने इसे आकरग्रन्थ मान कर इससे उद्धरण लिये थे)। कुछ विद्वान् उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में सागरनन्दी का स्थिति-काल ११५० ई० मानते हैं किन्तु एक तो सर्वानन्द के ही ११६० से पूर्वभावी होने से तथा दूसरे इसमें किसी विशेष इष्टसिद्धि के न रहने के कारण सागरनन्दी का स्थितिकाल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध मानना अधिक साधार होगा।

नाटकलक्षणरत्नकोश (स्वरूप विवेचन)

यह ग्रन्थ अपने नाम तथा ग्रन्थप्रतिज्ञा के अनुरूप ही नाट्यसिद्धान्तों को नाटकलक्षण के निरूपण के प्रसंग में ठीक तरह से निर्दिष्ट कर उन्हें तुलनात्मक पद्धति से एक स्थान पर दर्शाते हुए विभिन्न आचार्यों के मान्य अभिमत को बतलाने वाला नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। ग्रन्थकार सागरनन्दी ने ग्रन्थारम्भ तथा ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों में उपर्युक्त तथ्यों को बतलाते हुए स्वयं ही भरतमुनि के साथ नाट्यविद्या के अन्य आचार्यों के मतों को भी तुलना करते हुए प्रस्तुत करने की बात कही है। ग्रन्थकार द्वारा भरतमुनि के मत को मुख्यरूप देते हुए प्रस्तुत करना ग्रन्थ को मौलिक रूप देने के लिये है, क्योंकि सभी नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को उपजीव्य बनाकर ही अपना विशेष-विवेचन करते रहे हैं। इसी कारण सागरनन्दी के इस ग्रन्थ में भी नाट्यशास्त्र की कारिकाओं को या तो लक्षणनिदर्शन प्रसंग में तथैव उद्धृत किया गया है या फिर नाट्यशास्त्र के पाठ से मिलता-जुलता लक्षण प्रस्तुत किया गया है और यही स्थिति नाट्यशास्त्रीय गद्यखण्डों की भी है जहाँ इसी भावना का अनुसरण किया गया है।

भरतमुनि के उत्तरकालीन आचार्यों में कोहल अग्रगण्य हैं। यद्यपि आचार्य अभिनवगुप्तपाद की तरह सागरनन्दी ने कोहल का नामोल्लेखपूर्वक ग्रन्थ उल्लेख नहीं किया है किन्तु विद्यमान लक्षणों के आधार एवं सिद्धान्तों को देखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि सागरनन्दी ने कोहल द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को विस्तार से अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है। हमें आचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा निर्दिष्ट नाट्यशास्त्रीय विवरणों से यह भी विदित है कि नाटिका, सट्टक आदि अतिरिक्त रूपक प्रभेदों के लक्षण कोहलाचार्य द्वारा ही प्रतिपादित हैं। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने तथा उनके शिष्यद्वय रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने भी क्रमशः काव्यानुशासन-वृत्ति तथा नाट्यदर्पणवृत्ति में निर्दिष्ट किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि

नाट्यशास्त्र के मूलभाग मे कोहलाचार्य की अनेक कारिकाये प्रविष्ट हैं तथा रूपक-प्रकरणाध्याय (ना० शा० ख० २०, चौख० सस्क०) का नाटिकानिरूपण कोहलाचार्य द्वारा निर्दाशित है। इस विषय का हमने अपनी नाट्यशास्त्र खण्ड ३ की भूमिका मे विस्तार से विचार किया है। सागरनन्दी ने रूपको के उन सभी प्रकारो को दिया है जो दशरूपको से अतिरिक्त स्वरूप वाले थे। इनमे से रूपको के कुछ प्रभेद कोहलाचार्य द्वारा तथा अन्य विषय हर्ष विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट नखकुट्ट या बादरायण आदि प्राचीन नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के द्वारा उद्भावित थे, जिनके ग्रन्थादि के सम्प्रति विलुप्त हो जाने से हमे इनके विषय मे पृथक्-पृथक् जानकारी नही मिल रही है। सागरनन्दी ने इन रूपकप्रभेदो का विभेदक नामकरण न करते हुए (विस्तार से) इनका स्वरूप सोदाहरण निरूपित किया है। विभेदक नामकरण न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि एक धनञ्जय तथा उसकी परम्परा के अन्य प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार इन्हे कदाचित् नृत्य (या नृत्त) भेद ही मानते थे। परन्तु सागरनन्दी के पश्चाद्भावी आचार्य शारदातनय, अमृतानन्दयोगिन्, विश्वनाथकविराज, कामराजदीक्षित आदि ने कोहलादि आचार्यों के द्वारा निरूपित इन अतिरिक्त रूपकप्रभेदो का विस्तार से विवरण दिया है। श्री विश्वनाथ कविराज ने इन रूपकप्रभेदो का पृथक् नामकरण 'उपरूपक' करते हुए इनकी स्वतन्त्र स्थिति भी बतलाई है। सागरनन्दी ने अपने समय मे प्रचलित रूपको के दस भेदो के अतिरिक्त अन्य प्रभेदो का जिस मनोयोग से सोदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया वह तत्कालीन प्रचलित नाट्यशास्त्रीय विचारसरणि को दिखलाते हुए बहुमूल्य सूचना प्रदान करने के कारण ऐतिहासिक महत्व रखता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश यद्यपि समग्र नाट्यशास्त्रीय विषयो के गम्भीर अनुशीलनकर्ताओं के लिये पर्याप्त सामग्री नही देता किन्तु इस ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता भी विषयगत पूर्णता के लिये तथा इसकी असाधारण स्थिति के कारण अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ का अनुशीलन दो विशेष गुणो या केन्द्रबिन्दुओ को आधार बनाते हुए किया जाना चाहिए। इनमे प्रथम है— अज्ञात नाट्यशास्त्रीय आचार्यों की रचनाओ से लक्षणादि निदर्शन एवं अज्ञात नाट्यरचनाओ से उदाहरण सकलन करना। दूसरा है नाट्यशास्त्र के अनेक सैद्धान्तिक विषयो का विभिन्नता प्रदर्शन के साथ एक ही स्थान पर सक्षेप मे समावेश करते हुए स्थापन। इस प्रकार जहाँ प्रसिद्ध नाट्यरचनाओ के अनेक उदाहरणो के प्रसग मे अनेक पाठान्तर इस ग्रन्थ मे हमे मिलते हैं वहीं अनेक परिचित तथा अज्ञात नाट्यशास्त्रीय साहित्य के तथ्यो का अवबोध होकर सस्कृत नाट्यशास्त्र के विस्तीर्ण क्षेत्र का भी इसी ग्रन्थ से पता चलता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश में प्राप्त होनेवाली नाट्यशास्त्र के अज्ञात आचार्यों की तालिका देखने से विशाल नाट्यशास्त्रीय वाङ्मय का पता लगता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय केवल धनञ्जय तथा धनिक द्वारा अनुसृत नाट्यपरम्परा ही प्रवाहित नहीं होती थी अन्य धाराएँ भी विद्यमान थीं, जिनके अस्तित्व की सूचना हमें इसी ग्रन्थ के सहारे प्राप्त होती है। इस प्रकार अनेक आचार्यों के एक स्थान पर तुलनात्मक मन्तव्य उपस्थापित कर इस ग्रन्थ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके अनुशीलन से यह विचार अधिक बलशाली हो जाता है कि प्राचीन नाट्यशास्त्रीय रचनाओं के व्यापक अनुशीलन से ही नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन करना चाहिए जिनका आधार लेने के कारण ही आचार्य अभिनवगुप्तपाद तथा शारदातनय के ग्रन्थों की ऐतिहासिक एवं सुदृढ़ स्थिति हो सकी तथा जिनकी उदात्तविचारसरणि भी इसी कारण नाट्यसिद्धान्तों के व्यवस्थित उपस्थापन में अधिक समर्थ बनी।

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार

मातृगुप्त आचार्य—नाटकलक्षणरत्नकोश में अनेक नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के मतों के निदर्शन मिलने से अनेक प्राचीन परम्पराओं का भी आभास मिलता है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय आचार्य हैं मातृगुप्ताचार्य। कल्हण की राजतरंगिणी में प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त नाट्यशास्त्र के अप्रतिम पण्डित, कवि तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। ये भर्तृमेण्ठ जैसे कवि के समकालीन एवं उसके आश्रयदाता भी थे। इनका स्थितिकाल पाँचवीं शती है। मातृगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्रग्रन्थ लिखा था जिसके उद्धरण अनेक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा नाटकों की प्राचीन टीकाओं में मिलते हैं। नाट्यप्रदीप के लेखक तथा सोलहवीं शती में विद्यमान सुन्दरमिश्र ने मातृगुप्त को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार भी माना है। मातृगुप्त के मतों का सागरनन्दी ने छः स्थानों पर निदर्शन किया है।

राहुल, कात्यायन तथा गर्ग—सागरनन्दी ने राहुल का मत एक बार निदर्शित किया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी राहुल का मत अभिनवभारती में दिखलाया है जिससे इनके नाट्यशास्त्रीय रचनाकार होने की प्रतीति होती है। राहुलाचार्य के अतिरिक्त सागरनन्दी ने कात्यायन का भी एक बार मत उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भी कात्यायन का मत निर्दिष्ट होने से ये भी किसी स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता हैं। नाटकलक्षणरत्नकोश में गर्ग का केवल नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार के रूप में उल्लेखमात्र हो

प्राप्य है उद्धरण नहीं। ये सभी प्राचीन आचार्य हैं।

अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट—इन दोनों आचार्यों का नाट्यशास्त्र में भरतपुत्र के रूप में उल्लेख मिलता है। सागरनन्दी ने अश्मकुट्ट का चार स्थानों पर तथा नखकुट्ट का दो स्थानों पर उल्लेख किया है। विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण में भी अश्मकुट्ट तथा नखकुट्ट का मत दिया है जिससे इन आचार्यों द्वारा नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की सूचना मिलती है। ये प्राचीन आचार्य थे।

बादरायण,—शातकर्णि तथा चारायण—नाट्यशास्त्र में बादरायण को भरतपुत्र बतलाया गया है। सागरनन्दी ने बादरायण का तीन स्थानों पर उल्लेख किया है। सागरनन्दी ने शातकर्णि का एक बार उल्लेख किया है। अनर्घराघव की रुचिपति उपाध्याय प्रणीत टीका में भी शातकर्णि आचार्य का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार चारायण का एक स्थान पर 'रत्नकोष' में उल्लेख किया गया है। ये सभी नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों के लेखक थे जिनके ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य हैं। ये सभी प्राचीन आचार्य हैं।

श्रीहर्ष, विक्रमनराधिप—ये नाट्यशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थकार थे जिनका नाटकलक्षणरत्नकोश के पृ४ ३०७ की टिप्पणी में विवरण दिया गया है। हमने भरतमुनि के विषय में सर्वज्ञात होने से अधिक विस्तार नहीं किया। मेरे द्वारा सम्पादित एवं व्याख्यात नाट्यशास्त्र (चौखम्बा, वाराणसी) की भूमिका को इस सन्दर्भ में देखना चाहिए।

पद्मश्री—इनका पद्मश्री या पद्मश्रीज्ञानी नाम था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'नागरसर्वस्व' है जो कामशास्त्र का प्रबन्धग्रन्थ है। इन्होंने कुट्टनीमत का उल्लेख किया है अत ये उसके रचयिता दामोदरगुप्त के परवर्ती हैं। दामोदरगुप्त काश्मीराधिप जयापीड के सभापण्डित थे जिनका स्थितिकाल ई० स० ७५१–७८२ तक था। राजतरंगिणी में इनके कुट्टनीमत का भी उल्लेख मिलता है। अतः पद्मश्री का स्थितिकाल दसवीं शती का आरम्भ माना जा सकता है। नागरसर्वस्व एक अतिसुन्दर लक्षणग्रन्थ है जिससे सागरनन्दी ने दस उद्धरण सोदाहरण लिये हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाएगा कि नाटकलक्षणरत्नकोश का क्षेत्र अनेक नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के उल्लेख करने तथा उनकी मान्यताओं की भी यथाप्रसंग प्रस्तुत करने के कारण अधिक व्यापक हो गया है।

ग्रन्थवैशिष्ट्य—

नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विषय में सागरनन्दी का दृष्टिकोण भरतमुनि के वचनों को प्रमुख मान्यता प्रदान करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक ग्राह्य सिद्धान्तो को अन्य आचार्यों से लेना रहा है। इसी कारण सागरनन्दी के समय में चर्चित शान्तरस के विषय में जहाँ धनञ्जय तथा अभिनवगुप्तपाद ने अपने मन्तव्य उपस्थापित किये वहाँ नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने इस विषय पर मौन साधा। इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने जिस प्रश्न को,बाद में उठाते हुए यह विवेचित किया कि नाटक का नायक ऐतिहासिक नृपों को क्यों बनाना चाहिए। सागरनन्दी ने इस प्रश्न को मातृगुप्त आचार्य के मत के अनुसार ऐतिहासिक पात्र को नायक बनाने की बात कहते हुए नायक के ऐतिहासिक होने पर नाटक में कोई हानि नहीं है, स्वीकार कर मातृगुप्त का समर्थन किया। ऐसा करते हुए इन्होंने महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र के नायक अग्निमित्र, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा देवी चन्द्रगुप्तम् जैसे ऐतिहासिक नायकों वाले नाटकों को समर्थन दे दिया तथा इसी कारण ऐसी रचनाओं के नाटक में परिगणित करने को बल भी मिला। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के उपयोगी सिद्धान्तो को लेने के कारण सागरनन्दी का दृष्टिकोण न केवल अधिक व्यावहारिक हो था किन्तु वह परिपक्व नाट्यविज्ञान पर आधृत होने से अधिक व्यापक भी था।

सागरनन्दी की एक और प्रवृत्ति भी है। वे जब भी नाट्यशास्त्रीय मत-मतान्तरों को तुलनात्मक निदर्शन के साथ प्रस्तुत करते हैं तो उस विषय के गम्भीर विवेचन में न जाकर केवल विभिन्न मतों का सार देते चलते हैं। यह प्रवृत्ति ग्रन्थ के उद्देश्य तथा विषय के अवबोध का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। इस क्रम में जिन नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के मान्य सिद्धान्तो को सङ्कलित किया गया है उस कार्य ने तीव्र मतभेदों से बचते हुए कुछ प्राचीन मान्यताओं की रक्षा ही की है जिसका महत्त्व शास्त्रसंरक्षण से कम नहीं आंका जा सकता।

इस विषय में हम सागरनन्दी द्वारा निर्दिष्ट रूपकों के प्रभेदों को लेते हैं जहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने रूपको के भरतोक्त दस विभेदों की सोदाहरण व्याख्या की वहाँ उनने अपने समय में विद्यमान तथा कोहल, भोज आदि आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट अन्य नाटिकादि प्रभेदों के (उपरूपकों के) लक्षणादि देना तो दूर रहा उनकी स्थिति या उदाहरणों तक को सप्रयास रोक दिया और केवल उनके अतिरिक्त स्वरूप की सूचना दे कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। धनञ्जय ने भी अपने दशरूपक में रूपकों के नाटिका जैसे अन्य एक प्रभेद को भरतमुनि के आधार पर निर्दिष्ट करके अन्य प्रभेदों की मूलभेद में गणना करते हुए केवल सूचना भर दी। महाराजाधिराज भोज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ

भृङ्गारप्रकाश (१२ अध्याय) मे रूपको के इन अतिरिक्त विभेदो को लक्षणादि देकर निर्दशित भर किया किन्तु सागरनन्दी ने इन समग्र प्रभेदो का लक्षणादि के अतिरिक्त उदाहरण देते हुए निरूपण किया। इसी क्रम को आगे चलकर रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पणसूत्र मे, शारदातनय ने भावप्रकाशन मे तथा विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' मे आगे बढाते हुए स्थापित किया। इस प्रकार यद्यपि सागरनन्दी ने रूपक तथा उपरूपको का पृथक् वर्गीकरण नहीं किया किन्तु उपरूपको के विभेदो को नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों मे सलक्षण रखने की परम्परा को एक धारा का स्वरूप अवश्य प्रदान किया जो आगे चलकर गतिशील प्रवाह को धारण करने मे समर्थ हुई।

नाटकलक्षणरत्नकोश मे नाटक के स्वरूप तथा इसके समग्र अंगों, रूपकप्रभेदो तथा नाट्या-लङ्कार एवं नाट्यांगो का सुसम्बद्ध विवेचन है। इसके अतिरिक्त रस के स्वरूप को बिना अधिक विस्तार दिये हुए इसमें रखा गया है तथा यही क्रम पूर्वरङ्ग के विवेचन मे भी है। इसमे संगीत और नृत्य का केवल संकेतमात्र किया गया है तथा सभी विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज ने इसी परम्परा के ग्रन्थो का सामान्यत तथा नाटकलक्षणरत्नकोश का बिना उल्लेख करते हुए विशेषत' आधार लेकर नाट्यशास्त्रीय विषयो का प्रतिपादन समग्रता के साथ व्यवस्थित रूप से किया है यह प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन से स्पष्ट हो जाएगा।

हम पूर्व मे भी बतला आए हैं कि नाटकलक्षणरत्नकोश का आयाम तथा विषयक्षेत्र भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की तरह व्यापक नहीं है तथा अपने विवेचन मे भी यह पर्याप्त सीमित है। इसी कारण इसमे नाट्योत्पत्ति, प्रेक्षागृह, नृत्य एवं अभिनय, वाचिक अभिनय तथा उसके पाठ्य, आदि प्रकार, स्वरकाकुआदि विधान, लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी प्रकार, सिद्धियाँ, संगीत के स्वर, वर्ण अलङ्कार, जाति आदि का स्वरूप, आतोद्य विधि आदि नाट्यशास्त्रीय विषयो का विवेचन नहीं है। तथापि यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्रोक्त रस, लक्षण, रूपकप्रभेद, नाट्यङ्ग, संध्यङ्ग, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का सुस्पष्ट विवरण देता है। इसमे कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ अस्पष्ट लक्षण के कारण विषय को समझने मे रुकावट आती है। ऐसे स्थानो मे विष्कम्भक, अङ्कावतार, पताकास्थानक षड्वाङ्गाभिनय, नाट्यलक्षण तथा भाण के स्वरुप निरूपक विवरण को गिनाया जा सकता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाएँ

नाटकलक्षणरत्नकोश के उदाहरणो का क्षेत्र व्यापक है यह हम बतला आए हैं। इसमे कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय, भवभूति के

उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम्, हर्ष के रत्नावली तथा नागानन्द, भास के स्वप्नवासवदत्त तथा चारुदत्त, शूद्रक के मृच्छकटिक, दिङ्नाग की कुन्दमाला, राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका तथा भट्टनारायण प्रणीत वेणीसंहार आते हैं। ये सभी प्रसिद्ध तथा उपलब्ध नाट्यरचनाएँ हैं किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी नाट्यरचनाओं से भी नाटकलक्षणरत्नकोश में उदाहरण सङ्कलित किये गये हैं जो अज्ञात, अप्रसिद्ध तथा अनुपलब्ध हैं। इन रचनाओं के विषय में हम आगे यथाप्राप्य जानकारी के आधार पर सामान्य-परिचय क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) उत्कण्ठितमाधव—(काव्य) इस ग्रन्थ का उपरूपकों के अन्तर्गत काव्य प्रभेद में उल्लेख किया गया है। इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(२) उदात्तराघवम्—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोश में उदात्तराघव का उल्लेख दो बार मिलता है। दशरूपक के अवलोक के आधार पर इसके रचयिता मायुराज उपनाम मातराज हैं। राजानक कुन्तक ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित में न केवल इस नाटक का उल्लेख ही किया है किन्तु वहाँ इस नाटक के नामकरण के कारण कथावस्तु में किये गये परिवर्तनों की भी चर्चा है। मध्यकाल के नाटकों में उदात्तराघव नाटक अतिशय लोकप्रिय रहा होगा। न केवल दशरूपक में, कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित तथा सागरनन्दी की प्रस्तुत रचना में ही मायुराज के उदात्तराघव का उल्लेख हुआ किन्तु भोजदेव के विस्तीर्ण ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में, हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पणसूत्र में तथा विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में भी इसके उद्धरण सङ्कलित किये गये हैं।

राजशेखर के अनुसार मायुराज कलचुरिवंश के कवि थे। राजशेखर की मायुराजप्रशस्ति जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि में इस प्रकार है :—

> मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः ।
> उदन्वतः समुत्तस्थु कति वा तुहिनांशवः ॥
>
> (जल्हण—सूक्तिमुक्तावलि—४५)

इस प्रकार राजशेखर के इस उल्लेख से मायुराज का स्थितिकाल ८ वीं शताब्दी का रहा होगा ऐसी कल्पना सम्भवतः उचित मानी जाएगी। मायुराज ने तापसवत्सराज नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक सम्प्रति उपलब्ध होता है।

(३) उर्वशीमर्दन—(ईहामृग)—नाटकलक्षणरत्नकोश में ईहामृग के लक्षण प्रसंग में इसका उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय में अधिक बात कहना संभव नहीं है।

(४) उपाहरण—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोष में इसका उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार के विषय में न तो कुछ ज्ञात है न ग्रन्थ ही उपलब्ध है। इधर जो रुद्रचन्द्रदेव निर्मित उपाहरण या उपारागोदया मिलता है तथा जिसे इन पंक्तियों के लेखक ने सम्पादित भी किया है वह सागरनन्दी से परवर्ती रचना है अतएव इससे उद्धरण लेना इस ग्रन्थ में संभव नहीं लगता।

(५) कनकावतीमाधव—(शिल्पक) सर्वप्रथम इसका उल्लेख नाटक लक्षणरत्नकोश के द्वारा ही प्राप्त होता है। अमृतानन्द योगिन् ने इसको सल्लापक का उदाहरण माना है पर सागरनन्दी ने इसे शिल्पक का। साहित्य दर्पण तथा भावप्रकाशन ने भी इसे शिल्पक का उदाहरण ही माना है। रचना सम्प्रति प्राप्त नहीं होती।

(६) कलावती—सागरनन्दी ने इसके तृतीय अङ्क से एक उद्धरण दिया है। इसके स्वरूप तथा रचयिता आदि के विषय में कुछ भी अधिक ज्ञात नहीं है।

(७) कामदत्ता—(भाणिका) सागरनन्दी के अतिरिक्त अमृतानन्द योगिन् ने भी इसे भाणिका के उदाहरण में निर्दिष्ट किया है। उदात्त नायिका वाले भाणिका को एक विशेष भेद डोम्बी मान कर शारदातनय ने इसी ग्रन्थ की चर्चा की है। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

(८) कामदत्तापूर्ति—नाटकलक्षण रत्नकोश में इसका एक उद्धरण ही संकलित है। इससे इसके स्वरूप का कोई पता नहीं लगता पर कदाचित् यह कामदत्ता का अन्तिम अंक है ऐसा प्रतीत होता है। इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है।

(९) कुन्दशेखरविजयः—(ईहामृग) सागरनन्दी ने इसे ईहामृग का उदाहरण बतलाया है। भावप्रकाशन तथा बहुरूपमिश्र ने इसका नाम 'कुसुमशेखरविजय'—लिखा है। हो सकता है सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश की भविष्य में प्राप्त किसी प्रति में 'कुसुमशेखरविजय' नाम मिल जाए। तब तक मूलपाठ के अनुसार यही नाम ठीक होगा। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(१०) कीचकभीम—(नाटक) सागरनन्दी के उद्धरणों के आधार पर इसे नाटक माना जा सकता है परन्तु इसके रचयिता आदि का कुछ भी विवरण नहीं मिलता।

(११) कृत्यारावणम्—(नाटक) नाटक लक्षणरत्नकोश में कृत्यारावण नाटक से उद्धरण लिये गये हैं। यह नाटक प्राचीन है तथा अपनी विशेष नाट्य-रचना के कारण प्रायः सभी मध्यकालीन विद्वानों के द्वारा समीक्षित भी रहा है। इसके उल्लेख भोजदेव के शृङ्गारप्रकाश में, हेमचन्द्राचार्य प्रणीत काव्यानुशासन में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पण विवृत्ति में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस नाटक से ८ बार अपनी नाट्यशास्त्र की सुप्रसिद्ध टीका अभिनवभारती में उद्धरण लिये हैं। आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' में इसकी समीक्षा मिलती है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' तथा विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में भी कृत्यारावण के उद्धरण मिलते हैं। इतना सब होने पर भी इस सफल नाट्यरचना के रचयिता का नाम आजतक विदित नहीं हो पाया और न ही इस नाट्य-रचना की कोई प्रति प्राप्त हुई है।

(१२) केलिरैवतक—(हल्लीसक) सागरनन्दी ने इसका उल्लेख उपरूपक के एक प्रकार हल्लीसक के उदाहरणरूप में किया है। भाव प्रकाशन तथा अमृतानन्दयोगिन् के साथ तथा साहित्यदर्पण में भी इसका उल्लेख मिलता है। सम्प्रति ग्रन्थ अप्राप्य है।

(१३) क्रीडारसातल—(श्रीगदित) नाटकलक्षणरत्नकोश में इस कृति को श्रीगदित का उदाहरण बतलाया है। अलंकारसंग्रह में अमृतानन्द योगिन् ने तथा साहित्यदर्पण ने भी यही विवरण दिया है। कदाचित् यह पूर्वपरम्परागत विवरण है जो उदाहरणादि के लिये वैसा ही सभी ने ले लिया हो। इसके विषय में अन्य बातें ज्ञात नहीं हैं।

(१४) ग्रामेयी—(नाटिका) सागरनन्दी के समय यह नाटिका प्रसिद्ध रही होगी। सम्प्रति यह अनुपलब्ध है। इसका अन्य किसी नाट्यशास्त्रीय रचना में भी विवरण नहीं मिलता।

(१५) छलितराम—नाटकलक्षणरत्नकोष में उद्धृत इस नाटक का कर्ता अज्ञात है। इस नाटक के कई उद्धरण कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में, धनिक के दशरूपकावलोक में, भोज के शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पणसूत्र में भी मिलते हैं, जिनसे इस नाटक की लोकप्रियता एवं विलक्षणता का पता लगता है। सम्प्रति मन्नारगुडीय राघवाचार्य के संग्रह में विद्यमान 'छलितराम' नाटक की हस्तलिखित प्रति का हमें

ज्ञात है। जिसका उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने कटलागस केटलॉगरम् में क्र० सं० ४११४ पर किया है। यद्यपि इसके लेखक का नाम आज तक अज्ञात ही है।

(१६) जानकीराघव—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोष में इस नाटक के २० से अधिक उद्धरण लिये गये हैं। इस नाटक के विषय में तथा इसके रचयिता के विषय में और अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(१७) तापसवत्सराज—(नाटक) इसके लेखक है मायुराज जिनका 'उदात्तराघव' रचना के प्रसग म परिचय दिया जा चुका है। तापसवत्सराज के छः अक हैं जिनमे उदयन तथा वासवदत्ता के प्रणय की कथावस्तु को लेकर नाटक का निर्माण किया गया है।

(१८) दूताङ्गद—इसका नाममात्र उल्लेख होने से इसे सुभट कवि की रचना नहीं मानी जा सकती। इसका रचयिता अज्ञात है।

(१९) देवदत्तकृति—(?) इसको सभवत रत्नकोशकृताविति के समान ही नाटक के लिये परिवर्तित कर सागरनन्दी द्वारा कारिका रूप मे दिखलाया गया है। परन्तु इस नाम के किसी नाट्यकार का कहीं भी अन्यत्र नाम नहीं मिलता। ग्रन्थकार अज्ञात है।

(२०) देवीचन्द्रगुप्तम्—(नाटकम्) देवीचन्द्रगुप्तम् के लेखक हैं मुद्राराक्षस नाटक के रचयिता विशाखदत्त या विशाखदेव। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है तथा इसमे ध्रुवदेवी तथा चन्द्रगुप्त का आख्यान निबद्ध किया गया है जिसकी पुष्टि बाणभट्ट के हर्षचरित तथा राजशेखर की काव्यमीमांसा के विवरणो से होती है। ऐसा लगता है कि इसके रचनाकार ने दोनो चन्द्रगुप्तो को (अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य), अपने नाटकों के नायक बनाते हुए नाट्य रचनाएँ की थी। इसके अतिरिक्त इनकी 'अभिसारिकवञ्चितक' नामक नाटक अन्य रचना का उल्लेख अभिनवभारती में मिलता है तथा भोज के शृङ्गारप्रकाश मे भी। इस नाटक को वत्सराज उदयन का चरित्र लेकर लिखा गया था। इसके अतिरिक्त विशाखदेव ने सभवत राघवाभ्युदय या राघवानन्द जैसे नाटक की भी रचना की थी, जिसका प्रसिद्ध पद्य 'रामोऽसौ जगतीह विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि पराम्' है तथा जिसको अनेक आलङ्कारिक विद्वानो ने अनेक बार अपनी रचनाओ मे विवेचित किया है। इसकी पुष्टि 'सदुक्तिकर्णामृत' मे उद्धृत इसी पद्य से हो जाती है। सम्प्रति इनकी प्राप्य रचना केवल 'मुद्राराक्षस' है तथा शेष रचनायें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। विशाखदेव का स्थितिकाल भोज तथा सोड्ढल से पूर्ववर्ती होने के आधार पर सातवीं शती का उत्तरार्ध तथा आठवीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।

(२१) देवीमहादेव—(उल्लोप्यक) नाटकलक्षणरत्नकोष के साथ-साथ शारदातनय तथा विश्वनाथ ने भी इसे 'उल्लोप्यक' का उदाहरण लिख दिया है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह रचना भोज से लेकर विश्वनाथ कविराज के समय तक प्राप्य रही होगी।

(२२) नरकवध—(नाटक) सागरनन्दी के द्वारा उद्धृत इस नाटक का भी केवल नाममात्र शेष है। इसके रचयिता आदि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त नहीं है।

(२३) नरकोद्धरण—(डिम) सागरनन्दी के द्वारा उद्धृत इस रूपक का केवल नाममात्र शेष है। 'डिम' के प्रकार होने से इसका प्राचीनकाल में अस्तित्व रहा होगा ऐसी प्रतीति दृढ़ होती है।

(२४) नलविजय—नाटकलक्षणरत्नकोष पृ० ३० पर इस नाटक का उल्लेख किया गया है। यह भी न तो उपलब्ध है और न इसके रचयिता का नाम विदित हो पाया है। अलंकारसंग्रह के अनुसार यह नाटक आठ अङ्कों का था।

(२५) पत्रलेखा—(भाण) नाटकलक्षणरत्नकोश में पत्रलेखा का भाण के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके लेखकादि अज्ञात हैं।

(२६) पद्मावती परिणय—(प्रकरण) नाटकलक्षणरत्नकोष के अतिरिक्त शारदातनय ने भी प्रकरण के पांच विभाग करते हुए इसी रचना को उदाहरण रूप में संकेतित किया है। रचना सम्प्रति अनुपलब्ध है और रचयिता का नाम अज्ञात।

(२७) पुष्पदूषितक—(प्रकरण)—इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इसके उद्धरण कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित, धनिक के दशरूपकावलोक (प्रक० ३।४५) तथा अभिनवभारती (खण्ड २ पृ० ४३२) में उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यदर्पणसूत्र में रामचन्द्रगुणचन्द्र ने तथा विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में इसी प्रकरण का उल्लेख किया है। इस प्रकरण में समुद्रदत्त वणिक् (नायक) तथा नन्दयन्ती (नायिका) का आख्यान है तथा कल्पित कथा में दैवायत्त पक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

(२८) बालचरित—नाटकलक्षणरत्नकोश में इसके ३ उद्धरण सकलित किये गये हैं। इसी के 'उत्साहातिशय वत्स' इत्यादि पद्य को साहित्यदर्पण में विश्वनाथ कविराज ने भी (६।८६) उद्धृत किया है तथा वह भी 'विधान' के उदाहरण में ही। इस नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

(२९) बिन्दुमती—(दुर्मल्लिका) सागरनन्दी तथा अमृतानन्द योगी ने दुर्मल्लिका का यही उदाहरण दिया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(३०) भगवदज्जुक—(प्रहसन) इसके रचयिता महेन्द्रविक्रमवर्मा माने जाते हैं। इसकी गणना प्राचीन नाट्यरचनाओं में है। इसके रचयिता का ई० स० ६१० का एक शिलालेख प्राप्त है जिसमें 'भगवदज्जुक' का उल्लेख है प्राप्त होने के कारण इसका रचनाकाल छठी शती का अन्तिम चरण माना जाता है। इस प्रहसन में एक परिव्राट् तथा एक वेश्या की हास्योत्पादक कथावस्तु ली गयी है। भगवदज्जुक प्राप्य रूपक है।

(३१) भीमविजय—(नाटक ?) सागरनन्दी ने सन्ध्यादि-पञ्चक के उदाहरण इसी से दिये हैं इससे स्पष्ट है कि यह नाटक है जिसकी प्रसिद्धि उस समय रही होगी। सम्प्रति इसके लेखक तथा रचना आदि के विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता।

(३२) मदनमञ्जुला (का)—इसका मदनमञ्जुका नाम से भी सागरनन्दी ने उल्लेख किया है। इसके स्वरूप आदि के विषय में इससे अधिक विवरण नहीं मिलता है।

(३३) मदनिका-कामुक—(रासक) सागरनन्दी ने इसे रासक के उदाहरण में उद्धृत किया है। इसके विषय में अधिक विवरण ज्ञात नहीं।

(३४) मायाकापालिक—(सल्लाप) सागरनन्दी ने सल्लापक के उदाहरण में इस रचना का नाम बतलाया है। कदाचित् यह पूर्ववर्ती परम्परा को उपस्थित प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में भी इसी रचना का उल्लेख किया है। इसके लेखक तथा रचना के विषय में अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(३५) माया-मदालसा—(नाटक) सागरनन्दी ने इस नाटक से अनेक उद्धरण लिये हैं। नाटक के विषय में अन्य तथ्य अज्ञात है तथा नाटक भी नहीं मिलता।

(३६) मारीचवञ्चितक—(नाटक) सागरनन्दी ने निर्वहणसन्धि के उदाहरण प्रसंग में इस नाटक का उदाहरण दिया है। अमृतानन्द योगिन् तथा भावप्रकाशन के विवरण से ज्ञात होता है कि यह पञ्चाङ्क नाटक था। नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है तथा सम्प्रति ग्रन्थ भी अप्राप्य है।

(३७) मेनकानहुष—(त्रोटक) सागरनन्दी ने इसको त्रोटक का उदाहरण बतलाया है। अमृतानन्द योगिन् तथा भावप्रकाशनकार इसे नवाङ्क त्रोटक मानते हैं। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(३८) रम्भानलकूबर—(त्रोटक ?) सागरनन्दी ने इससे एक उद्धरण लिया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई त्रोटक है। इसके विषय में और अधिक ज्ञात नहीं है। रचयिता की शैली प्रसादमयी लगती है।

(३९) राघवाभ्युदय—(नाटक) इस नाटक के सागरनन्दी ने पर्याप्त उद्धरण लिये हैं। पिछले परिचयक्रम से इस नाटक के लेखक विशाखदत्त विदित होते हैं। इनके सुप्रसिद्ध पद्य 'रामोऽसौ जगतीह विक्रमगुणै.' को सदुक्ति-कर्णामृत में विशाखदेव के नाम से उद्धृत किया गया है। सागरनन्दी के उल्लेख से जब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पद्य राघवाभ्युदय नाटक का है तो फिर दोनों उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर इसके रचयिता विशाखदत्त ही ठहरते हैं। सागरनन्दी ने इसके एक अङ्क का नाम तथा दस उद्धरण लिये हैं जिससे इसकी लोकप्रियता स्पष्ट है। भोज ने भी शृङ्गारप्रकाश में 'रामोऽसौ जगतीह' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। कदाचित् लिपिप्रमाद से वहाँ (परि० १८। पृ० ५३६) राघवानन्द नाम हो गया है। या फिर राघवानन्द ही इस नाटक का नाम हो किन्तु एकाधिक बार जब सागरनन्दी ने राघवाभ्युदय नाम निर्देश करते हुए इसका उल्लेख किया है तो फिर इसे राघवाभ्युदय ही मानना निर्भ्रान्त होना चाहिए।

राघवाभ्युदय नामक एक अन्य नाटक रामचन्द्र सूरि ने भी बनाया था जो नाट्यदर्पणसूत्र के लेखक हैं, परन्तु सागरनन्दी के बाद इनका स्थितिकाल होने से इनकी रचना से ही सागरनन्दी ने उद्धरण लिये यह असङ्गत हो जाता है। रामचन्द्र प्रणीत राघवाभ्युदय भी सम्प्रति दुर्लभ है तथा इसका भी उल्लेखमात्र नाट्यदर्पण में ही विद्यमान है।

(४०) राधा—(वीथी) उदाहरण के लिये इसका सागर ने उल्लेख किया है पर आज तक इस ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हुई न ही इसके रचयिता के बारे में कुछ ज्ञात हुआ।

(४१) रामविक्रम—(नाटक) सागरनन्दी ने इससे दो उद्धरण लिये हैं। इसके रचयिता तथा ग्रन्थ के विषय में अन्य बातें अज्ञात हैं।

(४२) रामानन्द—(नाटक) सागरनन्दी ने इस नाटक के उदाहरण दिये हैं। इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज तथा सिंहभूपाल ने भी किया है। इसके रचयिता आदि के विषय में इससे अधिक ज्ञात नहीं है।

(४३) रामाभ्युदय—(नाटक) इसके रचयिता यशोवर्मा थे। यह नाटक श्रीराम के आख्यान को आधार लेकर छः अङ्कों में निर्मित था। कुन्तक,

भोज तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने इसके अवतरण दिये हैं। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त-तिलक' मे तथा वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' मे रामाभ्युदय के उद्धरण देकर इनके रचयिता का नाम यशोवर्मा बतलाया है।

यशोवर्मा कान्यकुब्ज प्रदेश के प्रख्यात शासक थे जिनके दरबार मे भव-भूति जैसे नाट्यकार आश्रय लिये हुए थे। इस कारण यशोवर्मा भी नाटककार रहे होंगे इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। राजतरङ्गिणी के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि यशोवर्मा को काश्मीर के अधिपति ललितादित्य ने युद्ध मे पराजित किया था। अतएव यशोवर्मा का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी माना जाता है। रामाभ्युदय से सागरनन्दी ने उद्धरण लिये हैं। इसी नाटक से बाद मे रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नाट्यदर्पणसूत्र मे, शारदातनय ने भावप्रकाशन मे तथा विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण मे भी अवतरण लिये हैं।

(४४) **रेवतीपरिणय**—सागरनन्दी ने इसका निदर्शन एक बार प्रवेशक के सन्दर्भ मे किया है। इसके विषय मे अन्य विवरण अनुपलब्ध है।

(४५) **ललितनागर**—(भाण) सागरनन्दी के द्वारा 'ललितनागर' का भाण के रूप मे उल्लेख किया गया है। बहुरूपमिश्र ने भी दशरूपक टीका मे इसीका उल्लेख किया है परन्तु इसके लेखक आदि का विवरण अज्ञात है।

(४६) **वकुलवीथी**—(वीथी) सागरनन्दी ने इसको वीथी के उदा-हरण रूप मे प्रस्तुत किया है। इसके रचयिता आदि का नाम ज्ञात नहीं है।

(४७) **वालिवध**—(प्रेक्षणक) सागरनन्दी के अतिरिक्त भावप्रकाशन, अलङ्कारसग्रह तथा साहित्यदर्पण मे भी इस रचना को 'प्रेक्षणक' का उदाहरण बतलाया गया है। इस रचना के विषय मे अधिक विवरण ज्ञात नही है।

(४८) **विलासवती**—(नाट्यरासक) सागरनन्दी के अतिरिक्त शारदा-तनय, अमृतानन्द योगिन् एवं विश्वनाथ कविराज ने भी इसे ही 'नाट्यरासक' का उदाहरण बतलाया है। यह रचना अप्राप्य होने के कारण इसके रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

(४९) **वीणावती**—(भाणी) इस एकाङ्क उपरूपक का सागरनन्दी ने उदाहरण भाणी का दिया है। भावप्रकाशन मे भी इसका उल्लेख भाणी के रूप मे मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके विषय मे अधिक ज्ञात नहीं है।

(५०) **वृत्रोद्धरण**—(डिम) सागरनन्दी ने तथा शारदातनय ने इस रचना को डिम के उदाहरण रूप मे निर्दिष्ट किया है। 'डिम' के विभिन्न प्रकारो मे उद्धृत इस रचना के अप्राप्य होने के कारण अधिक विवरण ज्ञात नहीं है।

(५१) शकानन्द—(समवकार) सागरनन्दी ने इस रचना को 'समवकार' के उदाहरणरूप में रखा है। इसके अतिरिक्त इस रचना का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रचयिता आदि का विवरण भी ग्रन्थ के अप्राप्य होने से नहीं मिल सकता।

(५२) शर्मिष्ठापरिणय—(नाटक ?) सागरनन्दी ने 'प्रवर्तक' के प्रसङ्ग में इससे उद्धरण दिया है। नाटक के रचयिता आदि का विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता।

(५३) शशिकामदत्ता—सागरनन्दी ने प्रवेशक के प्रसङ्ग में (ना० ल० पृ० १२) इसके तृतीयअङ्क का उल्लेख किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी नाटक या प्रकरण का नाम है। इसके विषय में और अधिक विवरण ज्ञात नहीं है।

(५४) शशिविलास—(प्रहसन) इसका नाम सागरनन्दी ने शशिविलास दिया है परन्तु बहुरूपमिश्र ने कदाचित् इसी का शशिकला नाम दिया है। शशिविलास के लेखक आदि के विषय में और अधिक ज्ञात नहीं है।

(५५) शृङ्गारतिलक—(प्रस्थान) सागरनन्दी ने इसका प्रस्थान के उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। इसी प्रकार भावप्रकाशन, अलङ्कारसंग्रह तथा साहित्यदर्पण में भी विवरण मिलता है वहाँ इसे 'प्रस्थान' ही माना है। इसके लेखक आदि के विषय में कुछ भी अधिक ज्ञात नहीं हो पाया।

(५६) सत्यभामा—(गोष्ठी) सागरनन्दी ने ही इस रचना को गोष्ठी के निदर्शन में उद्धृत किया है। अन्य आचार्यों ने गोष्ठी के उदाहरण में रैवतमदनिका का उल्लेख किया है। सम्प्रति यह रचना भी नहीं मिलती।

नाटकलक्षणरत्नकोष का प्रस्तुत संस्करण

नाटकलक्षणरत्नकोश का प्रस्तुत संस्करण श्री एम० डिलन द्वारा सम्पादित संस्करण को आधार बनाकर स्वतन्त्ररूप से पुन सम्पादित कर तैयार किया गया है जिसमें कारिकाओं की संख्या लगाकर धारावाहिक रूप में समग्र ग्रन्थ में क्रमिकता लाई गई है। उदाहरणों तथा उद्धरणों के सभी सन्दर्भ यथासम्भव प्राप्य ग्रन्थों को देखकर सावधानी से दिये गये हैं। नाटकलक्षणरत्नकोष में विषयों के विभागानुसारी कोई पृथक् से अध्याय या परिच्छेद नहीं मिलते हैं तथा न ही इतने छोटे ग्रन्थ में इसकी आवश्यकता ही मूलग्रन्थकार ने समझी होगी। अतएव

श्री डिब्रुन की तरह प्रत्येक अनुच्छेद को पृथक् संख्या देकर ग्रन्थ को प्रस्तुत न करते हुए केवल कारिकाओं की संख्या से ही संकेतों को निर्दशित किया गया है। ऐसा करने से अध्येताजन रत्नकोश में प्रमाणार्थ लिये गये उद्धरणों को कारिकासंख्या दिखलाते हुए सरलता से दिखला सकेंगे तथा छोटे उद्धरणों को पृष्ठसंख्या दिखलाते हुए भी प्रस्तुत कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त विषय को सुबोध बनाने के लिये संक्षिप्त टिप्पणियां भी लगायी गयी हैं, जिनका उपयोग इस ग्रन्थ के अनुशीलनकर्त्ताओं को विषय को विस्तार से देखने, तुलना करने आदि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हो सकेगा। इस प्रकार सपरिश्रम और सप्रयत्न प्रस्तुत यह ग्रन्थ विद्वज्जनों के हाथ मे दिया जा रहा है। इसका 'नीरक्षीरविवेक' भी उन्हीं के द्वारा सम्भव भी है परन्तु आशा और विश्वास यही है कि मेरे इस कार्य से उन्हें अवश्य सन्तोष होगा और यह ग्रन्थ उनके स्नेह को अधिकाधिक प्राप्त कर सकेगा जो मेरे परिश्रम की सफलता भी होगी।

आभार

नाटकलक्षणरत्नकोश का सम्पादन तथा व्याख्यान लेखन जबलपुर विश्वविद्यालय के भाषा शोध संस्थान के मेरे कार्यकाल मे हुआ था जिसमे उस समय के मेरे सभी मित्रगणों ने यथाशक्य सहयोग किया था। मैं उन सभी का इस सहायता के लिये हृदय से आभारी हूँ। इस सन्दर्भ मे श्री डॉ० राजबली पाण्डेय जी (अब स्वर्गीय) का आत्मीयतापूर्ण सौहृद अतिशय उल्लेख्य है तथा श्रद्धेय डॉ०हीरालाल जी जैन अध्यक्ष-संस्कृत, पालि-प्राकृत विभाग का स्नेहपूर्ण परामर्श। मैं इन दोनों विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। नाटकलक्षणरत्नकोश के मुद्रण काल मे सुहृद्वर डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी—(प्राध्यापक-लालबहादुर संस्कृत-विद्यापीठ, देहली) का भी सदा सहयोग रहा जिसके लिये उन्हें धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

अन्त मे चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी के प्रधान व्यवस्थापक गोलोकवासी बाबू कृष्णदास जी गुप्त का भी आभार मानता हूँ जिन्ने प्रसन्नतापूर्वक इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकारा था।

मुझे इस बात को कहते हुए अतिशय विषाद हो रहा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही चौखम्बा-प्रकाशन संस्थान के आधार-स्तम्भ सगे बन्धुद्वय श्री जयकृष्णदासजी गुप्त तथा श्रीकृष्णदासजी गुप्त का कुछ ही दिनों के अन्तर से असमय मे गोलोकवास हो गया। यह घटना मुझे आज तक शल्य सी चुभती रहती है तथा व्यथित भी कर रही है। पर सन्तोष है कि उन्हीं दोनों

बन्धुद्वय के स्मारक स्वरूप 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' के तृतीय पुष्परूप में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

वर्तमान सुयोग्य व्यवस्थापक बन्धुद्वय श्री भाई मोहनदासजी गुप्त एवं श्री बिट्ठलदासजी गुप्त का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मेरी रुग्णावस्था के कारण धैर्यपूर्वक मुद्रणकाल में मेरी ओर से होनेवाले विलम्ब को प्रेमपूर्वक सहते हुए कार्य को आगे बढ़ाया। श्री पण्डित रामचन्द्र जी झा व्याकरणाचार्य का मुद्रण के सुव्यवस्थित सम्पादन में परम सहयोग रहा तथा इसी कारण यह ग्रन्थ इतने व्यवस्थित रूप में प्रकाशित हो सका। मैं अन्त में पुनः उन सभी सहयोगियों तथा मित्रों का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरी कृतियों के अवलोकन एवं अनुशीलन में रुचि दिखलाई।

मन्दसौर,
ई० १९७२

सुधीजन कृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थ-सङ्केत

अभिनवभारती	:	अ० भा०
अलङ्कारसंग्रह		अ० सं०
भावप्रकाशन	:	भा० प्र०
दशरूपक	:	द० रू०
काव्यालङ्कारसूत्र	:	का० सू०
कुन्दमाला	:	कु० मा०
मृच्छकटिक	:	मृ० क०
नाट्यदर्पण	:	ना० द०
नाट्यशास्त्र	:	ना० शा०
नाटकलक्षणरत्नकोश	:	ना० ल० र० को०
रत्नावली	:	रत्ना०
वेणीसंहार	:	वे० सं०
अभिज्ञानशाकुन्तल	:	शाकु०
शृङ्गारप्रकाश	:	शृ० प्र०
साहित्यदर्पण	:	सा० द०



श्रीसागरनन्दिप्रणीतः

नाटकलक्षणरत्नकोशः

सटिप्पण-'प्रभा'-हिन्दीव्याख्योपेतः

मङ्गलाचरणम्—

अगणितगुणौघसिन्धुं नाटकविद्या प्रकाशिता येन ।
तमजमनादिमनन्तं गौरीकान्तं[1] नमस्यामः ॥ १ ॥

व्याख्यातुर्मङ्गलाचरणम्

सिन्दूरपूरारुणकुम्भकुम्भाद् भातु मदान्मूर्ध्नि कलिन्दकन्याम् ।
दधाति यश्चन्द्रधरं विजेतुं गजाननं तं हृदि भावयामः ॥ १ ॥
वन्दे निदानं जगतां हिमाद्रेस्तपसां फलम् ।
संमीलितञ्च शिवयोस्तन्महो ध्वान्तशान्तये ॥ २ ॥

मङ्गलाचरण—अपरिमित गुणों के सागर, अनादि, अनन्त और अजन्मा उन पार्वतीवल्लभ भगवान् शिव को मैं नमस्कार करता हूं जिनने नाट्यविद्या को [संसार में] प्रकट किया ।

---

१ गौरीकान्तम् = पार्वतीवल्लभ भगवान् शिव । ग्रन्थारम्भ में प्रार्थना के साथ भगवान् शिव की वन्दना के द्वारा उनका नाट्यविद्या के मूलभूत देवता तथा नृत्य के उत्पादक देवता होना सूचित किया है, क्योंकि नृत्य के ताण्डव और लास्य के विभेदों का क्रमशः शिव और पार्वती के द्वारा सृजन किया गया था । (द्रष्टव्य—कालिदास—'रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा' । मालवि० अङ्क १।४) । नाट्यशास्त्र के प्रथम उपदेष्टा तथा नृत्यों के प्रवर्तक भगवान् शिव ही थे । प्राचीनकाल में सदाशिव भरत प्रणीत प्राचीन नाट्यशास्त्र बृहद्रूप में उपलब्ध था जिसके उद्धरण नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तकृत व्याख्या (Vol-I पृष्ठ ९) तथा भावप्रकाशन में प्राप्त होते हैं (भा० प्र० पृ० १५८) । शिवजी के द्वारा निर्मित हुए प्राचीन ग्रन्थ को सदाशिवभरत प्रणीत नाट्यशास्त्र भी माना जाता था ।

काव्यप्रशंसा—

> कवीनां गुणवत्काव्यं कल्पपर्यन्तवर्तिनीम् ।
> कीर्तिं स्वर्गफलप्राप्तिहेतुभूतां प्रसूयते ॥ २ ॥

काव्यप्रशंसा—सत्कवियों की गुणशालिनी रचना कल्पान्त तक विद्यमान रहती है तथा ऐसी रचनाएँ स्वर्ग की प्राप्ति में निमित्त बनने वाली कीर्ति की भी सर्जना करती है।

तद्गुणनिर्णये शास्त्रं प्रमाणमतो नाटकलक्षणं दशरूपकमुनिप्रणीत-समन्यमुनिनाम्यैः सलक्षित सोदाहरणञ्च वक्ष्यामः ।

कवियों की रचना की गुणशालिता का निर्णय करने में शास्त्र ही मानदण्ड होता है, इसलिए नाटक तथा अन्य (इसों) रूपकों के लक्षणों को मुनि भरतमुनि तथा अन्य आचार्यों के द्वारा अभिहित लक्षणों के साथ उदाहरण देते हुए (प्रस्तुत ग्रन्थ में) बतलाया जा रहा है।

काव्यप्रभेदाः —

तत्काव्यं द्विधा विदधति सुधियः श्रव्यमभिनेयञ्च । श्रव्यं—मुक्तक-कुलक-कोश-सर्गबद्धादिबद्धम् । अभिनेयं नाटक, प्रकरण, प्रहसनम्, अङ्क, व्यायोग, भाण समवकार, वीथी, डिम ईहामृगश्चेति दशैतानि रूपकाणि । अन्यान्यपि नाटकालङ्कारार्थं वक्ष्यन्ते ।

काव्य के प्रकार—विद्वज्जन काव्य का दो प्रकारों में विभाजन करते हैं—(एक) दृश्य तथा (दूसरा) श्रव्य। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत मुक्तक, कुलक, कोश तथा सर्गबद्ध काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि)

---

1 यहाँ 'मुनि' शब्द से केवल नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि का ही अभिहित नहीं किया गया किन्तु भरत के पूर्ववर्ती प्राचीन तथा उत्तरकालीन आचार्यों के लिये भी 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। मुनि का अर्थ हमने 'नाट्यशास्त्र पर रचना करने वाले आचार्य' किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की यही विशेषता भी है कि इसमें अनेक शास्त्रीय पहलुओं पर विभिन्न आचार्यों के तुलनात्मक पद्धति से मन्तव्य दिये गये हैं। नाट्यशास्त्र की कुछ ऐतिहासिक रचनाओं तथा मातृगुप्त, हर्ष, विक्रम आदि के मतों के इसी ग्रन्थ में विशद उल्लेख प्राप्य हैं।

रचनाएँ आती हैं। दृश्य (अभिनेय) काव्य के अन्तर्गत रूपकों के दस विभेद आते हैं। जैसे:—नाटक, प्रकरण, प्रहसन, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, डिम तथा ईहामृग

नाटकस्वरूपम्—

तत्र रूपकेषूत्कृष्टत्वाद्बहुगुणाकीर्णत्वाच्च सर्ववृत्तिनिष्पन्नस्य नाटकस्यैव स्वरूपनिरूपणमभिधीयते। यथाह भगवान् पितामहः—

नाट्य (नाटक) स्वरूप—सर्वप्रथम हम यहाँ नाटक का लक्षण बतला रहे हैं क्योंकि यह सभी रूपकों में सर्वोत्कृष्ट होता है सभी गुणों से समन्वित और सभी वृत्तियों[1] से निर्मित किया जाता है। जैसा कि भगवान् पितामह (ब्रह्मा[2]) ने कहा है—

धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत्।
अनुसेवध्वमृषयस्तस्योत्थानन्तु नाटकम्॥ ३॥
ऋग्भ्यः पाठ्यमभूद्गीतं सामभ्यः समपद्यत।
यजुर्भ्योऽभिनया जाता रसाश्चाथर्वणः स्मृताः॥ ४॥

हे ऋषिगण! धर्मादि पुरुषार्थ (चतुष्टय) के साधनभूत और सभी (लौकिक) दुःखों के अपहर्ता 'नाट्य' का आप सेवन कीजिये। इस नाट्य का मुख्य या उत्कृष्ट रूप 'नाटक' माना गया है।

इस (नाट्य) का निर्माण ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत,

१. वृत्तियों के लक्षण (इसी ग्रन्थ में) आगे बतलाए गए हैं।

२. सदाशिव के समान पितामह (ब्रह्मा) भी नाट्यशास्त्र के आदिम आचार्यों में थे पितामह से भी भरतमुनि ने नाट्यवेद का ज्ञान प्राप्त कर नाट्यशास्त्र की रचना की थी। नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में यह कथा विस्तार से दी हुई है। 'धर्मादिसाधनम्' इत्यादि कारिका भावप्रकाशन में भी थोड़े पाठान्तर के साथ पितामह ब्रह्मा के नाम से उद्धृत मिलती है (द्रष्टव्य भा० प्र० पृ० २३८ G O S Baroda) पितामह ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ प्राचीन था तथा इसे 'ब्रह्मभरत' प्रणीत नाट्यशास्त्र भी कहते थे। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में ब्रह्मभरत का उल्लेख किया है परन्तु सम्प्रति ब्रह्मभरत का कोई पृथक् ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। (इस विषय में नाट्यशास्त्र के १।१ तथा ६।७९ पर अभिनवभारती द्रष्टव्य है।)

यजुर्वेद से आङ्गिक अभिनयों को तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर किया गया है।

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगो वा नाटके यन्न दृश्यते ॥ ५ ॥

ऐसी कोई विद्या विज्ञान (शिल्प) ज्ञान, कला एवं मिश्रयोग या कर्म नहीं है जिसे नाट्य में देखा न जा सकता हो।[1]

महारसं महाभोग्यमुदारवचनान्वितम्।
महापुरुषसञ्चारं सालङ्कारन्तु नाटकम् ॥ ६ ॥

नाटक में उत्तम या पूर्ण रस (महारस) रहता है, इसमें मनोरंजन की अपरिमित क्षमता होती है, इसकी भाषा गंभीर होती है, (इसमें) उदात्त पात्रों के कार्य (चरित्र) रहते हैं और (काव्य या नाट्य में) अलंकारों का समुचित सन्निवेश रहता है।[2]

अन्येऽपि—

अपि शक्येत विद्वद्भिर्मुक्तिरभ्यासगोचरात्।
न तु नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरञ्जनी ॥ ७ ॥

अन्य आचार्यों का कथन है कि विद्वज्जन या ज्ञानी पुरुष अपने अभ्यास तथा ज्ञान के बल पर चाहे मुक्ति की उपलब्धि सरलता से कर लें परन्तु समस्त भूमण्डल की अनुरंजनी नाट्यविद्या की (उपलब्धि या) पूर्णता की प्राप्ति कठिन है।

तत् किमिदं नाटकं नाम?

उच्यते—देवादीनां पूर्ववृत्तानुचरितम्। यदाह भरताचार्यः।

प्रश्न—अच्छा तो फिर इस नाटक का स्वरूप बतलाइए?

उत्तर—देवताओं आदि के द्वारा विहित कार्यों या अतीत की घटनाओं का अनुकरण या प्रदर्शन 'नाटक' कहलाता है। जैसा कि भरतमुनि ने कहा है—

क. पुष्पनाटक १. [illegible]

रचनाओं तथा ना० शा० १।१७ भा० प्रका० (G O S) पृ० २२२ किंचित् उद्धृत प्राप्य है। तथा १।११० पर अभिनवभारती भी द्रष्टव्य।

देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ॥ ८ ॥

देवताओं, मानवों, राजाओं तथा लोकोत्तर पुरुषों के अतीत में किए हुए सत्कार्यों का अनुकरणात्मक प्रदर्शन 'नाटक' कहलाता है।

प्रख्यातवस्तु विषयं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
राजर्षिवंशचरितं तथा दिव्याश्रयोत्थितम् ॥ ९ ॥
नानाविभूतिसंयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैर्युक्तम् ।
अङ्क-प्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥१०॥
(ना० शा० १८।१०–१६)

जिसकी कथावस्तु प्रख्यात[1] हो, नायक प्रसिद्ध और उदात्त (धीरोदात्त) हो, राजाओं की जीवनी हो, दिव्य पात्रों या घटनाओं के सहारे जिसमें नायक का उत्थान बतलाया जाता हो, जिसमें विभूति, समृद्धि, विलास आदि गुणों का समावेश हो तथा जो अङ्क और प्रवेशक से युक्त हो तो उसे 'नाटक' समझना चाहिए।

तथा पुनरप्याह—

नृपतीनां यच्चरितं नाना–रसभावचेष्टितैर्बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं विज्ञेयं नाटकं नाम । ॥ ११ ॥
इति । (ना० शा० १८।१२)

आचार्य भरतमुनि ने (इसके अतिरिक्त) और भी कहा है—जिसमें सुख-दुःख तथा अनेक रस-भावों से अभिव्यक्त होने वाला राजाओं का चरित्र प्रदर्शित किया जाता हो तो उसे 'नाटक' समझना चाहिए।

तत्र प्रख्यातवस्तुविषयमिति राजर्षिवंशजातानां राज्ञां प्रसिद्ध-

---

1. कथावस्तु के तीन प्रकारों में प्रख्यात कथावस्तु का आधार पुराण या इतिहास होता है। प्रख्यात कथावस्तु के अन्तर्गत किसी राजा को ही नाटक का नायक बनाने का अभिप्राय है धार्मिक तथा नीति आदि से परिचालित जीवन के व्यवस्थित पक्ष का प्रदर्शन करना। इसके पीछे नाटक द्वारा नैतिकता के प्रतिपादन का उद्देश्य परिलक्षित होता है जो नाटक की चरमपरिणति तथा पूर्ण विकास की दशा के पश्चात् अपेक्षित हो गया था।

माख्यानं वस्तु यत् खलु लोकानामनुरञ्जनकर्म । यथा-रामस्य पितुराज्ञा-नुष्ठानादिदुष्करक्रियाऽध्यवसाय प्रियापहारमन्युप्रतिकरणोचितरावण-वधविक्रमानुष्ठानधर्म, तथा जीमूतवाहनादीनां शरीरदानादिदुष्करक्रि-याऽऽचरणम्, एवम्भूतमाख्यानं वस्तु विषयो यस्य ।

राजर्षिवंशचरितमिति-सोमसूर्यवंशजातानां चरितम् । दिव्याश्रयो-त्थितमिति-दिव्यानां महेश्वरजीमूतवाहनादीनां चरितम् । मुख्यतु लोत्पत्ति-कृतम्—तदेतद्रामयुधिष्ठिरवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तमेव ।

प्रख्यात (कथा)वस्तु[1] का आशय है कि इसमें किसी प्रसिद्ध राजवंश में जन्म लेने वाले राजा की कथा रचना चाहिए, क्योंकि नाटक का मुख्य कार्य होता है प्रजाजन का अतिशय मनोरंजन करना। जैसे : श्रीराम का अपने पूज्य पिता की आज्ञा पालन करने के लिए कठिन व्रत या कष्टपूर्ण जीवन को स्वीकार करना और अपनी भार्या के अपहरण करने पर क्रोध से अपने शत्रु रावण के वध के लिए पराक्रम-पूर्वक ऐसा कार्य करना जो कि धर्म या कर्तव्यपालन है। इसी प्रकार जीमूतवाहन[2] आदि उदात्त नायकों का अपने शरीर तक को परोपकारार्थ अर्पण कर देना आदि लोकोत्तर कार्यों का आचरण करना। अतएव इसी प्रकार के प्रेरक या लोकोत्तर कार्यों से पूर्ण आख्यान जिसकी कथावस्तु बने वे ही 'नाटक' हो सकते हैं। नाटक में राजाओं की जीवनी रचने का आशय है कि नाटक की कथावस्तु चन्द्र या सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले प्रसिद्ध राजाओं की जीवनी हो। दिव्य पात्रों के सहारे उत्थान का आशय है कि (नाटक में) भगवान् शिव[3] या जीमूतवाहन जैसे नायकों का चरित्र रचना चाहिए।

---

१. 'वस्तु' का दूसरा पर्याय इतिवृत्त है। भरत ने 'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरम्' (अध्याय २१।१) में कथावस्तु को इतिवृत्त भी कहा है। यही नाट-कीयकथा भी कहलाता है। आजकल इन दोनों शब्दों को मिलाकर कथावस्तु (Plot) शब्द गढ़ लिया गया है जो बहुप्रचलित है।

२. जीमूतवाहन-नागानन्द नाटक के नायक (विद्याधर चक्रवर्ती) का नाम।

३. 'त्रिपुरदाह' नामक डिम में शिवजी नायक थे। इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र में (४।१०) मिलता है तथा इसमें त्रिपुरदाह के प्रदर्शन का उद्धरण भी दिया गया है जो संभवतः प्राचीन तथा प्रथम नाट्यरचना थी।

सुख और दुःख से मिश्रित या उत्पन्न होने वाले चरित्रों का श्रीराम तथा युधिष्ठिर के जीवन में घटित कार्य या घटनाओं से स्वतः स्पष्टीकरण हो जाता है।

वस्तुस्वरूपं तद्भेदाश्च—

तस्यैवंविधस्य नाटकस्येतिवृत्तं भवति उपात्तं प्रतिसंस्कृतञ्च। उपात्तं पुराणसिद्धं रामादिवृत्तान्तं। प्रतिसंस्कृतं यद् उपात्तं केवलं कविना 'किञ्चिदुत्पाद्य वस्त्विति' मुनिवचनात् प्रपञ्चितम्। यथा—नागानन्दे गौरीगृहाद्यङ्कत्रयं वर्तमानमपि नृपतेर्महाभूतस्य कविबुद्धिप्रकर्षादासादितबीजबिन्द्वादिकं यदि भवति भवत्येव (तत्) नाटकविषयम्।

कथावस्तु तथा उसके विभेद—(इस प्रकार के) 'नाटक' की कथावस्तु या तो *उपात्त*[1] होती है या *प्रतिसंस्कृत*। उपात्त कथावस्तु वह है जो पुराणों में प्रसिद्ध (घटनाएं) हों; जैसे श्रीराम आदि के चरित्र। *प्रतिसंस्कृत कथावस्तु* वह है जिसे परम्परा से केवल कवि गण गृहीत करते रहे हों। मुनि[2] ने कहा है कि प्रतिसंस्कृत-कथा में उत्पाद्य या कल्पनाप्रसूत कथाओं को रखा जा सकता है। हमने मुनि का यही मत यहाँ दर्शाया है। जैसे *नागानन्द* नाटक में गौरीगृह से आरम्भ होने वाले तीनों अङ्क। यदि किसी वर्तमान महासत्त्व नृपति की जीवनी में भी कविकौशल से बीज, बिन्दु आदि नाट्याङ्गों को पूर्ण व्यवस्थित रूप में निविष्ट करते हुए रखा जाए तो ये भी किसी नाटक की कथावस्तु बन सकते हैं।

---

1. प्रख्यात इतिवृत्त या वस्तु के उपात्त तथा प्रतिसंस्कृत उपभेद ही मानना चाहिए। इस प्रकार महाकाव्य, पुराण (तथा इतिहास) से ली गयी कथा का नाटकीय प्रस्तुतीकरण 'उपात्त' तथा मूल कथा में कल्पित घटनाओं का संयोजन या परिवर्तित रूप में मूलकथा का प्रस्तुतीकरण 'प्रतिसंस्कृत' समझना चाहिए।

२ यह मत 'मातृगुप्त' का है। शारदातनय ने इस मत को अपने ग्रन्थ में भी निर्दिष्ट किया है। (द्रष्टव्य-भावप्र० पृ० २३४)।

अथावस्था —

तस्येतिवृत्तस्य पञ्चावस्था भवन्ति ।

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारकस्य[1] यः ।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥ १२ ॥
यथारम्भः प्रयत्नश्च प्राप्तिसम्भव एव वा ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ १३ ॥ इति

(ना० शा० २१।७–८)

अवस्थाएँ—इस कथावस्तु या इतिवृत्त की (अगभूत) पाँच 'अवस्थाएँ' होती हैं।

फलप्राप्ति के लिए उसके कर्त्ता या नायक का जो कार्य होता है उसकी क्रमशः पाँच अवस्थाएँ प्रयोक्ताजन जानें। ये हैं (१) आरम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्तिसम्भव, (४) नियतफलप्राप्ति तथा (५) फलयोग।

आरम्भ —

तत्र बीजस्यौत्सुक्यमात्रबन्ध आरम्भः । यथा कोशलाङ्के—

गुरोराज्ञा यत्र प्रभवति नितान्त न निवृति
मुदे ज्ञातिप्रीतिर्भवति न पुन कार्यपरता ।
न नन्दन्त्युद्वृत्ता प्रियमुपगता यत्र सुहृदो
गुणा हीद्या यत्र प्रकृतिचपला नार्थविषयाः ॥

तद्विधातुमयमारम्भ ।

आरम्भ—इनमे 'आरम्भ' अवस्था उसे कहते हैं जिसमे उद्देश्य पूर्ति के लिए इच्छा या कौतूहल का बीजरूप से प्रदर्शन होता हो। जैसे *कोशलाङ्क* मे—

जहाँ पिता [जी का आदेश पालन ही मुख्यतः किया जाता है, पराभव नहीं, जहाँ अपने परिवार के प्रति प्रीति ही आनन्द माना जाता है, अपने कार्यों मे तत्पर रहना नहीं, प्रियवस्तु को पाकर जहाँ मित्रगण ही प्रसन्न होते हैं, उद्दण्ड स्वेच्छाचारी जन नहीं और जहाँ स्वभावतः

१ साधकस्येति च पाठः नाट्यशास्त्रे ।

अस्थिर या परिवर्तनशील गुण ही अभीष्ट होते हैं सांसारिकपदार्थों की ओर मुड़ना नहीं।

इन्हीं सब कार्यों को करने के लिये 'आरम्भ' नामक (यह) अवस्था रखी गयी है।

प्रयत्न —

प्रयत्न इति। फलयोगमपश्यत एव तत्र व्यापारः प्रयत्नः। यथा कुलपत्यङ्के–'जात मे परोक्षेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनमिति'।

प्रयत्न—फलप्राप्ति की परवाह किये बिना उसके लिए किया जाने वाला (सतत) कार्य *'प्रयत्न'* कहलाता है। जैसे *कुलपत्यङ्क*[1] में—'मेरे लिये चन्दन का लेपन' राख मलने जैसा कष्टदायी हो गया है, इत्यादि कथन।

प्राप्तिसंभव

प्राप्तिसम्भव इति। भावमात्रेण फलस्य या प्राप्तिः सा प्राप्तिसम्भवः। यथा सुग्रीवाङ्के—

स्वाङ्गपिङ्गप्रभाभिः प्लुतकनकगिरिभ्रान्तिमुत्पादयन्तो
वक्त्रैर्लाक्षारसाभैः सपदि विदधतानेकसूर्यामिव द्याम्।
येल्लाङ्गूलहेलाचलितकृतगिरिव्यस्तवन्या धरित्री
कुर्वाणाः सम्पतन्तु क्षय इव मरुतो वानरा राक्षसेषु॥

प्राप्तिसम्भव—जब किसी फल की केवल विचार मात्र से उपलब्धि हो तो उसे *'प्राप्तिसम्भव'* समझना चाहिए। उदाहरणार्थ *सुग्रीवाङ्क*[2] में—"अपने शरीरों की पीली चमक से उड़ते हुए सोने के पर्वतों का भ्रम पैदा करने वाले, लाख के समान अपने लाल मुखों से उदय होने वाले अनेक सूर्यों से युक्त आकाश को बना देने वाले और पूंछ की फटकारों से पृथ्वी के अनेक पर्वतों की जड़ों को ढीला कर देने वाले (ये) वानर राक्षसों का नाश करने के लिए वात्याचक्र के समान टूट पड़ेंगे।"

---

१. मायुराज या मातृराज विरचित 'उदात्तराघव' नाटक के द्वितीयअङ्क का नाम।

२. सुग्रीवाङ्क = उदात्तराघव के चतुर्थाङ्क का नाम।

यहाँ सीता की स्थिति मात्र के अवगत हो जाने पर राक्षसों के नाश का विचार करने से (इसे) 'प्राप्तिसम्भव' समझना चाहिए।

नियताप्ति —

नियताप्ति नियता निश्चिता फलप्राप्तिरवस्थितेनेति यावत्। यथा वेणीसंहारे—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्न-कलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
रामे शातकुठार-भासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः॥

(वे० सं० ६।१२)

नियतफलप्राप्ति—जहाँ निश्चित [नियत] रूप से फल की प्राप्ति हो जाए उसे '*नियतफलप्राप्ति*' समझना चाहिए। जैसे वेणीसंहार में— "अपने राज्याभिषेक के लिए रत्न के कलशों में जल भर दिया जाए। कई दिनों से छूटे हुए अपने केशों को बांध कर द्रौपदी उत्सव मनाए। क्षत्रियरूपी वृक्ष को उखाड़ने और तीक्ष्णधार वाले परशु को धारण करने से चमचमाते हाथों वाले भगवान् परशुराम और क्रोध के कारण मदमस्त हो जाने वाले भीमसेन के युद्ध में उतरजाने पर फिर (इनकी) सफलता में भला किसे सन्देह हो सकता है!"

अथवा अरातेरपचयपरम्परा नियता च फलप्राप्तिरिति अश्मकुट्टः। यथा जानकीराघवे षष्ठाङ्के लक्ष्मणः —

दूरोत्क्रान्तकुम्भकर्णविटपी छिन्नश्चयाः शक्रजित्
स्थाणुः क्ष्माङ्गमितो निकुम्भगहनः कुम्भः स चोन्मीलितः।
पौलस्त्यं ज्वरद्रुमस्थितमनीकानामदुर्गेऽस्ति ते
धन्वेयं व्यसनाटवीं किमशुनाप्यार्यो यदुत्तास्यति॥

अश्मकुट्ट आचार्य का कहना है कि जब शत्रु की निरन्तर पराजय होती जाए तो उसे '*नियतफलप्राप्ति*' समझना चाहिए। जैसे जानकीराघव के छठे अङ्क में :—

लक्ष्मण—आपने दूर तक फैले हुए उस उन्नत कुम्भकर्ण रूपी वृक्ष को काट दिया, इन्द्रजीत रूपी ठूंठ का पृथ्वी पर लुढ़का दिया और उस (कुम्भ ?) की घनी फैली हुई झाड़ियों को उखाड़ डाला है। अब अकेला सेनाहीन रावण रूपी पुराना वृक्ष सरलता से उखाडा जा सकता है जो बिना किलाबन्दी के अपने स्थान पर जम कर डटा हुआ है। हे आर्य! इस प्रकार दुर्भाग्य रूपी सम्पूर्ण वन उखाड़ा जा चुका है, अब आप क्यों अपने मन को अधीर कर रहे हैं ?

फलयोग —

अभिप्रेतमनुरूपं क्रियाफलं यत्र निष्फलं स **फलयोगः**। यथा जानकीराघवे प्रथमाङ्के—

सीता—(सभयम्) अइ रामभद्द, परित्तायेहि। हरदि मं रक्खसाहमो (अयि रामभद्र परित्रायस्व। हरति मां राक्षसाधमः)

प्रियंवदा—हला मा भायादि। जइ असौ तुम हरिस्सेदि ता वाणरचअपरिवुत्तो समुद्दकंतारं विलघिअ रामभद्दो एदं रक्खसाहमं वावादइस्सदि तुमं अ पच्चाहरइस्सदित्ति तक्केमि। (हला मा भैषी। यद्यसौ त्वा हरिष्यति तदा वानरचयपरिवृतस्समुद्रकान्तारं विलङ्घ्य रामभद्रः एनं राक्षसाधमं व्यापादयिष्यति त्वाञ्च प्रत्याहरिष्यतीति तर्कयामि।)

फलयोग—जब किसी के अनुकूल कार्य या परिणाम व्यर्थ हो जाए तो उसे 'फलयोग' समझना चाहिए। जैसे जानकीराघव के प्रथमाङ्क में—

सीता—(डरते हुए) हाय! राम, मेरी रक्षा कीजिये। यह नीच राक्षस मुझे हर ले जा रहा है।

प्रियंवदा—सखि, क्यों डरती हो, यदि वह तुम्हें हर लेगा तो रामभद्र वानरों की सेना लेकर, वन और समुद्र को लाघ कर उस नीच राक्षस को मार डालेंगे और तुम्हें वापस लौटा लाएँगे। मैं तो यही सोच रही हूं।

इति मुखसन्धावुदीर्णं यद्रावणव्यापादनं सीताप्रत्याहरणञ्च तन्निर्वहणसन्धौ 'लङ्काधीशप्रभृति रिपवो घातितास्ते च साध्वी लब्धा सीते'-

त्यादिना द्वयमपि साधितम् । इति पूर्वोक्तस्याविरोधेन रावणस्य यो वधः सीतायाश्च प्रत्याहरणं स फलयोगः प्रतिपत्तव्य इति ।

इस प्रकार मुखसन्धि में बतलाए हुए—रावण का वध और सीता का लौटा लाना—इन दोनों कार्यों की निर्वहणसन्धि में 'लङ्का के स्वामी रावण आदि शत्रुओं को मार डाला गया है और पतिव्रता सीता को प्राप्त कर लिया गया है' (इत्यादि) वचनों के द्वारा सिद्धि की गयी। इसे ही पिछली बार कहे गए कथन के अनुकूल कार्य सम्पादन करने के कारण (अर्थात् रावण का वध और सीता का लौटाना इन दोनों कार्यों को) 'फलयोग' समझना चाहिए।

एताश्च पञ्चावस्था सङ्क्षेपतो मातृगुप्तेन कथ्यन्ते—

> आरम्भो रावणवधे खरप्रभृतिविग्रहः ।
> प्रयत्नः शूर्पणखया कृतः सीतापहारतः ॥ १४ ॥
> सुग्रीवस्य च सख्येन सञ्जातः प्राप्तिसम्भवः ।
> नियता फल-सम्प्राप्तिः कुम्भकर्णादिसङ्क्षये ॥ १५ ॥
> यो देवे राक्षसपतेः कार्यो दुष्टमतेर्वधः ।
> फलयोगः स रामस्य धर्मकार्यार्थसिद्धये ॥ १६ ॥
>
> एतच्च राघवाभ्युदये सुव्यक्तमेव ।

मातृगुप्ताचार्य ने इन्हीं पाँचो अवस्थाओं को संक्षेप में इस प्रकार बताया है —

रावण वध के लिये पूर्व में खरदूषण आदि राक्षसों का वध करना 'आरम्भ' शूर्पणखा के द्वारा किया हुआ सीता हरण तक का कार्य 'प्रयत्न', श्रीराम की सुग्रीव के साथ मैत्री करना 'प्राप्तिसम्भव', कुम्भकर्ण आदि राक्षसों का नाश हो जाना 'नियतफलप्राप्ति' तथा अन्त में श्रीराम द्वारा दुरात्मा रावण के किये जाने वाले वध को ही श्रीराम को धर्म, अर्थ तथा काम का साधक होने के कारण 'फलयोग' समझना चाहिए।

ये सभी अवस्थाएँ राघवाभ्युदय में स्पष्टतः उपलब्ध हैं।

तन्नाटकं मिश्रं कर्तव्यम् । उत्तमाधममध्यमपात्राणां भाषाभिर्मिश्रं कर्तव्यम् । भाषाश्च—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
वाह्लीकी दाक्षिणात्या च सप्तैताः परिकीर्तिताः ॥ १७ ॥

नाटक की रचना भिन्नभाषाओं में की जाती है अर्थात् इसमें उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों की भाषाओं का मिश्रण रहता है। ये भाषाएँ सात (मानी जाती) हैं। यथा—मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीकी और दाक्षिणात्या।

तद्विभागोऽन्यत्र दर्शयितव्य, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न दर्शित। मृदुशब्दाभिधानञ्च कर्तव्यमिति-मृदु सुकुमार शब्दोऽत्र विधातव्य.। अभिधानमपि प्रसिद्धं सुबोधत्वान्मृदु कर्त्तव्यम्, न तु मा स्पृशेति वक्तव्ये लक्षणाधीनतया मा स्प्राक्षीरिति वक्तव्यम्, चन्द्रमुखीति वक्तव्ये धवलमुखीति न वक्तव्यमित्यर्थः।

इन भाषाओं का विभाग अन्य ग्रन्थों में दिखलाया गया है, हम उसे यहाँ विस्तार भय के कारण यहाँ नहीं दिखलाना चाहते हैं।

नाटक में कोमल शब्दों (तथा अभिव्यञ्जनाओं) का प्रयोग रहना चाहिए अर्थात् सुकुमार शब्दरचना नाटक में रखी जाए। ये शब्द ऐसे हों कि उनका अर्थ प्रसिद्ध, सहज और शीघ्र अवगत हो जाए और उसमें कोमलभाव भी हों। जैसे 'मा स्पृश' के स्थान पर व्याकरण आदि शास्त्रों के आग्रह पर 'मा स्प्राक्षी' का प्रयोग नहीं करना चाहिए या 'चन्द्रमुखी' के स्थान पर धवलमुखी पद का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।

नाटकादीन्येतानि भारतवर्षमधिकृत्य कर्तव्यानि। तत्रैव सुखदु.ख-योस्सम्भव। अन्यत्र सुखमेव न दु खमस्ति। अत एवाचार्यः—

इन नाटक आदि (रूपक के प्रकारों में) भारतवर्ष में घटित घटनाओं की ही रचना चाहिए क्योंकि मानव जीवन में सुख-दु.ख की (व्यवस्थित) प्राप्ति यहीं होती है। अन्यत्र (या दूसरे वर्षों में) केवल सुख ही रहता है दुःख नहीं। दूसरे वर्षों में जो पर्वत (उपवन) आदि हैं उनमें केवल विहारजन्य आनन्द ही उपलब्ध होता है और इसीलिये वहाँ दुःख का मिश्रण नहीं हो पाता। इसी को आचार्य (भरतमुनि) ने बतलाया है। यथा :—

तद्भारतेऽत्र वर्षे कर्तव्यं काव्यबन्धेषु।
तस्माद्भारतमिष्टं वर्षेष्वेतेषु विदितेषु ॥ १८ ॥

उपवनगमनक्रीडाविहारनारीरतप्रमोदाः स्युः ।
तेषु हि वर्षेषु सदा न तत्र दुःखं न वा शोकः ॥ १९ ॥
ये तेषामपि वासाः पुराणवादेषु पर्वताः कथिताः ।
सम्भोगस्तेषु भवेत्कर्मारम्भस्तथा ह्यस्मिन्निति ॥ २० ॥
शेष सुबोध एव । (ना० शा० १८।९७–१००)

नाटक आदि मे रहने वाली सारी घटनाऐं भारतवर्ष में घटित होने वाली रहनी चाहिए। इसीलिये इन सारे ज्ञात या प्रसिद्ध स्थानों मे नाटकीय घटनाओं का लक्ष्यभूत प्रदेश भारतवर्ष ही माना जाता है। क्योंकि दूसरे वर्षों या लोकों मे सदा उपवनविहार, आमोद-प्रमोद, क्रीडा, विलास, स्त्री-क्रीडाऐं आदि होते रहते हैं इसीलिए वहाँ कभी शोक या दुःख नहीं रहते। पुराणों मे जिन दिव्य लोक या पर्वतों का वर्णन किया गया है वहाँ (दिव्य या अन्य प्रकारों वाले) पात्रों का विहार, आमोद प्रमोद हो सकता है किन्तु कार्यों का क्षेत्र भूमण्डल या भारतभूमि[1] ही रखना उचित होता है।

शेष बातें स्पष्ट है।

अथार्थ—प्रकृतय —

अस्य च नाटकस्य पञ्चार्थप्रकृतयो भवन्ति। नाटकीयवस्तुन पूर्वोक्तस्य पञ्च प्रकृतय स्वभावा भवन्ति। नैतान्परित्यज्य नाटकार्था· सम्भवन्ति। तद्यथाचार्य —

अर्थप्रकृति—नाटकीय कथावस्तु मे पाँच 'अर्थप्रकृति' होती हैं। अर्थात् पहिले जिस कथावस्तु को बतलाया जा चुका है उसकी ये

---

1 यहाँ सामान्यत पृथ्वी के तथा विशेषत भारतीय वायुमण्डल के अनुकूल मानवों के जीवन पर आश्रित रूपकों का ही निर्माण करने पर बल देने का आशय है—पात्रों के जीवन तथा कार्यों से मानवी भावना की समानता रहना, क्योंकि सहज भावों के अनुकूल पात्रों के जीवन या कार्य न रहें तो रस-प्रतीति में बाधा उपस्थित होगी। इसी कारण सभी रूपकों का कार्यक्षेत्र भूमण्डल पर सामान्यत तथा भारतवर्ष पर विशेषत घटित घटनाएँ ही रखा जाता रहा है, क्योंकि रस सञ्चार के अतिरिक्त नाट्यप्रदर्शन का दूसरा कोई कार्य मुख्य नहीं होता है (नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते। भर० नाट्य०)।

पाँचों अर्थप्रकृतियाँ स्वभाव मानी जाती हैं और इन्हें छोड़ कर नाटकीय कथावस्तु का कोई स्वरूप या उद्देश्य नहीं होता। जैसा कि आचार्य (भरत) ने भी कहा है —

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि।
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ २१ ॥
(ना० शा० २१।२०)

कथावस्तु की स्वभावस्वरूपा इन पाँच अर्थ प्रकृतियों को अवश्य जानना चाहिए और इनका नाटकीय सविधान में यथोचित सयोजन (भी) करना चाहिए। ये अवस्थाएँ हैं : (१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी तथा (५) कार्य।

तत्रबीजम्—

बीजं नाटकार्थस्य फलभूतस्य कारणम्। तद् यथा—
किञ्चिन्मात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
यावत्फलावसानञ्च तद्बीजमिति कीर्तितम् ॥ २२ ॥

किञ्चित्स्तोकं श्लेषच्छायोपक्षेपप्रभृतिभिरङ्गैस्समुद्दिष्टं कथितम्। बहुधा विसर्पति फलावसानं यावत्तद्बीजमित्यर्थः।

बीज—नाटक के प्रमुख फल या लक्ष्य का मूलभूत कारण 'बीज' कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—'रूपक के आरम्भ में जो अल्प मात्रा में संकेतित या सूच्य होकर अपना विस्तार आगे लक्ष्यसिद्धि या फलप्राप्ति तक करता चले और फल के पूर्णतः उपलब्ध होने के बाद समाप्त हो जाए तो फलप्राप्ति तक निरन्तर विद्यमान रहने वाले अर्थ प्रकृति के उस अङ्ग को 'बीज' कहते हैं।'

लक्षण में 'थोड़ी मात्रा में संकेतित करने' का आशय है कि यह श्लेष, छाया या उपक्षेप (सूच्यत्व) में से किसी एक अङ्ग के द्वारा कहा जाता

---

१. भोज के शृङ्गारप्रकाश में भी इसी भाव को स्पष्ट करते हुए बतलाया है। जैसे बीज का आरोपण क्रमशः जड़ जमाने, पत्ते निकलने, डाल बढ़ने से एक वृक्ष का स्वरूप धारण करते हुए पल्लव पुष्पादि से विस्तार करते हुए फल देना है उसी प्रकार नाटकीय बीज को भी समझना चाहिए। (शृ० प्र० अध्याय १६, बीजलक्षण)

है। 'अपना विस्तार करे' से आशय है कि अर्थप्राप्ति के (फलोपलब्धि के) बाद ही यह अपने व्यापार का संकोच या संहार करता है और फल-प्राप्ति तक बराबर विद्यमान रहता है।

अन्यस्त्वाह—

इष्टार्थसाधनं बीजमुप्तमुत्पातमुद्गतम्।
आविष्टं फलितं पञ्च सन्दिष्टान् दर्शयेत् क्रमात्॥ २३॥

दूसरे आचार्यों का कहना है कि'—

'इष्ट या उद्दिष्ट प्रयोजन का साधन 'बीज' कहलाता है, और यह क्रमश बोए जाने, अङ्कुरित होने, उठने, फैलने और फलने की पाँचों अवस्थाओं को अपने विकास के द्वारा दिखलाता है।

तत्र मश्लेषो द्व्यर्थवचनम्। छाया यथासाम्यम्। उपक्षेप अर्थोप स्थानम्। एभिरङ्गैस्तद्बीजमुच्यते।

यहाँ श्लेष का अर्थ है (पात्र के) कथन में दो अर्थों का एक साथ रहना। छाया का अर्थ है यथार्थ कथन में समानता रहना। किसी अर्थ को उठाना या संकेतित करना 'उपक्षेप' होता है। इन अङ्गों के द्वारा या विद्यमान रहने के कारण वह 'बीज' कहा जाता है।

तत्र श्लेषः यथा वेण्याम्—

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥ (वे० १।६)

जैसे श्लेष का उदाहरण वेणीसंहार में :—

अर्थ—अच्छे पक्ष (पंख सहायक) वाले, मधुरभाषी, दिशाओं को प्रसाधित (भूषित, अधीन) करने वाले ये धार्तराष्ट्र (हंस, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवगण) आज कालवश (शरदऋतु के या मृत्यु के समय के उपस्थित हो जाने के कारण) पृथ्वी पर आ रहे हैं (उतर रहे हैं, गिर रहे हैं)।

छाया यथा जानकीराघवे—

नीता दुर्गमगाधवारिधिनिकं देवेन दृष्ट्वा च तं
य पृथ्वीं भुजगेन्द्रभोगभुजगं प्रयानयन् मेयमीम्।

क्रीडा क्रोडतनुः स कैटभरिपुः पुष्णातु युष्माञ्जगत् ।
स्वास्थ्यम्वस्त्ययनैकहेतुरमरैः सानन्दमभ्यर्चितः ॥

छाया का उदाहरण जैसे जानकीराघव में[1]—

'संसार के सुख और कल्याण के एकमात्र कारण वे भगवान् विष्णु आपका पालन करें जिनने दैत्यों द्वारा अगाध समुद्र-तल में पहुँचायी गयी पृथ्वी को सर्पों के निवासस्थान (पाताल) से प्रेयसी के समान लौटा ली और (उस) असुर का संहार कर दिया, जिनने लीला के लिए ही वाराह शरीर धारण किया, कैटभ दैत्य का संहार किया तथा जो देवताओं द्वारा आनन्दपूर्वक अर्चित हुए।'

उपक्षेपः यथा कुन्दमालायाम्—

सूत्र—क एष आर्याह्वानेन साहायकं मे सम्पादयति (निरूप्य) कष्टमतिकरुणं वर्तते ।

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
सीता वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् । (कु० मा० १।८)

उपक्षेप का उदाहरण जैसे कुन्दमाला में :—

सूत्रधार—अरे यह कौन है जो आर्या को बुलाने में मेरा हाथ बटा रहा है। (ध्यान से देख कर) हाय ! हाय ! बड़ा करुणाजनक दृश्य है—

लंका के स्वामी रावण के राजभवन में यह बहुत दिन रही इस जनापवाद के भय से घबड़ाए हुए श्रीराम के द्वारा गर्भ के भार से भारी हो रही इस सीता देवी को अपने प्रदेश से बाहर वन में पहुँचाने के लिए लक्ष्मण जल्दी-जल्दी ले जा रहा है।

बिन्दुः—

बिन्दुरिव बिन्दुः[2] । विच्छिन्नायामपि धारायां यथा जलबिन्दुः

1. यह जानकीराघव का नान्दीपद्य (सा) प्रतीत होता है।

2 ना० ल०

पटलपर्यन्तेष्वन्तरान्तरा लब्धनिजविपात पयसा पतनमभिन्नमजयति तथायमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

बिन्दु—'बिन्दु' जलबिन्दु के समान होता है। जैसे जल-धारा के टूट जाने पर भी जलबिन्दु बूँदों के बीच-बीच में गिराते हुए अपनी स्थिति बनाए रखता है और जलधारा के गिरने की सूचना देता रहता है ठीक उसी तरह बीच-बीच मे विच्छिन्न होने पर भी अविच्छिन्न सा रहकर यह बिन्दु भी प्रयोजन की सूचना देता है।

यथा—

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् ।
यावत् समाप्तिं कार्यस्य स बिन्दुरिति कथ्यते ॥ २४ ॥

इस प्रकार बिन्दु वह है जो प्रयोजनों के बिखर जाने पर भी उनकी अविच्छिन्नता का कारण बन कर कार्य या फल की पूर्णता पर्यन्त बना रहता हो। (अर्थात् आनुषङ्गिक कार्यों के मध्य या उन कार्यों के द्वारा प्रधान प्रयोजन के थोड़ा विच्छिन्न हो जाने पर भी जो कथावस्तु की अविच्छिन्नता को बनाए रखने में कारणीभूत हो उसे 'बिन्दु' समझना चाहिए।)

यथा वेण्यां भीम —

लाक्षा-गृहानल-विषान्न-सभा प्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥ (वे० १।८)

जैसे वेणीसंहार में —

भीमसेन—लाक्षागृह में आग लगा कर, विषपूर्ण भोजन करा कर और सभा में हमारा अपमान कर, हमारे प्राणों और सम्पत्ति पर प्रहार कर तथा पाण्डवों की धर्मपत्नी के केश और वस्त्रों को खींच कर भी धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ बने रहेंगे ?

इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में दुर्योधन द्वारा किये हुए अनेक अपमानों की परम्परा बतलाते हुए कौरव-क्षयरूपी प्रयोजन की अविच्छिन्नता प्रकट की गयी है।

अन्ये तु । यदि नाटकार्यस्य प्रकृतिभूतमवमानोत्साहाभ्यां प्रत्यङ्कं परिकीर्त्यते स बिन्दुः । यथा राघवाभ्युदये कैकेय्याः प्रत्यङ्कमुत्कीर्तनम् । वेण्याञ्च कीर्त्यते द्रौपदीकेशाकर्षणम् । उत्साहे च जीमूतवाहनस्य सर्वाङ्के कीर्तनमिति । स च कार्यस्य समाप्तिं यावत् प्रवर्तयितव्यः । यथा जानकीसंहाराङ्के रामः —

> ताताज्ञाया स्थितमविकृतं केकयीप्रार्थितानां
> लब्धस्तेषामवधिरटवीवाससंवत्सराणाम् ।
> लङ्काधीशप्रभृतिरिपवो घातितास्ते च सीता
> साध्वी लब्धा किमधिकमतः प्रार्थयेत्वां सुरेन्द्र ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि—जो नाटक के प्रयोजन या मूलभूत कार्य को अपमान या उत्साह के द्वारा प्रत्येक अङ्क में निरन्तर बतलाता जाए उसे 'बिन्दु' समझना चाहिए। जैसे राघवाभ्युदय के प्रत्येक अंक में कैकयी की चर्चा रखना। वेणीसंहार के प्रत्येक अंक में द्रौपदी के केशों को खींचने की बात दोहराना। नागानन्द के प्रत्येक अंक में जीमूतवाहन के उत्साह का कथन करना। यह कार्य की पूर्णता या उद्देश्यसिद्धि तक बराबर रखा जाता है। जैसे जानकीसंहार नामक अङ्क में।

राम—मैंने अपने पूज्य पिता की आज्ञा का निस्संकोच पालन कर माता कैकयी के द्वारा चाहा गया चौदह वर्षों का वनवास पूर्ण किया, लङ्का के स्वामी रावण जैसे शत्रु का हनन कर सती साध्वी सीता को फिर प्राप्त करलिया। हे देवाधिपते इन्द्र, अब मैं आपसे और किन वस्तुओं की प्रार्थना करूँ जो इनसे अधिक हों!

अथैष बिन्दोरपरः पक्षः । यथा रावणस्य वधे मारीचखरादिसैन्यकुम्भकर्णेन्द्रजितामनवरतवधदर्शनम् । कौरवाणाञ्च द्रोणादिवधदर्शनञ्चेति ।

बिन्दु का एक दूसरा कार्य भी है। वह है रावण के वधरूपी मुख्य प्रयोजन के बीच में मारीच, ससैन्य खरदूषण, कुम्भकर्ण तथा इन्द्रजित आदि राक्षसों के वधों का निरन्तर आनुषंगिक रूप में बतलाते जाना या वेणीसंहार में दुर्योधन के वधरूपी मुख्यप्रयोजन के बीच में कौरव एवं द्रोणाचार्य आदि का संहार दिखलाना।

पताका—

ध्वजोपरि निहितपताकेव पताका । यथेयमेकदेशे स्थायिनी सकलमपि सैन्यं द्योतयति यथा चेयमपि नाटकैकदेशवर्तिनी नाटकं सकलमेव प्रकाशयति । तद्यथा—

पताका—किसी (डण्डे या) बांस पर चढ़ाये गए ध्वज के समान होती है और जैसे किसी एक स्थान पर विद्यमान होकर भी ध्वज सारे सैन्य की उपस्थिति सूचित करता है वैसे ही नाटक के एक भाग में स्थित रह कर भी (यह) पताका सारे नाटक को प्रकाशित करती है । जैसा कि कहा भी गया है :—

यद्वृत्तं हि परार्थं स्यात्प्रधानस्योपकारकम् ।

प्रधानवच्च कल्पेत पताका साभिधीयते ॥ २५ ॥

(भा० शा० २१।२४)

जो घटना किसी अन्य उद्देश्य से रची जाने पर भी मुख्य कार्य में सहायता देती हो या मुख्य कार्य के सम्पादनार्थ प्रमुखरूप में संयोजित की जाए तो उसे *'पताका'* समझना चाहिए ।

यस्या वृत्तं वर्तनं परार्थं परप्रयोजनार्थं प्रधानस्योपकारकं भवेत् । स्वयमपि पौरुषातिशयार्थं प्रधानवत् कल्प्येत सा पताका । यथा वेण्यां—कर्णस्य चरितं दुर्योधनमुपकर्तुं प्रवृत्तं स्वपौरुषार्थमपि । सा गर्भ-ऽवमर्शे च निवर्तते इति नात्यन्तिकमेतदवगन्तव्यम् ।

अर्थात् जिसकी स्थापना दूसरों के किसी कार्य के सम्पादनार्थ रची जाए और फिर भी प्रधान कार्य की सहायक हो जाए, जो मुख्य कार्य सम्पादक होने के कारण प्रधान कार्य के समान ही रची जाती हो तथा जिसका उद्देश्य पुरुषार्थ की अतिशयता को प्रदर्शित करना हो तो ऐसी घटना को *'पताका'* समझना चाहिए । उदाहरणार्थ वेणीसंहार नाटक में रचा गया कर्ण का चरित्र जो दुर्योधन के उपकारार्थ रचा गया था पर वह अपने स्वयं के पुरुषार्थ या सत्त्व के कारण प्रधानकार्य जैसा सत्त्वशाली भी हो गया है ।

'पताका' की स्थिति गर्भ या अवमर्शसन्धि के बाद नहीं रहती यह कथन एकदम नियम के रूप में नहीं ले लेना चाहिए ।

अन्ये पताकेत्युपनायकचरितमेव स्थूलार्थमुपवर्णयन्ति । तेनान्तर-व्याख्यापि सिद्धयति । उपनायकेन नायकमुपकर्तुं प्राधान्यमवलम्ब्य यत् क्रियते सा पताका । यथा—मकरन्दस्य माधवमुपचिकीर्षोर्मालती-रूपत्वादिकम् इति ।

कुछ आचार्य पताका को उपनायक का चरित्र बतलाते हैं। यह बात मोटे तौर पर ही लेना चाहिए। इससे यह भी अन्तर्निहित अर्थ सूचित हो जाता है कि उपनायक के द्वारा प्रधान नायक के उपकारार्थ प्रधान लक्ष्य की पूर्ति-हेतु जो उद्योग किया जाए उसे भी 'पताका' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ मालतीमाधव में मकरन्द का माधव की सहायता के लिये स्वय मालती का वेषधारण करना पताका है।

प्रकरी

पुष्पप्रकरवद्विहिता या शोभा जनयति सा प्रकरी ।

तद्यथा—

प्रकरी—पुष्पों के ढेर के समान किसी एक विशेष स्थान पर एकत्र करने जैसी जिसकी अतिशय शोभा हो जाती हो उसे 'प्रकरी' कहते हैं। जैसा कि आचार्य ने कहा भी है :—

फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थं केवलं बुधैः ।
अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

जिसका फल किसी अन्य (मुख्य) पात्र के लिए रहता हो परन्तु फिर भी जो कथावस्तु से अविच्छिन्नता न रखे तो उसे 'प्रकरी' समझना चाहिए।

यस्या. प्रयोजनं परार्थं परस्य हेतो' प्रकल्प्यते आयते । अनुबन्धो नैरन्तर्येण प्रवर्तनम्, तेन विहीनां त्यक्ताम् उत्पन्नमनष्टामित्यर्थः । यथा मथा कुलपत्यङ्के ।

अर्थात् जिसका प्रयोजन या फल दूसरे पात्र के लिए रखा जाता हो। अनुबन्ध का अर्थ है कथावस्तु के साथ निरन्तर अन्वित रहना। यह अनुबन्ध से हीन होती है अर्थात् इसमें नैरन्तर्य या अविच्छिन्नता

नहीं रहती तथा यह उत्पन्न होती है और समाप्त भी हो जाती है। जैसे 'कुलपत्यंक'[1] में—

जटायु—'आः क्षुद्र राक्षसापद, क मे सुतवधूमपहृत्य गच्छसी' त्यादिरावणजटायुषोर्वृत्तान्तेष्वभिव्यक्तमेव ।

'जटायु—अरे नीच रावण ! तू मेरी पुत्रवधू को हर कर कहाँ ले जा रहा है ?' इत्यादि जटायु और रावण के संवादों में 'प्रकरी' स्पष्टतः दिखाई देती है।

कार्यम्

यदर्थे काव्यस्यारम्भः सिद्धे यस्मिन् समापनम् ।
आनुषङ्गिकसम्पन्नं तत्कार्यमिति कथ्यते ॥ २७ ॥

कार्य—जिसके लिए काव्य का प्रारम्भ किया जाए तथा जिसके पूर्ण होने पर काव्य की समाप्ति हो तो आनुषंगिक कार्यों के द्वारा सम्पन्न होने वाले उस अङ्ग को *'कार्य'* समझना चाहिए।

यदाह भरतः—

यदाधिकारिकं कार्यं पूर्वमेव प्रकीर्तितम् ।
तदर्थो यः समारम्भस्तत् कार्यमिति कीर्तितम् ॥ २८ ॥
(ना० शा० २१।२६)

जैसा कि आचार्य भरतमुनि ने कहा है :—

मैंने पहिले जो आधिकारिक (मुख्य) कार्य बतलाया उस (कार्य) की पूर्ति के लिए जिसे आरम्भ किया जाता हो वह 'कार्य' कहलाता है।

पूर्वमेव प्रकीर्तितमिति द्विविधं कार्यम् आधिकारिकमानुषङ्गिकमिति च । यथा—

पहिले बतलाने का आशय है कार्य के आधिकारिक और आनुषंगिकस्वरूप में दो भेद रहना। जैसे—

---

1. कुलपत्यङ्क का यही उद्धरण भावप्रकाशन में भी प्राप्त होता है। (द्रष्टव्य भा० प्र० पृ० २०२ G. O. S)

इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् ।
पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः परिकीर्त्यते ॥ २९ ॥
इतिवृत्तं द्विधा चैतद्बुधस्तु परिकल्पयेत् ।
आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ३० ॥

(ना० शा० २१।१,२)

इतिवृत्त या कथावस्तु नाटक का शरीर कहा जाता है। इस इतिवृत्त के पाँच सन्धियों के द्वारा विभाग किये जाते हैं। इसके दो प्रकार हैं—*एक आधिकारिक और दूसरा प्रासङ्गिक।*

इतिवृत्तमाख्यान नाटकस्य शरीर यत्, बुधस्तद्द्विधा कारयेत् ।

इतिवृत्त का अर्थ है नाटक की कथा जो नाटक का शरीर माना जाता है। बुध जन उसके दो भेद कर लें।

एकमधिकृतं विन्द्याद् द्वितीयमानुषङ्गिकम् ।
यत् कार्यं हि फलप्राप्तेः समर्थं परिकल्प्यते ॥ ३१ ॥
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ३२ ॥

(ना० शा० २१।२–३)

इस इतिवृत्त के दो भेद होते हैं इनमें से एक को आधिकारिक और दूसरे को प्रासंगिक या आनुषंगिक कहा जाता है। फलप्राप्ति के लिए मुख्यरूप में जो कार्य उपयुक्त हो या सामर्थ्य रखता हो उसे 'आधिकारिक' और इसके अतिरिक्त शेष कार्यों को प्रासंगिक समझना चाहिए।

फलप्राप्तिप्रधानभूतमाधिकारिकं तस्मादन्यत् प्रासङ्गिकमिति ।

रावणस्य वधे कार्ये यथाभूदानुषङ्गिकः ।
सुग्रीवमात्मसात् कर्तुं वधो रामेण वालिनः ॥ ३२ ॥

फलप्राप्ति के लिये मुख्यरूप से अनुष्ठित कार्य आधिकारिक तथा शेष कार्य प्रासङ्गिक कहलाता है। जैसे श्रीराम द्वारा किया गया रावण का वध 'आधिकारिक' और इसी कार्य के लिए सुग्रीव को अपना सहायक बनाने के लिए किया गया वाली का वध 'प्रासङ्गिक' कहलाता है।

अन्यस्त्वाह—कथायामेव कथान्तरमुपकारकृदानुषङ्गिकमिति ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि एक कथा में दूसरी कथा का इस प्रकार सन्निवेश किया जाए कि वह मुख्यकार्य में सहायक हो जाए तो उसे 'प्रासङ्गिक' कथावस्तु समझना चाहिए। यथा :—

फारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
तस्योपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषङ्गिकम् ॥ ३४ ॥
(ना० शा० २१।४–५)

फलयोग या मुख्यकार्य से जिसका सीधा सम्बन्ध आता हो उसे 'आधिकारिक' तथा मुख्यकार्य में उपकारक या सहायता देने वाला इतिवृत्त गौण होने के कारण 'प्रासंगिक' या 'आनुषंगिक' समझना चाहिए।

तदर्थो य समारम्भ इति आधिकारिकस्यैव निष्पत्तये यस्समारम्भ उद्यमो विधीयते। प्रधानकार्योपक्षेप इत्यर्थ । यथा वेण्याम्—

'प्रवेशकाल किल तत्र भवत' इत्यादि ।

सहायक कार्य का आशय है वे कार्य जो आधिकारिक इतिवृत्त को पुष्ट करने के लिए उद्यम स्वरूप किये जाएँ और इस प्रकार मुख्य उद्देश्य के उपकारक बनते हों। जैसे वेणीसंहार में—

'यह श्रीकृष्ण जी के प्रवेश का समय है' इत्यादि ।

एषा बीजादीना चापि कस्यचित् प्राधान्यमन्येषा गुणभाव । तथा चोक्तम्—

इन बीजादि में कभी किसी एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता हो जाती है। जैसा कि कहा भी है कि—

एषां तु यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते ।
तत्प्रधानन्तु कर्तव्यं गुणभूतान्यतः परम् ॥ ३५ ॥
(ना० शा० २१।२७)

इनमें जिससे मुख्य उद्देश्य की सिद्धि या सीधा सम्बन्ध रहता हो उसे प्रधान तथा (इसके अतिरिक्त) शेष को गौण समझना चाहिए।

अङ्कः

तथाङ्कप्रवेशकादीमिति । अङ्क व्याख्यानग्रन्थस्य परिच्छेदयिता ।

स च सन्ध्यङ्गवशादस्यैव नाटकस्यावस्थां प्रसमीक्ष्य बिन्द्वादीनां विस्तराद्वा कर्तव्य । पञ्चादिदशसंख्यापर्यन्त स रङ्गजातस्य चानुबन्धाद् भवति ।

अङ्क—यह (इतिवृत्त) अङ्क और प्रवेशक से युक्त रहता है । 'अङ्क' का कार्य है इतिवृत्त के विभाग करते हुए उनकी सीमा या परिमाण बतलाना । सन्ध्यङ्गों को नाटक की अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए तथा बिन्दु आदि के विस्तार को विचार कर यह अङ्कविभाजन करना चाहिए । नाटक में अङ्कों की संख्या पाँच से लेकर दस तक होती है और 'अङ्क' को रङ्गमञ्च की आवश्यकता के कारण रखा जाता है ।

'नानाविधानयुक्तो भावैश्च रसैश्च गूढो भवेत्' ॥ ३६ ॥
(ना० शा० २०।१४)

'यह अंक अनेक प्रयोग तथा उद्देश्यों से युक्त तथा रस एवं भावों[1] से व्याप्त रहता है ।'

नानाविधानानि बहवः प्रयोगास्तैर्युक्तः । भावैरिति स्थायिभिस्त्रासादिभिर्निर्वेदादिव्यभिचारिभिः सात्त्विकैरपि रोमाञ्चादिभिर्भावैः रसैश्च शृङ्गारादिभिर्गूढ उपगूढो भवेत् ।

अनेक उद्देश्यों का आशय है कि इसमें बहुत से कार्य होते हैं । भाव का अर्थ है (रति आदि) स्थायीभाव, त्रास, निर्वेद आदि संचारी भाव तथा रोमाञ्च आदि सात्विक भावों से युक्त तथा रस शब्द से आशय है शृङ्गार आदि रसों से गूढ़ अर्थात् युक्त या व्याप्त रहना चाहिए।

यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदावगन्तव्यः ॥ ३७ ॥
(ना० शा० २०।१६)

---

1. 'अङ्क को भाव तथा रसों से गूढ मानना'-भट्टलोल्लट का मत है । अभिनवगुप्ताचार्य ने इसको ना० शा० में उद्धृत किया है । यथा—भावैश्च रसैश्च गूढ' इत्र व्याख्येऽर्थोऽङ्कशब्देनोच्यते इति भट्टलोल्लटाचा. गूढ इति पाठं व्याचक्षिरे (नाट्यशास्त्र १८। १२ Vol II. पृ. ४१५)

जहाँ किसी एक कार्य या उद्देश्य के पूर्ण हो जाने के कारण समाप्ति हो जाती हो, जहाँ 'बीज' का अर्थात् प्रधान कार्य का अंशतः निष्कर्ष निकलता हो एवं जो बिन्दु से थोड़ा (अपना) सम्बन्ध रखता हो उसे 'अङ्क' कहते हैं।

यत्रार्थस्यानुषङ्गिकस्य समाप्ति। बीजस्य प्रधानार्थस्यांशत संहरणम्। स्तोकश्च बिन्दो प्रचार.। सोऽङ्कादवगन्तव्य।

एक कार्य से यह आशय है कि आनुषंगिक या गौण कार्यों की पूर्ण हो जाने पर समाप्ति हो जाना। मुख्य कार्य या उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के कारण बीज का जहाँ संकोच या संहार हो जाता हो तथा 'बिन्दु' के कार्य का थोड़ा विस्तार होता हो। यह सभी 'अङ्क' से बतलाया जाता है [अर्थात् 'अङ्क' के यही कार्य होते हैं]।

ये नायकाः निगदितास्तेषां प्रत्येकचरितसम्भोगः।
नानावस्थोपेतः कार्यस्त्वङ्कोऽविकृष्टश्च ॥ ३८॥

(ना० शा० २०।१७)

पहिले जिन नायक आदि पात्रों को बतलाया गया था उन सभी की विभिन्न अवस्था तथा कार्यों को जिसमें अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाए उसे 'अङ्क' समझना चाहिए परन्तु अङ्क में रखे जाने वाले कार्य फैलाए हुए या विलम्बित नहीं होने चाहिए।

नाटके नायकाश्चत्वार पञ्च वा स्युस्तेषा चरितसम्भोग। नानादशायुक्तोऽङ्क' कार्य। अविकृष्टश्च न चरितसम्भोग आख्यानवस्तुना दूरवर्ती न कर्तव्य य आधिकारिककार्यस्य सन्निधीयते इत्यर्थ। न केवलं नायकानाम् नायकदेवीपरिजनपुरोहितामात्यसार्थवाहाना नैरन्तरमान्तरविहितश्चरितसम्भोगोऽप्यङ्क' स वेदितव्य।

नाटक में चार या पाँच पात्र मुख्य [नायक] होते हैं तथा अङ्क में इन्हीं का कार्य प्रदर्शित किया जाता है। अङ्क में पात्रों की विविध दशाओं की सयोजना रहनी चाहिए। पात्रों के कार्यों का लम्बा विस्तार या फैलाव नहीं रहना चाहिए तथा यह मुख्यकथा (आधिकारिक कथावस्तु) से दूर हट कर नहीं रहे (किन्तु मुख्यकथा के उद्देश्य से जुड़ा रहना चाहिए)। केवल मुख्य पात्रों का ही चरित्र इसमें नहीं रहता किन्तु [इसमें] नायक, महादेवी तथा उनकी परिचारिकाओं,

पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह (सेनापति) आदि पात्रों के विविधरसों से पूर्ण चरित्र भी रखे [चित्रित किये] जाते हैं। इन सभी लक्षणों से युक्त भी 'अङ्क' का स्वरूप समझना चाहिए।

नायकः

नायक इति। बीजबिन्द्वादिसवलितस्य नाटकस्य नाट्यमन्तं नयतीति नायकः। स एव धर्मकामार्थफलभाग् भवति। स च परार्थ सम्पादनाद् धर्मम्, इष्टाङ्गनालाभात् कामम्, अपूर्ववस्त्वधिगमादर्थमधिगच्छति। सर्वथा येन सर्वं समाप्यते स खलु नायकः चतुःप्रकृतिकः धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त धीरप्रशान्तश्च। तत्र धीरोद्धता देवता, धीरललितो नृपति, धीरोदात्तस्सेनापतिरमात्यश्च, धीरप्रशान्त श्रोत्रिय सार्थवाहश्च। एभ्यो भिन्ना सङ्कीर्णका पात्रचारेषु बोद्धव्यास्तत्रते इति। नायिकाश्च दिव्या राजपत्न्य कुलजा वेश्याप्रभृतय।

नायक—'नायक' वह होता है जो बीज बिन्दु आदि से युक्त नाटक को पूर्णता की ओर ले जाकर नेतृत्व करे। क्योंकि यही नाटक के उद्देश्य या फल को समाप्ति पर्यन्त ले जाता है तथा धर्म, अर्थ या काम की उपलब्धियों का अधिकारी या भोक्ता होता है। इसे ही दूसरों के उपकारार्थ उद्योग करने पर धर्मप्राप्ति, इष्ट प्रियतमा की उपलब्धि होने के कारण कामप्राप्ति तथा अपूर्व (बहुमूल्य) वस्तुओं के लाभ होने के कारण अर्थप्राप्ति होती है। कहने का आशय यही है कि जो नाटक से मूल उद्देश्यों से अतिशय सामीप्य रखते हुए सारे कार्यों को सिद्ध करता या पूर्ण करता हो उसे 'नायक' समझना चाहिए। यह नायक प्रकृतिभेद के कारण चार प्रकार का होता है। यथा—(१) धीरोद्धत, (२) धीरललित, (३) धीरोदात्त तथा (४) धीरप्रशान्त। इनमें देवता 'धीरोद्धत', राजा 'धीरललित', सेनापति और अमात्य 'धीरोदात्त' तथा श्रोत्रिय, (ब्राह्मण) और श्रेष्ठि (सेठ) 'धीरप्रशान्त' होते हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र सङ्कीर्ण [मिश्र, अतिरिक्त या पूरक पात्र जिन्हें सम्प्रति Extra कहते हैं] कहलाते हैं। ये पात्र नायक-नायिका आदि के साथ रहने वाले कार्य या व्यवहार के अनुसार विभागपूर्वक जाने जाते हैं। दिव्यस्त्री, महारानी, कुलीन कन्याएँ तथा गणिका आदि भी नायिकाएं होती हैं।

किं काव्यम् ? नाट्यमनुकरणम् । यथा चोक्तम्—

प्रश्न—नाट्य किसे कहते हैं ? उत्तर—(अवस्थाओं के) अनुकरण को । जैसा कि बतलाया भी है —

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःख-समुद्भवा ।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते ॥ ३९ ॥

'मानवों की सुख दुःखात्मक दशाओं का अनुकरणात्मक प्रस्तुतीकरण या अभिनय 'नाट्य' कहलाता है ।'

अभिनयः

कोऽभिनय ? अभिमुख नयत्यर्थानिति अभिनय ।

प्रश्न—अभिनय किसे कहते हैं ? उत्तर—जो घटनाओं या कार्यों को नेत्रों के सम्मुख ला कर प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देता हो ।

'सन्निहितनायकोऽङ्कश्च कार्य' (ना. शा. २०।३१) । ये नायका. पूर्वं कथितास्ते तत्र सन्निहिता कर्तव्या । नायको नामिका च नायको । एक प्रधानो नायक अपरश्च तस्योपनायक । हन्तव्यश्च (प्रति-) नायक एव । एवमेकतमस्य सन्निधिनाङ्क कर्तव्य । यथा प्रतिज्ञाभीमे भीम । सुन्दरभानुमत्योर्दुर्योधन । अश्वत्थामाङ्के स एव । धृतराष्ट्रे स एव । सहारे तु युधिष्ठिर । प्रधाननायकसन्निधिरपि दृश्यते क्वचित् । यथा मायामदालसे पञ्चस्वप्यङ्केषु कुवलयाश्च नागानन्दे च पञ्चस्वप्यङ्केषु जीमूतवाहन इति ।

'अङ्क' में नायक[1] का रहना आवश्यक होता है' (ना० शा० २०।३१) । अर्थात् जिन नायकों को पहिले बतलाया गया है उन्हें अङ्क में रखा

---

१ नायक का यहाँ अर्थ है वह पात्र या अभिनेता जो नाटकीय कथा में थोड़ी महत्त्वपूर्ण स्थिति लिये हो । एम पात्रों में मुख्य, सहायक तथा विरोधी पात्रों को रखा जा सकता है । व सभी नाटकीय प्रयोजन का निर्वाह करने के कारण नायक हैं । इनमे मुख्य नायक का वध इष्ट नहीं होता, प्रतिनायक या विरोधी का वध तो होता है परन्तु इसे भी किन्हीं नाटकीय नियमों के अनुरोध तथा नाटकीय सुविधा असुविधाओं के अतिरिक्त भारतीय भावनाओं के परिष्कार में बाधक मानते हुए भारतीय नाटकों में प्रत्यक्ष प्रस्तुत करना निषिद्ध माना गया था ।

जाए। नायक शब्द से नायिका (आदि) पात्र भी समाविष्ट हैं। (नाटक आदि में) एक मुख्य नायक होता है तथा दूसरा उसी का सहायक या उपनायक होता है। (नायक का विरोधी होने के कारण) मारा जाने वाला पात्र भी (प्रतिनायक होने के कारण) नायक की श्रेणी में ही आता है। इनमें से किसी एक की उपस्थिति अङ्क में रहनी चाहिए। जैसे प्रतिज्ञा भीम नामक अङ्क में भीमसेन की, सुन्दरक-भानुमती अङ्क में दुर्योधन की, अश्वत्थामाङ्क में भी उसी (दुर्योधन) की, धृतराष्ट्राङ्क में भी दुर्योधन की तथा (संहार) अन्तिम अङ्क में युधिष्ठिर की उपस्थिति रखी गयी है। कहीं कहीं (सभी अङ्कों में) प्रधान नायक की उपस्थिति (भी) रखी जाती है [या मिलती है]। उदाहरणार्थ 'मायामदालस' नाटक के पाँचो अङ्कों में कुवलयाश्व (नायक) की तथा नागानन्द के सभी अङ्कों (पाँचो अङ्कों) में जीमूतवाहन की उपस्थिति रखी गयी है।

क्रोधप्रसादशोकाः शापोत्सर्गोऽथ विद्रवोद्वाहौ।
अद्भुतसंश्रयदर्शनमङ्के प्रत्यक्षजानि स्युः ॥ ४० ॥
(ना० शा० २०।२०)

अङ्क में रखे जाने वाले कार्यों में क्रोध, प्रसाद, शोक, शापप्रदान (शापोत्सर्ग), भगदड़ या क्रान्ति (विद्रव) विवाह तथा कोई आश्चर्योत्पादक कार्य या घटना होती है (ये प्रत्यक्षतः प्रस्तुत करने के कार्य नहीं होते हैं)।

अङ्के तस्मिन्नेतानि प्रत्यक्षजानि स्युः। क्रोध कोप, प्रसादः प्रसत्तिः, शोकः आक्रन्दः, शापोत्सर्गं शापप्रदानं, विद्रव शङ्काभयत्रासकृतो द्रवः, उद्वाहः विवाहः, अद्भुतसंश्रयदर्शनम् अद्भुतकारिणा दर्शनम्।

अङ्क में जिन कार्यों या घटनाओं को रखा जाता है उनमें ये हैं— कोप अर्थात् क्रोध, प्रसाद का अर्थ है समीप जाना या प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करना, शोक का अर्थ है करुणरुदन, शापोत्सर्ग का अर्थ है शाप देना, विद्रव का अर्थ है शंका, भय या त्रास के कारण भागने लगना, उद्वाह का अर्थ है विवाह, अद्भुत संश्रय का अर्थ है ऐसे कार्य या घटनाएँ जिनसे आश्चर्य उत्पन्न हो या आश्चर्यकारी कार्य करने वाले किसी प्रभावशाली पुरुष आदि का दिखाई पड़ना होता हो।

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनञ्चैव ।
न प्रत्यक्षाणि सन्ति प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ ४१ ॥
(ना. शा. २०।२१)

अङ्क में प्रत्यक्षत मञ्च पर युद्ध, राज्य का पतन, मरण, नगर का घेरा आदि नहीं बतलाना चाहिए। यदि इन्हें बतलाना ही इष्ट हो तो 'प्रवेशक' के द्वारा इन कार्यों की सूचना मञ्च पर दे देना चाहिए।

युद्धादिक नाङ्के प्रत्यक्ष कर्तव्यम् (किन्तु) प्रवेशकैरेव वक्तव्यम् । यथा—कुम्भाङ्के तिलोत्तमासानुमतीभ्यां कुम्भकर्णस्य युद्धमावेदितम् लङ्कोपरोधनञ्च प्राङ्डङ्के कञ्चुकिना वालिमरणञ्च । नलविजये चतुरिका-मालवीभ्यां नलस्य राज्यभ्रंश । नाङ्केऽभ्युदयिन शत्रोरपि वध. कर्तव्य (किन्तु तस्य) अपसारण सन्धिर्ग्रहण वा । एतत्तु नाटके नात्यन्तिकम् । यतो रावणदुर्योधनकंसादीनां वध एव । स तु न साक्षात् कर्तव्य इत्यर्थ । प्रकरणे पुन कवे स्वातन्त्र्यात् सन्ध्यादिस्सर्टाद्विषय । यथा चारुदत्तस्य राष्ट्रियेण सह सन्धिरेव दर्शित ।

अङ्क में युद्ध आदि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन मञ्च पर नहीं रखना चाहिये पर यदि नाटकीयकथा में ऐसी घटनाएँ रखना इष्ट ही हो तो 'प्रवेशक' के द्वारा इनकी सूचना देना चाहिए। जैसे —'कुम्भाङ्क' में तिलोत्तमा और सानुमती के द्वारा लङ्का के घेरे जाने और कुम्भकर्ण के युद्ध करने की सूचना दी गयी। 'प्राङ्डङ्क' में कञ्चुकि के द्वारा वालिमरण की सूचना तथा 'नलविजय' में चतुरिका और मालविका के द्वारा राजा नल की राज्य से च्युत होने की सूचना देना।

'अभ्युदय के भागी नायक या (नायक विरोधी) प्रतिनायक की भी मञ्च पर प्रत्यक्ष मृत्यु नहीं दिखलाना चाहिए। किन्तु इसका भाग जाना, सन्धि कर लेना या पकडा जाना प्रस्तुत करना चाहिए'। परन्तु यह नियम नाटक पर तत्परतापूर्वक लागू नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें प्रतिनायकभूत रावण, कंस या दुर्योधन आदि का वध ही इष्ट रहता है। प्रकरण में कवि की इच्छा के अनुसार नायक की प्रतिनायक के साथ सन्धि आदि रखी जा सकती है। जैसे मृच्छकटिक में (नायक) चारुदत्त की (प्रतिनायक) राष्ट्रिय शकार के साथ सन्धि को ही बतलाया गया है।

एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्के सप्रयोगमधिकृत्य ॥ ४२ ॥

नाटक के एक अङ्क मे घटित होने वाली घटनाएँ एक दिन[1] मे होने वाली (ही) बतलाना चाहिए।

आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्याङ्के कर्त्तव्यम्। अन्यस्तु-'वासरार्द्ध-कृतो ह्यङ्क' इति। अपरश्च—एकरात्रिकृतमेकवासर-कृतमङ्के वक्तव्यमिति।

यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रान्तम्। यदुच्यते—'वर्षादूर्ध्वन्तु न तु कदाचित्' (ना० शा० २०।२९) इति। तदेतद्बहुकालप्रणेयं नाङ्के विधेयमित्यर्थ।

अर्थात् नाटकीय कथावस्तु मे जिन घटनाओं को एक अङ्क मे रखा जाए वे सभी एक दिन मे घटित होने वाली रहना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि एक अङ्क में रखे जाने वाले कार्य या घटनाएँ आधे दिन मे पूर्ण हो जाने वाले रहने चाहिए। दूसरे विद्वानो का मत है कि एक अङ्क मे रहने वाले कार्य या घटनाए तथा एक दिन एक रात्रि मे पूर्ण हो जाने वाले रहने चाहिए। आशय इतना ही है कि एक अङ्क मे दीर्घकाल तक चलने वाली घटनाएँ नहीं रखी जाएँ क्योंकि आचार्य ने भी कहा है कि "एक वर्ष से अधिक समय मे होने वाली घटनाएँ एक अङ्क मे न रखी जाएँ' (ना० शा०)। यदि आवश्यकतानुसार या प्रयोजनवश अधिक समय तक चलने वाली घटनाएँ बतलानी ही पड़े तो उनकी 'प्रवेशक' के द्वारा सूचना देना चाहिए। सक्षेप मे इतना ही कहा जासकता है कि एक अङ्क मे अधिक समय तक चलने वाले कार्यों का समावेश नहीं करना चाहिये।

अस्मिंस्त्वङ्के—

नाहेतुकः प्रवेशोऽङ्के कस्यापि जायते त्वपि।
निष्क्रान्तिरपि ततः स्याद् व्यालम्ब्यार्थं प्रसङ्गस्य ॥ ४३ ॥

अङ्क मे बिना किसी प्रयोजन या कार्य के किसी पात्र का मञ्च पर प्रवेश नहीं होना चाहिए तथा किसी उद्देश्य या घटना से सम्बद्ध

1. एक अङ्क में ऐसी घटना भी आ सकती है जो एक दिन के किसी भाग में घटित हुई हो। (द्रष्टव्य भा० प्र० पृ० २३० G. D. S.)

होने पर ही बिना किसी कारण या कार्य के पूर्ण होने पर पात्रों का मञ्च से निष्क्रमण नहीं बतलाना चाहिए।

[अर्थात् सभी पात्रों का मञ्च पर सादेश प्रवेश या निर्गम रखना चाहिये।]

सम्प्रति अङ्कविधया प्रवेशकादय उच्यन्ते—

'अङ्क' के लक्षण में प्रवेशक आदि का प्रसग आया था अतएव अब हम प्रवेशक आदि का लक्षण बतलाते हैं।

तत्र प्रवेशकः।

प्रवेशयति पात्राणि रङ्गमिति प्रवेशक। यदाह मुनि—

अङ्कान्तरानुसारी सङ्क्षेपं समधिकृत्य बिन्दूनाम्।

प्रकरणनाटकविषये प्रवेशकः संनिधातव्यः॥ ४४॥

(ना० शा० २०।३२)

स च—

परिजनकथानुबद्धः प्रवेशको नाम विज्ञेयः॥ ४५॥

(ना० शा० २०।३१)

'प्रवेशक' शब्द की व्युत्पत्ति है जो पात्रों को मञ्च पर प्रवेश कराता है। जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने कहा है —दूसरे अङ्को में घटने वाली घटना के सक्षेप मे विवरण प्रस्तुत करने वाला 'प्रवेशक' होता है। विद्वज्जन इसकी प्रकरण या नाटक मे योजना करें। 'प्रवेशक' परिचारक (या सेवक) श्रेणि के पात्रो [नीचपात्रो] के वार्तालाप द्वारा घटनाओं की सूचना देता है।

परिजना दासीदासकञ्चुकीप्रभृतय। कथानुबद्धा परस्परं नायकस्य कथानुबन्धप्रवृत्ता। अथवा कथानुबद्धा ये नीचमध्यमास्ते प्रवेशका कर्तव्या। रामस्य वनमधिवसत क तथाविध परिजन? सुग्रीवसम्पात्तु हनुमदादय। यदाह मातृगुप्त —

परिचारक या परिजन का अर्थ है दासी दास तथा कञ्चुकी आदि पात्र। वार्तालाप का आशय है नायक या इससे सम्बद्ध घटनाओं का परस्पर कथन। अथवा नीच या मध्यमश्रेणि के पात्रों द्वारा किसी

घटना या कार्य का उल्लेख करना जो कथावस्तु से सम्बद्ध हो 'प्रवेशक' कहलाता है। प्रश्न :—श्रीराम को वनवास के समय ऐसे सेवकों की उपलब्धि कैसे संभव हुई? उत्तर :—सुग्रीव की मैत्री के कारण उसके विश्वस्त व्यक्ति हनुमान आदि की श्रीराम को उपलब्धि हो सकती है।

"विटतापसविप्रायैर्मुनिकञ्चुकिभिस्तथा" इति प्रवेशकं वर्णयति। अन्यस्तु—'प्रक्रमाधीनः प्रवेशको नाम' इति।

तत्र सर्वेषामुदाहरणम्—रेवतीपरिणये तृतीयेऽङ्के तापसः। अभिज्ञाने तृतीयेऽङ्के विप्रः। शशिकामदत्ते तृतीये विटः। दास्यादयस्तु प्रसिद्धा एव। प्रक्रमाधीनस्तु अश्वत्थामाङ्के युद्धप्रस्तावमधिकृत्य वसागन्धारुधिरप्रियौ राक्षसौ। तयोरुदात्तमपि वचनम्—'कदाइ दुवदसुदरोसेण (अम्हेवि) वावादेदि त्ति (कदाचित् द्रुपदसुतरोषेणावामपि व्यापादयिष्यति)। अतएव मायामदालसे तृतीयेऽङ्के गृध्रमिथुनम्। कुम्भाङ्के तिलोत्तमा सानुमती विद्याधरीद्वयम्।

मातृगुप्ताचार्य ने 'प्रवेशक' का लक्षण करते हुए बतलाया कि ' 'विट' तपस्वी, ब्राह्मण, मुनि तथा कञ्चुकी (आदि) से युक्त भी 'प्रवेशक' होता है'। दूसरे आचार्यों का मत है कि आगे घटनेवाली घटनाओं में सहायता का कार्य 'प्रवेशक' से हो जाता है। मातृगुप्त आदि आचार्यों के द्वारा प्रवेशक में बतलाए गए पात्रों के उदाहरणों में—रेवतीपरिणय के तीसरे अङ्क[1] में तापस पात्र है, अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीयअङ्क में ब्राह्मण पात्र है, *शशिकामदत्त* के तृतीयअङ्क में विट पात्र है। 'प्रवेशक' में दासी आदि पात्रों की प्रायः सभी रूपकों में बहुलता से उपलब्धि होती है।

आगे घटनेवाली घटनाओं की भी प्रवेशक के द्वारा सूचना देते हैं — उदाहरणार्थ—*अश्वत्थामाङ्क* में युद्ध के विवरण को लेकर वसागन्धा और रुधिरप्रिय राक्षस के संवाद तथा परस्पर स्नेह और औदार्यभरे कथन रखे जा सकते हैं। जैसे —"यह अश्वत्थामा कहीं द्रुपदपुत्र के प्रति क्रोध धारण करने से हमें ही न मार डाले" इत्यादि। इसी प्रकार माया-

1 अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अङ्क में ब्राह्मण पात्र है अवश्य किन्तु वहाँ विष्कम्भक है प्रवेशक नहीं।

मदालय के तीसरे अङ्क मे गृद्धदम्पति हैं। कुम्भाङ्क मे तिलोत्तमा और सानुमती नामक दो विद्याधरियाँ हैं।

स च संक्षेपमधिकृत्येति—आख्यानक न सर्वमङ्के प्रणेतव्यम्। न सङ्क्षेपाङ्के दिवसकृते दिवसार्द्धकृते मासकृतं वर्षकृतं वा सकलमुपदर्शयितुमत्त सङ्क्षेपार्थं प्रवेशक कर्तव्य। सङ्क्षेप समास। प्रकीर्णसङ्ग्रहणं समासमाचक्षते। अत प्रवेशकेन कथासङ्ग्रहणं कार्यम्। अनन्तरस्य पात्रस्य प्रवेशोऽभिधेय। यदाह—'अ (ना) सूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नैव विद्यते' इति।

'किन्हीं कार्यं या घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिये 'प्रवेशक' रखा जाए' का आशय है कि एक अङ्क मे 'प्रवेशक' रख कर सारी कथा या कथावस्तु का एक बडा भाग पूरा नहीं कर लेना चाहिए। किसी प्रवेशक या विष्कम्भक (संक्षिप्ताङ्क) में एक दिवस, आधे दिन, एक मास या एक वर्ष की सारी घटनाएँ न रखी जाय, किन्तु कार्यों का संक्षेप में निदर्शन मात्र किया जाए। इसीलिए 'प्रवेशक' रखा जाता है। संक्षेप का अर्थ है कथा का सकोच या उसके फैलाव को कम करना। यहाँ कथा के बिखरे हुए कार्यों या घटनाओं को खींच कर एक साथ सकुचित करके रखा जाता है। यही इसकी सामासिकता है। इसलिये प्रवेशक के द्वारा कथावस्तु का संक्षेप में स्थापन किया जाता है। इसके द्वारा आगे प्रवेश करने वाले पात्रों की सूचना भी दी जाती है। जैसा बतलाया भी है कि 'बिना सूचना के मञ्च पर किसी पात्र का प्रवेश नहीं होता है'।

स चाङ्कान्तरसन्धिषु कर्तव्य। तथाङ्कस्यादौ न तु मध्यान्तयोरित्यर्थ। इदं प्रवेशकलक्षणमन्यत्राप्याचार्य आह—

'प्रवेशक' को दो अङ्कों के सन्धिस्थल पर रखना चाहिए। अर्थात् इसे अङ्क के प्रारम्भ में रखा जाता है, किसी अङ्क के बीच में या अन्त में नहीं रखा जाता। प्रवेशक का लक्षण आचार्य (भरत मुनि) ने इस प्रकार बतलाया है:—

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः।
प्राकृतभाषाचारः प्रयोगमाश्रित्य कर्तव्यः॥ ४६॥

कालोत्थानगतिरसव्यत्यासारम्भकार्यविषयाणाम् ।
अर्थाभिधानभूतः प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ॥ ४७ ॥
(ना० शा० २०।८४, ८५)

प्रवेशक में किसी उत्तम या मध्यम पात्र को नहीं रखा जाता है, इसमें शालीन भाषा या उदात्त वचनों का प्रयोग नहीं होता है और (प्रकृति या परिस्थितिवश) पात्रों का प्राकृतभाषा में वार्तालाप रखा जाता है। इस प्रकार प्रवेशक के द्वारा समय की सूचना, समय का बीतना, यात्रा, भावना या रस का परिवर्तन, किसी कार्य का आरम्भ, किसी विषय, तत्त्व या उद्देश्य का संकेत आदि अनेक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

उत्तमपात्रं न प्रवेशके, नीच एव कर्तव्यः। यथा शक्रध्वजे वानरद्वयम्। तत्रैव नोदात्तवचनम्। तत्रैव प्राकृतभाषाचारम्। फलमप्याह—कालोत्थानस्य कालसंख्यानार्थं गतेर्दूरदेशगमनस्य रसव्युदासारम्भस्य रसानामन्यथाकरणस्य प्रयोगाभिधानमुत इत्यनेकप्रयोजनः प्रवेशकः स्यात्। यदा च तापसादयः प्रवेशके सन्ति तत्र संस्कृतपाठः एव विधेयः।

'प्रवेशक' में उत्तम पात्र नहीं रखा जाता उसमें केवल नीच पात्र ही रखना चाहिए। जैसे '—शक्रध्वज में दो वानर पात्र। इसमें[1] उदात्तवचनावली भी नहीं रखी जाती है और भाषा भी यहाँ प्राकृत रखी जाती है। अब इसका प्रयोजन भी बतलाते हैं कि इसके द्वारा समय का

---

१. प्रसङ्गवश अधम पात्रों का सम्भाषण भी संस्कृत या उदात्त भाषा में रखा जा सकता है जब वे किसी घटना या किसी के अभिहित शब्द या कथन का उल्लेख करें। ऐसी दशा में पारस्परिक संभाषण में संस्कृत भाषा की भी योजना की जा सकती है। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि परिष्कृत विचारों या विषयों के अवसर पर अधम पात्रों की भी परिष्कृत भाषा रहनी चाहिए। परिष्कृत का आशय है न केवल संस्कृत भाषा किन्तु प्राकृतभाषा से भी यह कार्य किया जा सकता है। सागरनन्दी का आशय दूसरा प्रतीत होता है— इनके मतानुसार किसी घटना को संक्षेप से कहने पर भाषा निश्चित ही परिष्कृत हो जाएगी पर यदि नीच पात्र अपने अनुभव या जीवन में घटित घटनाओं का निदर्शन करें तो फिर भाषा को परिष्कृत तथा सम्भाषण-पद्धति को उदात्त बनाना अपेक्षित नहीं है।

निर्देश [समय की अवधि, समय का बीतना आदि] सुदूर प्रदेश की यात्रा, रसों का परिवर्तन या विपरीत अवस्था की सूचना आदि अनेक कार्य साधे जाते हैं, पर यदि तापस पात्र 'प्रवेशक' में रखना ही पड़े तो उसकी भाषा संस्कृत ही रखना चाहिए।

बह्वाश्रयमप्यर्थं प्रवेशके संक्षिपेत् सन्धौ।
बहुचूर्णपदोपेतो जनयति खेदं प्रयोगस्य ॥ ४८ ॥
(ना० शा० २०।८७)

यदि (दो अङ्कों के) सन्धिस्थल पर 'प्रवेशक' रखा जाए तो यह अनेक कार्यों तथा घटनाओं को संक्षिप्त करते हुए प्रस्तुत कर सकता है। पर यदि इसमें चूर्णक गद्य के अनुसार लम्बी पदावली रखी जाए तो यही नाट्यप्रदर्शन को उबा देने वाला या नीरस भी बना डालता है।

पूर्वार्द्धस्य प्रयोजन कथितमेव। बहुचूर्णपदोपेत इति। गद्य स्याच्चूर्णमुत्कलिका वृत्तगन्धि चेति। चूर्णं स्तोकसमास खण्डश प्रवृत्त-पदम्। यद्वदनकमिति वदन्ति। उत्कलिका बहुसमासाविभक्ता। वृत्तगन्धि वृत्तस्य यत्र गन्धो लक्ष्यते तद् वृत्तगन्धि। चूर्णकमित्युपलक्षणमेतत्। बहुपाठको न प्रवेशक। यदुक्त—बहुचूर्णपदोपेत प्रवेशको न कार्य। किं स्यात्? जनयति खेदं प्रयोगस्य। द्रष्टृजनाना खेदमावहतीत्यर्थ। अतो गद्यपद्याभ्या तस्य पाठो विधेय। ते च गद्यपद्ये—गद्यमपाद-पदसन्तानो गद्यमिति। पद्य चतुष्पदीवृत्तमिति। छन्दोविच्छिन्नपादचतु-ष्टयस्य गुम्फेनेति। आचार्या बहु व्याचक्षते इति।

कारिका के पूर्वभाग की व्याख्या पहिले दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ अब चूर्णक गद्य में पदावली रखने का अर्थ बतलाते हैं। गद्य के तीन प्रकार होते हैं। यथा[1]—(१) चूर्णक, (२) उत्कलिका (—प्राय) तथा (३) वृत्तगन्धि। चूर्णक उस गद्य को कहते हैं जिसमें स्वल्प समासयुक्त पदावली या समासरहित पदावली रहती हो। इसका एक दूसरा नाम 'वदनक'[1] भी है। दीर्घ समासों से पूर्ण गद्य रचना या

१. वदनक को छन्दोमञ्जरी में वृत्तक कहा गया है। (स्टका पृ० सं० ५१२)

नाम 'उत्कलिका' (प्राय) गद्य है। 'वृत्तगन्धि' गद्य वह होता है जिसमें पद्य जैसा आभास होता हो या जिसके किसी एक भाग को पद्य जैसा पढ़ा जासके। लक्षण में 'चूर्णक' शब्द को गद्य सामान्य के अर्थ में रखा गया है। आशय है कि प्रवेशक में संवादों की दीर्घसमासयुक्त रचना में समासबहुल लम्बे वाक्य नहीं रखना चाहिए। (प्रश्न) इससे क्या होगा ? (उत्तर) ऐसा होने पर नाट्यप्रयोग बिगड़ जाता है क्योंकि लम्बे वाक्यों के रहने पर दर्शक ऊबने लगते हैं। इसलिये गद्य-पद्य दोनों को मिला कर 'प्रवेशक' में पात्रों के संवाद रहने चाहिए। गद्य-पद्यों का स्वरूप है कि जिसमें किसी छन्द के लक्षणानुसार पाद न हो ऐसी शब्दावली या पदसमूह 'गद्य' कहलाता है। पद्य कहते हैं उन छन्दों या वृत्तों को जिनके चार पादों के निश्चितस्वरूप में शब्दावली रखी गयी हो। गद्य तथा पद्य का आचार्यों ने अनेक प्रकार से [तथा विस्तार से] ग्रन्थों में निरूपण किया है।

यत्रार्थस्य समाप्तिर्न भवत्यङ्के प्रयोगबाहुल्यात् ।
बहुवृत्तान्ताल्पकथैः प्रवेशकैः साभिधातव्या ॥ ४९ ॥

(ना० शा० २०।८८)

जहाँ किसी कार्य या उद्देश्य की समाप्ति न होती हो या जहाँ विस्तीर्ण होने से कथा या कार्यों का अन्त न होता हो तो इसी कथा या कार्य के एक लम्बे प्रदेश या भाग को 'प्रवेशक' के द्वारा संक्षिप्त रूप में थोड़े शब्दों के द्वारा बतलाया जा सकता है।

पूर्वस्मिन्नङ्के प्रयोगानां बाहुल्याद् अर्थस्य कार्यस्य समाप्तिर्न भूता सा परस्मिन्नङ्के कर्तव्या। बहुतरेऽपि वृत्तान्तेऽल्पकथैः स्वल्पवचनैः समापनीया इत्यर्थः।

अर्थात् किसी पिछले अङ्क में कथा के विस्तीर्ण होने या नाट्याभिनयों के आधिक्य के कारण यदि वे समाप्त न होती हों तो उन्हें अगले अङ्क में 'प्रवेशक' के द्वारा रखा जाए। (इस प्रकार) घटनाओं या कार्यों के अधिक या लम्बे रहने पर उन्हें थोड़े से या संक्षिप्त संवादों के द्वारा समग्र रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

विष्कम्भकः

प्रवेशकस्तावदुक्तः। विष्कम्भक आह चारायणः—'प्रकरण-

नाटकयोर्विष्कम्भकः' इति । प्रवेशकस्थानीय एवासौ । परमियाँस्तु विशेषः

विष्कम्भक—प्रवेशक का लक्षण हमने बतला दिया, अब विष्कम्भक का लक्षण बतलाते हैं। *'चारायण'* आचार्य ने विष्कम्भक का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि "प्रकरण और नाटक में विष्कम्भक रहता है।" यह प्रवेशक के स्थान पर या उसी के विकल्प में रखा जाता है। परन्तु इसमें निम्न विशेषता रहती है —

कुतोऽपि स्वेच्छया प्राप्तः सम्बद्धो नोभयोरपि ।
विष्कम्भकः स विज्ञेयः कथार्थस्यापि सूचकः ॥ ५० ॥

यह किसी (फल के) उद्देश्य से अपने ही स्वरूपानुसार रखा जाता है। इसमें नायक या प्रतिनायक के प्रवेश का सम्बन्ध नहीं रहता तथा यह वस्तु के फल या उद्देश्य का संकेत देता है। इसीलिए इसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।

कुतोऽपि हेतो स्वयमेवागतः । सम्बद्धो नोभयोरपि नायकतद्विपक्षयोरपि न प्रतिबद्धः । हर्षाद्विष्कम्भकेन विष्कम्भक उच्यते । यथा नागवर्माङ्के यज्ञसोम —

'कुलपतिरेव न केवलमहमपि हर्षोज्जडीभूत' इत्यादि ।

अपने ही स्वरूपानुसार का आशय है कि यह किसी कारण या उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए स्वयं के लक्षणानुसार उपस्थित किया जाता है निर्हेतुक इसकी स्थापना नहीं होती। इसमें प्रवेश या सम्भाषण आदि के द्वारा नायक या प्रतिनायक में से किसी भी पात्र से उपस्थिति नहीं रखी जाती है। 'विष्कम्भक' की सार्थकता की [illegible] लिए मानी जाती है क्योंकि यह हर्ष की तीव्रगति का भी इसी [illegible] है। [विष्कम्भ का अर्थ है खम्भा। खम्भा किसी भवन निराश्रय होता [illegible] मनुष्यों की स्वेच्छापूर्ण गति रुकी रहती इसी तरह या प्रसाद में रहे तो [illegible] रेखाओं का प्रसार रोकने के कारण इसे विस्तृतकार्य फलाप की [illegible] 'विष्कम्भक' समझ [illegible] दिये।] उदाहरणार्थ—'नागवर्माङ्क' में—

१. इस उदाहरण [illegible] हरिपाल उपाध्याय ने श्री भरत के नाम से उद्धृत किया है। (द० अभयं[illegible] पृ० ७० Ns Ed तथा भाव० प्र० पृ० २१५।)

यज्ञसोम—केवल कुलपति ही नहीं किन्तु मैं भी हर्ष के कारण जड़ हो गया हूँ इत्यादि ।

स च द्विविधो ज्ञेय । सस्कृतभाषी शुद्धः मालतीमाधवे सौदामनीवत् । तथाविध एव नीचेनानुगत सङ्कीर्ण । यथा रामानन्दे क्षपणककापालिकवत् ।

इस विष्कम्भक के दो प्रकार होते हैं। जिसमे केवल सस्कृत भाषा मे मवाद रहें उसे 'शुद्ध विष्कम्भक' समझना चाहिए जैसे मालतीमाधव मे सोदामनी के समान । इसी विष्कम्भक मे जब नीच पात्रों के कारण भाषाभेद हो जाए या दो भाषाओं का सम्मिश्रण हो जाए तो सङ्कीर्ण या मिश्रविष्कम्भक समझना चाहिए। जैसे रामानन्द मे क्षपणक और कापालिक पात्रों के मिलने से बनने वाला विष्कम्भक मिश्रविष्कम्भक ।

न महाजनपरिवारं कर्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा ।
ये तत्र कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वा ते स्युः ॥ ५१ ॥
(ना० शा० २०।८९)

नाटक या प्रकरण मे अनेक पात्रो को या नायक आदि के सम्बन्धी अनेक पात्रों को नहीं रखना चाहिए। इनमे जो महत्त्वपूर्ण या कार्यकर्त्ताओं मे मुख्य पुरुष हों उनमें से चार या पाँच व्यक्तियो को ही चुन कर रख लिया जाए।

नायकस्य तद्विपक्षस्य च ये ये महाजना प्रधानभूता न ते सर्वे नाटकप्रकरणयो परिचारकत्वेन व्यापारयितव्या । तेषा मध्ये कार्यबल म्भिनश्चत्वार पञ्च वा कर्तव्या । अपरे बहिरेव कार्यत. कीर्तनीया. । अङ्केऽप्येक एव निर्वाहयिता कर्तव्य । तत्रैकस्य क्रोधशोकादय. प्रत्यक्षमुखो दर्शयितव्या । यथाश्वत्थामाङ्के स एवैको निर्वाहयिता । तस्यैवैकस्य क्रोधशोकाविति ।

अर्थात् नायक या प्रतिनायक के जितने प्रधान सहायक या सम्बन्धी पुरुष हों उन सभी को नाटक या प्रकरण मे नहीं रखना चाहिए। इनमे से केवल चार या पाँच उन्हीं पात्रो को (आवश्यकतानुसार) ले लेना चाहिए जिनकी कार्य के लिए अपेक्षा रहे। शेष (दूसरे) पात्रो के कार्यों का केवल अलग से उल्लेख कर कर देना पर्याप्त

है। (एक) अङ्क में केवल उसी व्यक्ति का निवेश किया जाए जो किसी नाटकीय उद्देश्य या कार्य का निर्वाह करता हो। एक अङ्क में मुख्यतः एक व्यक्ति के ही शोक, क्रोध आदि भावों का निर्वाह रहना चाहिए। उदाहरणार्थ–'*अश्वत्थामाङ्क*' में केवल अश्वत्थामा नामक पात्र ही मुख्यत' कार्य का निर्वाहकपात्र है, अतएव इस अङ्क में केवल इसी पात्र के शोक, क्रोध आदि भावों को प्रमुखता से दर्शाया गया।

प्रधानवस्तुनिर्देशाद्भवति हि नाटकादीना नामेति। प्रधानस्य निर्देशाद्वस्तुनिर्देशाद् वा नाटकादीना नाम कर्तव्यम्। यथा 'जानकी-राघवम्' नाम नाटकम्। रामानन्दम्। वस्तुनिर्देशात्—(यथा) कुन्दमाला नाम नाटकम्। (प्रधानस्य निर्देशात्) प्रकरणमपि मालती-माधवं नाम। वस्तुनिर्देशात् मृच्छकटिकम् नाम प्रकरणम्। अङ्कोऽपि सुग्रीवाङ्क, शक्तिर्नामाङ्क इति।

नाटक का नाम कथावस्तु के किसी प्रमुख पात्र या घटना आदि के आधार पर रखा जाता है। अर्थात् नाटक आदि रूपकों का नाम-करण नाटकीय कथावस्तु में रहने वाले किसी प्रधान पात्र या घटना आदि विषयों के आधार पर करना चाहिए। उदाहरणार्थ (प्रधान पात्र के नाम पर रखे गए नामों में) *जानकीराघव* तथा *रामानन्द* नामक नाटक। कथावस्तु के आधार पर अथवा विषय के आधार पर रखे गए नाम वाले नाटक का उदाहरण है '*कुन्दमाला*' नाटक। इसी प्रकार प्रधान पात्र के आधार पर रखे गए नाम वाले प्रकरण का उदाहरण है "*मालतीमाधव*" तथा विषय या घटना के आधार पर रखे गए नामवाले प्रकरण का उदाहरण है '*मृच्छकटिक*'। इसी प्रक्रिया से न केवल रूपकों के किन्तु तदन्तर्वर्ती अङ्कों के भी नाम रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ सुग्रीवाङ्क या शक्त्यङ्क इत्यादि।

'देवतादर्शनान्तं भवति हि नाटकं नाम'।

नाटक की समाप्ति किसी देवता (या महापुरुष) के दर्शन के साथ करना चाहिए।

नाटकमिदं देवताना दर्शनान्त कर्तव्यम्। नायकस्याभ्युदयनिमि-त्तम्। यथा—वेणीसंहारे वासुदेव। नागानन्दस्यान्ते गौरी। देवर्षयोऽपि कश्चित्। तेऽपि देवतातुल्या एव।

नाटक की समाप्ति देवता के दर्शन के साथ करने का उद्देश्य है नायक का अभ्युदय बतलाना। क्योंकि बिना देवता या दिव्य सहायता के नायक का अभ्युदय संभव नहीं है। उदाहरणार्थ वेणीसंहार नाटक में भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन होना। नागानन्द नाटक में भगवती गौरी का दर्शन होना। कहीं-कहीं देवर्षियों का दर्शन भी पाया जाता है तो इन्हें भी देवता के तुल्य समझना चाहिए।

अथार्थोपक्षेपकाः—

अङ्कावतारोऽङ्कमुखं विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकेति च पञ्चास्मिन्नर्थोपक्षेपकाः स्मृताः ॥ ५२ ॥
(ना० शा० २१।१०४)

अर्थोपक्षेपक—नाटक आदि रूपकों में पाँच अर्थोपक्षेपक होते हैं। यथा—(१) अङ्कावतार (२) अङ्कमुख (३) विष्कम्भक (४) प्रवेशक तथा (५) चूलिका।

तत्र विष्कम्भकप्रवेशकावुक्तावेव। एतस्मिन्नाटके अर्थोपक्षेपका' अर्थप्रतिपादकास्तु इमे पञ्च बोद्धव्याः।

इनमें से विष्कम्भक और प्रवेशक के लक्षण बतलाए जा चुके हैं। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक नाटक के किसी कार्य या उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं [या रूपकान्तर्गत किसी विषय या घटना की सूचना देते हैं]।

अङ्कावतारः—

अङ्कावतार' अङ्कस्यावतारणम्। यथा—

समाप्यमान एकस्मिन्नङ्के ह्यन्यस्य सूचनम्।
समासतो हि नाट्योक्तैः सोऽङ्कावतर इष्यते ॥ ५३ ॥
(ना० शा० २१।११०)

अङ्कावतार—अङ्कावतार अर्थात् अङ्क को आगे बढ़ाना। जैसा कि (आचार्य भरतमुनि ने) लक्षण किया है :—

यदि किसी एक अङ्क की समाप्ति के अवसर पर ही मञ्च पर आने

1. द्वादशसाहस्री संहिता से उद्धृत इसी कारिका का बहुरूप मिश्र ने भी दशरूपक की टीका में उल्लेख किया है। द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र का विस्तृत संस्करण था। (द्रष्टव्य JOR Vol VIII पृ० ३१९—३२०)

वाले (अगले) अङ्क की संक्षेप से सूचना दी जाए तो उसे नाट्यशास्त्रज्ञ विद्वान् 'अङ्कावतार' कहते हैं।

यथा गौरीगृहे जीमूतवाहनः—

तापाच्चक्षणघृष्टचन्दनरसौ बाहू कपोलौ वहन्

सस्तैर्निश्चकर्णतालपवनैः संवीज्यमानाननः।

सम्प्रत्येष विशेषसिक्तहृदयो हस्तोज्झितैः शीकरैः

गाढायस्तरुदुःसहामिव दशां धत्ते गजानां पतिः॥

(नागा० १।२०)

जैसे (नागानन्द के) गौरीगृह नामक अङ्क में—

जीमूतवाहन—अत्यन्त गर्मी के कारण यह हस्तिराज उसी क्षण में गण्डस्थल की रगड़ से चूते हुए चन्दन के रस के लग जाने से पीले हो जाने वाले कपोलों को धारण करता हुआ, अच्छी तरह से स्थिर अपने कानों को चारों ओर घुमाते हुए उसकी हवा से पसीना झलते हुए, अपनी सूंड़ (हाथ) से फेंके हुए जलबिन्दुओं से वक्षःस्थल को सींचता हुआ अनिवार्य उत्कण्ठा से उत्पन्न विरही की असह्य दशा जैसी असहनीय अवस्था को प्राप्त कर रहा है।

अनेनार्थेनायमात्मनो मलयवत्युत्कण्ठयामागामिनीमवस्थां कथयन्नाऽऽनन्तरितसम्भोगमङ्के सूचयति।

इस प्रकार (नायक) स्वयं ही इस कथन के द्वारा अपनी दशा बतलाकर अपने साथ होने वाली मलयवती से मिलन की घटना को अपनी ही उत्कण्ठा के द्वारा बतला देता है जो अगले अङ्कों में घटित होती है।

अङ्कमुखम्

सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैरिति॥ ५४॥

येनैकत्र सकलानामङ्कानां सूत्रणं क्रियते तदङ्कमुखम्। यथा मालतीमाधवे मकरन्दकामन्दकयोरुक्तियो प्रथमाङ्कतः सौदामिनीवार्ता प्रस्तावतः कपालकुण्डलाघोरघण्टादिकथाभिः समस्तमेव कथितमङ्कजातमिति।

अङ्कमुख—नाट्य में होनेवाले सभी कार्यों का एक ही स्थान पर सूत्र रूप में कथन कर देना 'अङ्कमुख' समझना चाहिए।

अर्थात् जिनके द्वारा (नाटक आदि के) सभी अङ्कों की घटनाओं को एक साथ मिलाकर (एकसूत्र में) बतलाया जाए उसे 'अङ्कमुख' कहते हैं। जैसे—मालतीमाधव (प्रकरण) के प्रथम अङ्क में ही कामन्दकी और अवलोकिता के द्वारा परस्पर सम्भाषण में सौदामनी के प्रसङ्ग में कपालकुण्डला और अघोरघण्ट आदि के द्वारा किए जाने वाले सारे भावी कार्य और घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख करना।

चूलिका

संज्ञाशब्दोऽयं नेपथ्यस्थानस्थितानां कार्यवशाद्विहितानामालापानाम्। यथा—

अन्तःपटीमध्यगतैः सूतमागधबन्दिभिः।

अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा हि चूलिका ॥ ५५ ॥

(ना० शा० २०।१०७)

चूलिका—चूलिका शब्द नेपथ्य में विद्यमान पात्रों के प्रयोजनवश किये जाने वाले सम्भाषणों का नाम है। जैसा कि कहा है —

'जब सूत, मागध या बन्दीजन के द्वारा पर्दे के पीछे से ही किसी अर्थ का संकेत या सूचना दी जाए उसे 'चूलिका' कहा जाता है'।[1]

सूता. सारथय.। मागधाः स्तुतिपाठकाः। बन्दिनो नग्नाचार्याः। एभिर्यदर्थप्रकाशनं क्रियते सा चूलिका नाम।

सूत का अर्थ है रथ को चलानेवाला सारथी। मागध = जो स्तुति करता है। बन्दि का अर्थ है कोई नग्न साधु (सामान्यतः जैन साधु)। इन्हीं व्यक्तियों के द्वारा जब किसी अर्थ या कार्य की सूचना नेपथ्य से दी जाए तो उसे 'चूलिका' समझना चाहिए।

यथाश्वत्थामाङ्के सूतः—

आचार्यस्य त्रिभुवनगुरोर्न्यस्तशस्त्रस्य शोकात्

द्रोणस्याजौ नयनसलिलक्षालितार्द्राननस्य।

---

1. भावप्रकाशन में जो चूलिका का लक्षण दिया गया है वह (भी) उपर्युक्त लक्षण से समानता रखता है तथा इसी प्रकार नाट्यशास्त्र की आधी कारिका भी समानता लिए है। (द० भा० प्र० पृ० २१७ तथा ना० शा० २१।१०७)

मौलौ पाणिं पलितधवले न्यस्य कृत्वा नृशंसं
धृष्टद्युम्नः स्वशिविरमयं याति सर्वे सहध्वम् ॥ (वे० सं० ३।२०)

जैसे अश्वत्थामाङ्क मे—

सूत—पुत्रशोक के कारण निरस्त आचार्य द्रोण के–जो सारे संसार के गुरु हैं और जिनका मुँह अश्रु से गीला हो रहा है—बुढ़ापे से सफेद बालों वाले मस्तक को हाथ लगा कर धृष्टद्युम्न अपने पड़ाव पर लौटा जा रहा है और आप सभी देख रहे हैं।

यथा मुद्राराक्षसे तृतीयेऽङ्के—

बन्दी—

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरनभिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यसे । (मु० रा० ३।२१)

एषा नियमस्तूपलक्षणम् । अन्येऽपि पठन्ति ।

तथा मुद्राराक्षस मे जैसे—

बन्दी—उत्तम भूषणादि के धारण कर लेने मात्र से कोई स्वामी नहीं हो जाता किन्तु जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न कर पाए ऐसे आप जैसे व्यक्ति ही प्रभु हो सकते हैं।

सूत, मागध आदि पात्रों को उपलक्षण समझना चाहिए। यदि दूसरे पात्र भी इसी प्रकार नेपथ्य से किसी बात का कथन या संकेत देते हो तो उसे भी 'चूलिका' समझना चाहिए।

यथा वेणीसंहारे भीम

उरू करेण परिघट्टयतः सलीलं
दुर्योधनस्य पुरतोऽपहृताम्बरा या ।
दुःशासनस्य करकर्षणभिन्नमौलिः
सा द्रौपदी कथयत क्व पुनः प्रदेशे ॥ (वे० स० ६।३५)

उदाहरणार्थ वेणीसंहार नाटक मे भीमसेन की निम्न उक्ति चूलिका ही है।

भीम—लीलापूर्वक अपने हाथों से जांघ को ठोकने वाले दुर्योधन के समक्ष दुःशासन ने जिसका वस्त्र खींचा था और केशों को खींचने पर जिसकी वेणी खुल गयी थी वह द्रौपदी अब कहाँ है, बतलाइये ?

जानकीराघवे प्रथमाङ्के रावणस्य पाठ (यथा)—

रे क्षत्रिया शृणुत मे दशकन्धरस्य
दोर्दर्पनिर्जितसुराधिपतेः प्रतिज्ञाम् ।
सीता विवाहयतु कोऽपि धनुर्भनक्तु
नेष्याम्यहं पुनरिमामपहृत्य लङ्काम् ॥

इसी प्रकार जानकीराघव नाटक के प्रथमाङ्क में रावण की निम्न उक्ति भी चूलिका है—अरे क्षत्रियों, अपनी भुजाओं से इन्द्र को पराजित कर देनेवाले मुझ रावण की प्रतिज्ञा सुनो। चाहे कोई धनुष तोड़ कर सीता से विवाह कर ले परन्तु मैं उसी सीता का अपहरण कर अभी लङ्का ले जाता हूँ।

अतएव मुनिर्भरताचार्य. अश्मकुट्टश्च—

अन्तःपटीनिविष्टैर्यत् क्रियतेऽर्थनिवेदनम् ।
अन्तर्यवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थप्रकाशनम् ॥ ५६ ॥

(ना० शा० २१।१०७)

आचार्य भरतमुनि और अश्मकुट्ट आचार्य ने भी कहा है कि :—

यदि पर्दे के पीछे विद्यमान (किसी) पात्र के द्वारा किसी अर्थ या घटना की सूचना दी जाए अथवा किसी अदृश्य पुरुष के द्वारा पर्दे के अन्दर छिप कर किसी अर्थ का प्रकाशन किया जाए तो उसे 'चूलिका' समझना चाहिए।

सन्धयः—

पञ्चसन्धि नाटकं कर्तव्यम् । अस्य नाटकस्य पञ्च सन्धयो भवन्ति इति नियमः । यथोच्यते—

पूर्णसन्धि तु तत् कार्यं हीनसन्ध्यपि वा पुनः ।
नियमात् पूर्णसन्धिस्स्याद्धीनसन्धिस्तु कारणात् ॥ ५७ ॥

(ना० शा० २१।१६)

सन्धियाँ—नाटक में पाँच सन्धियाँ होती हैं। अर्थात् नाटक में पाँच सन्धियों को आवश्यक रूप में रखने का नियम है। जैसा कि कहा भी है—यह पाँच सन्धियों से युक्त या फिर कुछ सन्धियों से हीन भी

हो सकता है। नियम के अनुसार सारी सन्धियों से युक्त नाटक को होना चाहिए पर किसी कारणवश इसे कम सन्धियोंवाला भी किया जा सकता है।

यत् पूर्णसन्धि तत् पञ्चसन्ध्येव कर्तव्यम्। यस्य पुनराख्यानवस्तुनः स्वल्पत्वाद्धीयते सन्धिस्तत् खलु हीनसन्धि स्यात्। तत्रापि नियमः।

यथा—चतुर्थस्यैकलोपे तु द्विलोपे त्रिचतुर्थयोः।
द्वितीयत्रिचतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ॥ ५८ ॥
(ना० शा० २१।१७)

सभी या पूर्ण सन्धियों से आशय है कि नाटक में पाँचों सन्धियों का रहना आवश्यक है, परन्तु कथावस्तु के छोटे होने के कारण सन्धियाँ कम करना पड़े तो उसे 'हीनसन्धि' नाटक कहते हैं। सन्धियों को कम करने का भी नियम है [तथा तदनुसार ही आवश्यकता होने पर सन्धियाँ कम की जाएँ] एक सन्धि कम करने की दशा में चौथी सन्धि कम की जाए, यदि दो सन्धियाँ कम करना हो तो तीसरी और चौथी सन्धि कम करना चाहिए तथा तीन सन्धियाँ कम करने की स्थिति में दूसरी, तीसरी तथा चौथी सन्धि को कम कर देना चाहिए [इसके अतिरिक्त प्रथम तथा अन्तिम सन्धि को रूपकों में कम नहीं किया जाता है।]

हीनसन्धिनि एकस्य सन्धेर्लोपेऽदर्शने चतुर्थस्य सन्धेरदर्शनम्। द्वयोस्तृतीयचतुर्थयोः। त्रयाणां द्वितीयतृतीयचतुर्थानामित्यर्थः। प्रासङ्गिकस्याधिकारिकस्यार्थे वर्तमानस्य यदि विस्तरात् सन्धयो विधातुं पञ्चापि शक्यन्ते तदायं नियमो नावश्यकर्तव्यतयाऽभ्युपगन्तव्यः। यथा—

यदि सन्धियाँ कम करना हुए हो तो एक सन्धि को कम करने की स्थिति में चतुर्थसन्धि को, दो की अपेक्षा में तीसरी और चौथी सन्धियों को तथा तीन सन्धियों कम करने की अपेक्षा हो तो दूसरी, तीसरी तथा चौथी सन्धियों का कम कर देना चाहिए, परन्तु आधिकारिक या प्रासंगिक कथावस्तु के विस्तार करने पर यदि पाँचों सन्धियाँ बन जाएँ तो हीनसन्धि के नियम को आवश्यक मानकर उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए। जैसा कि आचार्य भरतमुनि ने भी कहा है —

प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न त्वेष नियमो भवेत् ।
यद्वृत्तं तु भवेत् किञ्चित्तद्योज्यमविरोधतः ॥ ५९ ॥
(ना० शा० २१।१८)

यह नियम प्रासंगिक कथावस्तु पर लागू नहीं होता क्योंकि उनका कार्य प्रधान कथा या आधिकारिक कथावस्तु का उपकार या सहायता करना होता है। इसलिये जो भी कार्य या इतिवृत्त हों उन्हें बिना किसी विरोध के सन्धियों में रखना चाहिए।

वृत्तं यद् तदविरोधतः सन्धीना यथोक्तव्यम् । सन्धि परस्परं कथांशानां सङ्घटनम् । यथोक्तम्—सन्धीयन्तेऽर्था परस्परमेभिरिति सन्धयः । यथा—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहणञ्चेति । एषां लक्षणं मातृगुप्त एतादृशं वर्णयति—

इनमें जो भी कार्य या इतिवृत्त हों उन्हें पूर्णतः सन्धियों में रखना चाहिए परन्तु वे परस्पर सहकारी हों यह आवश्यक है। सन्धि का अर्थ है कथावस्तु के अंश या विषयों का परस्पर संयोजन या जोड़। जैसा कि कहा भी है कि—सन्धि उसे कहते हैं जिनमें परस्पर कथावस्तु के उद्देश्य या कार्यों का जोड़ या संयोग रहे। इन सन्धियों के नाम हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श तथा (५) निर्वहण। मातृगुप्त आचार्य ने इनका इस प्रकार लक्षण दिया है :—

प्रार्थना विपर्यौत्सुक्यमारम्भो हेतुचिन्तनम् ।
बीजं साध्योपगमनं मुखसन्धाविति त्रयम् ॥ ६० ॥

साध्य या उद्देश्य के लिए अभिलाषा होना 'औत्सुक्य', साध्य की प्राप्ति के लिए कारणों का विचार करना 'आरम्भ' तथा साध्य की ओर अभिमुख होना या उसकी अंशतः प्राप्ति होना 'बीज' होता है। ये तीनों मुखसन्धि में रहते हैं [तथा ये ही तीनों इसके अंग होते हैं]

लाभः साधनसम्पत्तिः प्रसरः प्रस्तुता क्रिया ।
बीजसाधनसम्बन्धः इति प्रतिमुखे त्रयम् ॥ ६१ ॥

साध्य की प्राप्ति के साधन जुट जाना 'लाभ', साध्य की प्राप्ति

के लिए किये गये कार्यों का विस्तार हो जाना 'प्रसर' तथा बीजे का साध्य से सम्बद्ध हो जाना 'बिन्दु' कहलाता है। ये तीनों प्रतिमुख सन्धि में होते हैं।

सम्भोगो योग्यता तत्र उद्भेदः सिद्धिदर्शनम् ।
मित्रसम्पत् पताकेति त्रयं गर्भे प्रकीर्तितम् ॥ ६२ ॥

आनन्द का उपभोग करना या उसे करने की पात्रता होना 'संभोग', कार्य की सिद्धि का आभास होना या उसका दिखलाई पड़ने लगना 'उद्भेद' तथा सभी मित्र आदि का सहायतार्थ एकत्र हो जाना 'पताका' कहलाता है। ये तीनों गर्भसन्धि में रहते हैं।

नाशः कारणवैधुर्यं किञ्चिच्छ्रेयः सविघ्नता ।
पुनर्बीजेन सम्पत्तिर्विमर्शे त्रितयं भवेत् ॥ ६३ ॥

मुख्य कार्य या साध्यसिद्धि में या उसके कारणों में विघ्नों का उत्पन्न हो जाना या उनका घट पड़ जाना 'नाश', विघ्नों के साथ अभीष्ट प्राप्ति का योग बनना 'सविघ्नता' तथा बीज का पुनः अपने रूप में प्राप्त होना 'सम्पत्ति' कहलाती है। ये तीनों विमर्श-सन्धि में रहते हैं।

अभिप्रेतार्थसम्पत्तिः सिद्धिः साध्यस्य सिद्धता ।
प्रारब्धस्य च निर्वाहो भवेन्निर्वहणे त्रयम् ॥ ६४ ॥

इष्टार्थ की पूर्णतः उपलब्धि होना 'अभिप्रेतार्थसम्पत्ति', उद्देश्य का सिद्ध हो जाना 'सिद्धि' तथा आरम्भ किये हुए कार्य का पूर्णतः निर्वाह करना—'निर्वाह' कहलाता है। ये तीनों निर्वहणसन्धि में रहते हैं।

साधकः साधनं साध्यं सिद्धिः सम्भोग एव च ।
इत्याहुः केऽपि नाट्यज्ञाः सन्तः साध्यादिपञ्चकम् ॥ ६५ ॥
इति

कुछ नाट्याचार्यों के मत में साध्यादि पञ्चक इस प्रकार रहते हैं। यथा—(१) साधक, (२) साधन, (३) साध्य, (४) सिद्धि तथा (५) सम्भोग।

---

१ नाटकलक्षणरत्नकोश में 'चित्तसाधन—सम्बन्ध.' पाठ था परन्तु इसी ग्रन्थ के विवरण में 'बीज' शब्द प्राप्त होता था अतः हमने सङ्गति लगाने के लिए हमने मूल में 'बीजसाधनसम्बन्ध' पाठ दे दिया है।

तत्र यथा—मायामदालसे नाटके प्रथमेऽङ्के गालवस्य महर्षेस्ताल-केतुवधमिच्छत प्रार्थनाया कुवलयाश्वस्य राज्ञस्तपोवनगमनौत्सुक्य-मारम्भ.। तस्यैव सवादे—

अब हम इनका लक्षणसमन्वय करते हैं। जैसे—मायामदालस नामक नाटक के प्रथमाङ्क में तालकेतु नामक राक्षस के वध की अभिलाषा से गालव ऋषि द्वारा प्रार्थना करना 'औत्सुक्य' तथा कुवलयाश्व राजा का वन में जाने की उत्कण्ठा करना 'आरम्भ' है। जैसे राजा के साथ किया गया गालव का निम्न सवाद :—

एते क्षमा वयमपि द्विषतो निरोद्धु
किन्त्वेप दुष्टदमिनस्तव राजधर्म ।
तत्सौख्यमुत्सृज दिनानि कियन्ति शाक
मुष्टि पचस्व मम तात गृहं भजस्व ॥

[गालव—] "हम भी अपने शत्रु का नाश करने की सामर्थ्य रखते हैं परन्तु दुष्टों का दमन करना राजा का ही कर्तव्य (अधिकार) है। अतएव हे तात, कुछ दिन और सुख की चिन्ता छोड़िये, फलों की मुट्ठियों से सन्तोष कीजिये और मेरे इसी घर में निवास कीजिये।"

अत्र राजधर्मस्याख्यानात् 'यागस्य निष्पन्नषष्ठांशश्च मे भवितेति' गमनहेतुचिन्तनम् ।

इस प्रकार इस कथन में राजधर्म का उल्लेख कर तपोवन में आने का उद्देश्य स्पष्ट किया गया कि 'अब निर्विघ्न यज्ञ सम्पन्न किये जाएँगे तथा यज्ञ का षष्ठांश भाग भी प्राप्त होता रहेगा।'

बीजं तत्रैव—

देवरातेर्दुहितुरभवद्गालवस्तालकेतु.
पौरस्त्याद्रेरधरनगरी यश्च दर्पेण शास्ति ।
मायायोगादहरत सुता मेनकायाश्च पाप
स प्रत्यूह क्रतुपु कुरुते दुष्प्रधर्षो मुनीनाम् ॥ इति ।

तथा 'बीज' का उदाहरण इसी नाटक के निम्न श्लोक में है :—
असुर देवरात की पुत्री ने तालकेतु नामक बालक उत्पन्न किया जो पूर्वी

पर्वतमाला के नीचे बसी हुई नगरी में साभिमान शासन कर रहा है। इस पापी तालकेतु ने अपनी माया द्वारा मेनका की पुत्री [मदालसा] का अपहरण कर लिया और यही अपने जघन्य आचरणों से मुनियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों में (निरन्तर) विघ्न उत्पन्न करता रहता है।

इति मेनकासुताया मदालसाया हरणं तेन तालकेतुना कृतमिति कथयता मदालसाया प्रत्याहरणस्य फलभूतस्य बीजमिदमुक्तं, तच्च साध्योपगमनं भवति। मुखसन्धि त्रिभिर्लक्षणैर्युक्तं स्यादित्यर्थः। लाभो मदालसायास्तस्या द्वितीयेऽङ्के यत् पाणिग्रहणं स एव साधनसम्पत्तिः। तेनैव ऋषिणा दत्तेन मार्गणेन तालकेतुवधमास्थाय मार्गणेनास्य सम्पत्तिः। यदाह सुषमा—

तथा मेनका की पुत्री मदालसा का तालकेतु राक्षस द्वारा किया गया अपहरण बतलाकर उसी को फिर वापस लौटालानारूपी लक्ष्य का यहाँ जो बीजारोपण किया गया उसे 'बीज' समझना चाहिए। यही साध्य या उद्दिष्ट कार्य के प्रति होने वाला झुकाव पैदा करता है। इस प्रकार मुखसन्धि में होनेवाले तीनों तत्व या अङ्ग बतलाए गए। तथा द्वितीयाङ्क में उसी मदालसा का होनेवाला विवाह ही लक्ष्य की उपलब्धि के लिए होने वाली साधन सम्पत्ति का जुटाने वाला होने से 'लाभ' है तथा तालकेतु के वध के एकमात्र करण बाण को ऋषि द्वारा नायक कुवलयाश्व को प्रदान करना ही इष्टार्थ की प्राप्ति है। जैसा कि सुषमा के निम्न कथन से स्पष्ट है :—

तव सख्युरयं बाणो हत्वा कन्यापहारिणम्।
उन्मोचयितुमायातो मानसीं त्रिशिरः सुताम्॥ इति

तुम्हारे मित्र को दिया हुआ यह बाण कन्या के अपहर्ता उस दुष्ट का हनन करेगा। यह बाण वास्तव में ऋषि की मानस पुत्री (मदालसा) की मुक्ति के लिए ही आया है।

तत्र यथा पातालकेतु —'आः पापे, त्वं मे आतरं व्यापाद्य गच्छसी'ति गमननिरोधं कुर्वाणस्य पुनर्नरानुष्ठानं प्रसरः। प्रियाया धर्मभगाया प्रसरान्। तत्रैव—

इसी नाटक में पातालकेतु का शत्रुता प्रकट करते हुए मदालसा को रोक कर यह कहना कि—"अरी पापिन, तू मेरे भाई को मरवा कर कैसे चली जाएगी"—आदि से फिर शत्रुता बढ़ जाती है। क्योंकि यहाँ निरोध या रोकने की क्रिया द्वारा शत्रुता का बढ़ाना दर्शाया गया है जो 'प्रसर' है। तथा इसी नाटक में :—

मदालसा—(सभयम्) अज्जउत्त, परित्तायाहि। रुधइ मं पुणो वि अअं हदासो। [आर्यपुत्र, परित्रायस्व। रुणद्धि मा पुनरप्ययं हताश]

मदालसा—(डरते हुए) आर्यपुत्र, बचाओ, यह आततायी मुझे फिर रोकना चाहता है।

इति रोधात् पुनरपि हरणस्योद्घाटो बिन्दु। स एव साधनसम्बन्धः। यथा तत्रैव कुवलयाश्व :—

इस प्रकार मदालसा को रोकने की घटना की पुनरावृत्ति होना उसके अपहरण की पूर्वघटना को पुनः स्मरण करवा देता है। यही बिन्दु है। तथा यही साध्य से साधन का सम्बद्ध होना भी है जो इसी नाटक में कुवलयाश्व के निम्न कथन में देखा जा सकता है।

कृत्स्नामरातिनिधनाध्वरलब्धदीक्षं
पाणौ धनुर्मम वरोरु कृतं भयेन।
पश्याचिरात् खरमुखेपुनिकृत्तदैत्य—
मूर्धावलीकृतबलीनि दिगन्तराणि॥

कुवलयाश्व—हे सुन्दरी, तुम मत डरो, देखो, मेरे हाथ में जो धनुष है उसने देवताओं के समस्त शत्रुओं के नाशरूपी यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कर ली है। अब तुम मेरे तीखीधारवाले बाणों से मारे गए राक्षसों के मस्तकों की पांतों से दूर तक भरी हुई दिशाओं को दी जाने वाली बलि को देखो।

इति वचसा साधनैनैपुणा (च) सह सम्बन्धः सूचितः। इति त्रियुतं प्रतिमुखम्। तस्यैव तृतीयेऽङ्के—

इन शब्दों के द्वारा बाणरूपी साधन से साध्य [दिशाओं की बलि या शत्रुवध] का सम्बन्ध स्पष्ट रूप में अभिहित किया गया है।

यही 'बिन्दु' है। इस प्रकार हमने प्रतिमुखसन्धि के तीन तत्व [भी] बतलाए। [तथा] इसी नाटक के तीसरे अङ्क में—

> कण्ठे वरोरु विनिवेशय मे मृणाल—
> नालाधिदैवतमिमां निजबाहुवल्लीम्।
> या प्राप्य दैत्यसुभटारभटीकठोर—
> जाताहवश्रममहं न पुनः स्मरामि ॥

हे सुन्दरी, कमलतन्तु की अधिष्ठात्री देवता के समान अपनी कोमल बाहुलता को तुम मेरे गले में लगाओ जिससे क्रूर दैत्यों के साथ किये गए भयंकर युद्ध से होनेवाले श्रम को मैं भूल जाऊँ।

इति राज्ञः सुरतेच्छा सम्भोगः, तत्र च योग्यता। यथा—मदालसा—'फुरइ मे दाहिणं लोअणं' [स्फुरति मे दक्षिणं लोचनम्] इति।

उक्त कथन में राजा का विलासों की आकांक्षा या आनन्द का उपभोग की आकांक्षा करना ही 'सभोग' है तथा इसकी पात्रता भी राजा में ही आती है। जैसा कि निम्न उदाहरण में :—मदालसा—मेरी दाहिनी आँख फड़क रही है।

अनिष्टस्य वियोगस्य उद्घाटः उद्भेदः। तत्र प्रतिपात सिद्धिदर्शनम्। राज्ञः कल्याणाय स्फुरतीति वाक्यम्।

इसमें अनिष्टकारी वियोग का प्रकट होना बतलाया गया है तथा उसी दुःख का नाश बतलाना ही कार्य की सिद्धि का दर्शन होने से 'उद्भेद' है। इसलिए राजा के मङ्गल की अभिलाषा में ही मदालसा की आँख फड़कने का शुगुन बतलाया गया है।

तत्रैव कुटिलकमायया मृत्यवे अर्चिषि पतिता मदालसा न दह्यता दहनेन मैत्री दर्शितेति मित्रसम्पन्मित्रलाभः। इति त्रिगुणो गर्भः।

इसी प्रकार कुटिलक द्वारा मदालसा को मारने के लिए आग में फेंक देने पर भी अग्नि का उसे न जलाना ही मित्रों का सम्पादन में एकत्र होना है। इस प्रकार इसी नाटक में लक्षणानुसार 'मित्रसम्पत्' भी विद्यमान है। इस प्रकार 'गर्भसन्धि' के भी तीनों तत्त्व बतलाए गए।

चतुर्थेऽङ्के मदालसाया नाशो दर्शित स च राज्ञः मुख्यकारणस्य वैधुर्ये भवेत्। तत्रैव वृहदश्वेन पितुस्तपःफलं कथयतो राज्ञ श्रेय कथितम्। तत्र च गृहमानीय तस्य समर्पयितव्येति सविघ्नतया तालकेतु प्रभृतीना वधे बीजस्य सम्पत्तिरिति त्रियुतो विमर्शः।

तथा इसी नाटक के चतुर्थाङ्क मे मदालसा का खोना बतलाया गया जो राजा के दुर्भाग्य के कारण मुख्यकार्य या साध्यसिद्धि मे विघ्न होने से 'नाश' है। तथा इसी मे वृहदश्वने अपने पिता के तपस्या के फल का वर्णन करते हुए राजा का भावी सुख बतला देने से 'सविघ्नता' है। है। तथा इसी नाटक मे मदालसा को घर लाकर राजा को प्रदान करने का कार्य करने मे विघ्नभूत तालकेतु है अतः उसी के वध के लिये सारे साध्यसाधनो का पुन जुटाना ही 'सम्पत्ति' है। इस प्रकार 'विमर्शसन्धि' के तीन तत्व होते है।

सप्तमाङ्के शत्रुजित सुबाहो मदालसायाः समागमेनाभिमेतार्थस्य सम्पत्तिः कथिता। सिद्धिस्साध्यसिद्धता। यथा—

(तथा) अन्तिम अङ्क मे शत्रु के विजेता सुबाहु और मदालसा के लौट आने की घटना—'अभिमेतार्थसम्पत्ति' है।

उद्देश्य का सिद्ध हो जाना ही 'सिद्धि' होता है जो निम्न उदाहरण मे है —

'शोकाद्देवी त्वयि निपतिता त्वच्छिखाभिर्न दग्धा
लब्धो वत्स सुरपतिरिपुध्वंसयोग्य सुबाहु।' इति

शोक की अवस्था मे देवी अग्नि मे गिर गयी थी पर कृपा कर आपने उसे अपने शोलों से नहीं जलाया। और मैंने अपने पुत्र सुबाहु को भी प्राप्त कर लिया जिसको मारने की अनेक चेष्टाएँ देवराज इन्द्र के शत्रुओं (असुरों) ने की थीं।

असुराणां ध्वंस साध्यस्तस्य सिद्धता सूचिता। उपक्रान्तस्याविरोधेन सकलस्य समापनं निर्वाह। इति पञ्चसन्धिलक्षणम्। तथा च भीमविजयेऽपि साधको भीम, साधनं वासुदेवेन दत्ता गदा, साध्यं दुर्योधननिधन, युधिष्ठिरस्य राज्यं (राज्यप्राप्ति) सिद्धि, भीमस्य कृतकृत्यता नीताया द्रौपद्या सुरतोपभोग सम्भोग' इति साध्यादिपञ्चकम्। मातृगुप्तेन सङ्क्षेपात् सन्ध्यङ्गनिरपेक्षमेवेदं लक्षणमुक्तम्।

इस प्रकार इसमें असुरों का नाश रूपी साध्य की सिद्धि बतलाने से-'*सिद्धि*' है। और इस प्रकार आरम्भ किये हुए समस्त कार्यों का पूर्णत: निर्वाह हो जाने के कारण-'*निर्वाह*' भी बन जाता है।

यहाँ हमने मातृगुप्त के अनुसार घटित होने वाले तत्वों को दर्शाते हुए पाँचों सन्धियों के लक्षण बतलाये।

साध्यादि पञ्चक को 'भीमविजय' पर भी घटित किया जा सकता है। यथा—*साधक* है भीमसेन, *साधन* है भगवान् वासुदेव द्वारा दी हुई गदा, *साध्य* है दुर्योधन का वध तथा *सिद्धि* है युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति। अपने उद्योग तथा शौर्य से भीमसेन द्वारा द्रौपदी की अभिलाषाओं की पूर्ति करना तथा उसी के साथ किये गए विलास आदि कार्य '*सम्भोग*' है। इस प्रकार उक्त नाटक में अन्य आचार्यों द्वारा बतलाए गए साध्यादि पञ्चक भी देखे जा सकते हैं।

मातृगुप्ताचार्य ने यह लक्षण बिना सन्ध्यङ्गों को बतलाते हुए केवल संक्षेप में (कथावस्तु के प्रकार विभाजन आदि का निदर्शन कराने के लिये) बतलाया है।

मुखसन्धि

समग्रलक्षणं नाटकमुद्दिदिक्षुराचार्यः पुनराह—

नाटक के सम्पूर्ण लक्षण को विस्तार से बतलाने की इच्छा से आचार्य [भरत मुनि] ने मुखादिसन्धियों के क्रमश: लक्षण बतलाते हुए सर्वप्रथम मुखसन्धि का लक्षण इस प्रकार किया है।

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
काव्यशरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्॥ ६६॥
(ना० शा० २१।३७)

जब अनेक रस तथा भावों की अभिव्यञ्जनाओं के साथ नाटक के बीजार्थ की उद्भावना की जाए—जो नाटकीय काव्य रचना या नाटकीय कथावस्तु की अनुकूलता को सम्पन्न करती हो—तो वह '*मुखसन्धि*' कहलाती है।

बीजं नाटकस्य फलभूतस्य हेतुः। बहुप्रकारश्चार्थ: सम्भवो यस्या सा तथोक्ता उत्पत्तिरिति। काव्यशरीरं नाटकस्य वस्तु। यत्रैवंविधं

बीजमुत्पद्यते तन्मुखम् । यथा बालचरिते रामायणे विश्वामित्रेण रामे कथितम्—

नाटक की फलप्राप्ति का मुख्य कारण 'बीज' कहलाता है। इससे कथावस्तु के अनेक कार्यों या विषयों की उत्पत्ति होती है। काव्यशरीर का अर्थ है नाटकीय कथावस्तु का ढांचा। जहाँ इसी प्रकार बीज की उद्भावना हो उसे 'मुखसन्धि' समझना चाहिए।

उदाहरणार्थ 'बालचरित' में रामायण की कथावस्तु में श्रीराम के प्रति विश्वामित्र की यह उक्ति—

रक्षोरुधिरपानस्य बाणाना मम राघव ।

इदमाचमन तावत्ताडकास्त्रं भविष्यतीति ॥

हे राम, तुम्हारे बाणों को राक्षसों का रुधिर पान सुलभ रहे और इस ताडका का नाश रूपी कार्य इनका आचमन बने।

बीज राक्षसाना वधफलस्य मुख एवोक्तमतो मुखम्

यहाँ राक्षसों का वध करने रूपी फल का आरम्भ में ही उल्लेख कर देने में यह 'मुखसन्धि' का उदाहरण है।

साहचर्येण बीजस्य मुख एव हि केचन ।

बिन्दुमादौ प्रकुर्वन्ति नाटकार्थविदो जनाः ॥ ६७ ॥

बीजबिन्दू मुखे दर्शयितव्याविति पक्षान्तरमेतत् ।

कुछ आचार्यों का मत है कि साहचर्य के कारण मुखसन्धि में बीज के साथ बिन्दु को भी आरम्भ में ही रख देना चाहिए। अर्थात् इन आचार्यों का पक्ष यह है कि मुखसन्धि में ही एक साथ बीज तथा बिन्दु की स्थापना की जाए।

क्वचित् क्रमश एव निर्देशः ।

कहीं कहीं इन दोनों को क्रमशः प्रस्तुत करने का (भी) निर्देश मिलता है।

तथान्यथाप्याचार्य आह—

आचार्य ने इसका एक दूसरा लक्षण भी बताया है। जैसे :—

यस्मिन्नाख्यानबीजस्य श्लेषेण च्छाययापि वा ।

क्रियते कीर्तनं सद्भिस्तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ६८ ॥

जहाँ श्लेष या छाया के द्वारा नाटकीय कथा के बीज का उल्लेख किया जाए तो उसे (भी) बुधजन '*मुखसन्धि*' जानें।

तदेतद्बीजस्य कीर्तनं पूर्वमुदाहृतमेव। तस्य द्वादशाङ्गानि यथा—

इस प्रकार अभिहित बीज का लक्षण उदाहरण आदि पहिले बतलाया जा चुका है। इस मुखसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं यथा :—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ॥ ६९ ॥
उद्भेदः करणं भेदो द्वादशाङ्गानि वै मुखे ॥ ७० ॥ इति
[ना० शा० २१।५३, ५४]

मुखसन्धि के बारह अङ्ग ये हैं—

(१) उपक्षेप (२) परिकर (३) परिन्यास (४) विलोभन (५) युक्ति (६) प्राप्ति (७) समाधान (८) विधान (९) परिभावना (१०) उद्भेद (११) करण तथा (१२) भेद।

उपक्षेपः

तत्र काव्यार्थोत्पत्तिरुपक्षेपः। यथाह—

उपक्षेप—'उपक्षेप' का लक्षण है (कवि की) नाट्यरचना में प्रस्तुत प्रयोजन या विषय का आरम्भ होना। जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है :—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ॥ ७१ ॥
(ना० शा० २१।६५)

नाट्यरचना के प्रयोजन या विषय को संक्षेप में निर्देशित करना या आरम्भ करना 'उपक्षेप' कहलाता है।

यथा वेणीसंहारे प्रथमाङ्के—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।। (वे० १।७)

जैसे वेणीसंहार के प्रथमाङ्क में :—

सन्धि होने पर विद्वेषाग्नि शान्त हो जाने के कारण पाण्डव भगवान् श्रीकृष्ण के साथ प्रसन्न हो जाएँ और अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल पर अधिकार कर लेने वाले कौरव भी अपने सेवकों के साथ स्वस्थ हो जाएँ । (शत्रुओं के मूलोच्छेद होने के कारण वैराग्नि के शान्त हो जाने से पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक रहें तथा अपने रुधिर को पृथ्वी पर फैलाते हुए कौरव अपने सेवकों सहित स्वर्ग को सिधारें ।)

जानकीराघवे प्रथमाङ्के—

रामस्य रावणकुलक्षयधूमकेतो
प्रीतिं तनोत्यमृतसिन्धुरियं कथैव ।
वाचः कवेः सहृदयश्रुतिरत्नधारी—
पेया भवन्तु न भवन्तु कृतं ग्रहेण ॥

तथा *जानकीराघव* नाटक के प्रथमाङ्क में (भी) :—

राक्षसों के कुलों का विनाश करने में धूमकेतु के समान भगवान् श्रीरामचन्द्र जी की प्रस्तुत कथा अमृतसागर के समान है, जो प्रीति का विस्तार करती है । इसकी काव्य रचना चाहे कतिपय सहृदय-शिरोमणिजन की कर्णपेय बने या न बने इस विषय में किसी आग्रह की अपेक्षा (लेखक) नहीं (रखता) है ।

परिकरः

समुत्पन्नेऽर्थे यदर्थबाहुल्यं स परिकरः । यदाह—

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः ॥ ७२ ॥

(ना० शा० २१।६५)

परिकर—आरम्भ की हुई इसी कथावस्तु के उद्देश्य या कार्य का आगे और विस्तीर्ण हो जाना 'परिकर' समझना चाहिए । जैसा कि आचार्य (भरतमुनि) ने कहा है :—'प्रस्तुत काव्यार्थ [कथावस्तु के कार्य या

युक्ति—उद्देश्य सिद्धि के लिये योजना या कार्य पर विचार करना 'युक्ति' कहलाता है।

यदाह—

'सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते'। (ना० शा० २१।६७)

जैसा कि कहा भी है —

प्रयोजन या कर्तव्यों का निश्चय करना 'युक्ति' कहलाता है।

तद् यथा—

अहृतास्त्रोऽपि बलवान् हन्त्यरिं पश्य शार्ङ्गिणः ।

आसन्नस्त्राणि कान्यस्य हिरण्यकशिपोर्वधे ॥

जैसे —

सामर्थ्यवान् पुरुष [अपनी शक्ति के कारण] बिना [बड़े] शस्त्रों के भी अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जरा विष्णु को तो देखो, उनके पास हिरण्यकशिपु के वध के समय कैसे और कितने शस्त्र विद्यमान थे ?

प्राप्तिः

मुख्यार्थस्य यदुपगमनं सा प्राप्तिः ॥ ७६ ॥

प्राप्ति—लक्ष्य या मूल उद्देश्य की प्राप्ति होना *'प्राप्ति'* कहलाता है।

यदाह—

'मुख्यार्थस्योपगमनं प्राप्तिरित्यभिधीयते'। (ना० शा० २१।६७)

जैसा कि कहा भी है —

मुख्य प्रयोजन या इष्ट विषय का साहचर्य 'प्राप्ति' कहलाता है।

तद् यथा (वेण्याम्)—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्

दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।

सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू

सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ (वे० १।१५)

जैसे —मैं युद्ध में उन सौ कौरवों को क्रोध से मदन न करूँ? दुःशासन की छाती का लहू भी (प्रतिज्ञानुसार) न पियूँ ? अपनी

गदा से (मैं) 'सुयोधन की जंघाओं को न तोड़ूँ और तुम्हारे पूज्य महाराजा (युधिष्ठिर) इसी विनिमय [अर्थात् पांच गाँवों की प्राप्ति] पर कौरवों के साथ सन्धि करें?

समाधानम्

बीजार्थस्योपगमनं यत्तत्समाधानम्।

समाधान—बीज का अपने लक्ष्य की ओर बढ़जाना [या बीज के लक्ष्य का ठीक तरह से जम जाना] '*समाधान*' कहलाता है।

यदाह—

बीजार्थस्योपगमनं समाधानमिति स्मृतम्॥ ७७॥

(ना० शा० २१।६८)

जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है —
बीजार्थ की उपलब्धि हो जाना 'समाधान' समझना चाहिए।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥

(वे० १।२७)

जैसे :—

युद्धस्थल रूपी सागर के गम्भीर जल में परस्पर अभिहत हाथियों के शीर्ण एवं क्षतविक्षत मस्तकों से निकलते हुए खून, मांस, चर्बी और मस्तिष्कों के कीचड़ में धसे हुए रथों पर पैर रख कर जहाँ योद्धा आक्रमण कर रहे हों (और) रक्त पान करने पर प्रसन्न होकर नाचने वाली शृगाली के अमंगल शब्दों को तुरही मान कर नाचने वाले कबन्धों से भयावह हो जानेवाले प्रदेशों में घूमने का पाण्डवों को बहुत अभ्यास है।

विधानम्

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानम्।

विधान—सुख और दुःखों से मिश्रित कार्य का होना '*विधान*' कहलाता है।

यदाह—

सुखदुःखान्वितो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ७८ ॥

(ना० शा० २१।६८)

जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है —

जो घटना, विषय या कार्य सुख दुःख से युक्त या मिश्रित रहे उन्हें 'विधान' समझना चाहिए।

तद् यथा बालचरिते—

उत्साहातिशयं वत्स तव बाल्यञ्च पश्यतः ।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥

जैसे बालचरित में —

हे पुत्र, जब मैं एक ओर तुम्हारे इस अतिशय साहस को और दूसरी ओर तुम्हारी बाल्यावस्था को देखता हूँ तो मेरा मन एक साथ हर्ष और विषाद से भर जाता है।

(यथा वा) वेण्यां भीमः—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

(वे० १।२६)

या फिर वेणीसंहार के निम्न पद्य में —

भीम—निरन्तर अपमान की प्राप्ति से होने वाले कष्ट और लज्जा से मलिन मुखवाले इस भीम को अब तुम बिना कौरवों के समाप्त होने तक नहीं देखोगी।

परिभावना

कुतूहलान्तरादायी स्यादर्थः परिभावना ॥ ७९ ॥

(ना० शा० २१।६९)

परिभावना—ऐसा आदरपूर्ण कथन जिसके मध्य में कौतूहल सन्निविष्ट रहे 'परिभावना' समझना चाहिए।

यदाह द्रौपदी—णाध, किं एसो खणे खणे समरदुन्दुही ताडी-अदि [नाथ, किमेष क्षणे क्षणे समरदन्दुभिस्ताड्यते ?] ।

जैसा द्रौपदी का यह कहना—'स्वामिन्, युद्ध का यह नगाड़ा बार बार क्यों पीटा जा रहा है' ?

उद्भेदः—

बीजार्थस्य प्ररोहो यः स उद्भेद इति स्मृतः ॥ ८० ॥

(ना० शा० २१।६९)

उद्भेद—बीज के अर्थ या कार्य का अंकुर के रूप में फूट पड़ना या प्रकट हो जाना 'उद्भेद' कहलाता है।

यथा—

कृतं रावणनाशस्य बीजस्याधिप्ररोहणम्।
मारीचादिवधेनैव रामेणामितवर्चसा ॥

जैसे :—

अपरिमित सामर्थ्यशाली श्रीरामचन्द्रजी ने मारीच आदि के वध के द्वारा रावण ही के विनाश का बीज अङ्कुरित कर डाला।

करणम्

प्रकृतार्थसमारम्भः करणम् ॥ ८१ ॥

करण—उद्दिष्ट या प्रस्तुत कार्य काआरम्भ करना 'करण' कहलाता है

यथा वेण्यां प्रथमाङ्के भीमः—

देवि, गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय।

जैसे वेणीसंहार के प्रथमाङ्क में :—

भीम—देवि, अब हम कौरवों का संहार करने के लिए जा रहे हैं।

भेदः

सङ्घातेन मिलितस्यार्थस्य भङ्गो भेदः।

भेद—घनीभूत या एकत्र भाव (या समूह) का भंग हो जाना 'भेद' कहलाता है।

यथा दशरथः कौशिकमुक्तवान्—

रामोऽयं बलशून्यश्च शस्त्रशून्यश्च ताडकाम्।
कथं हन्यादिति प्राह राजानं कौशिको मुनिः ॥

मत्प्रभावादयं रामो रक्षःपुरसमापनम् ।
करिष्यति कृत राजन् स्नेहविक्लवभाषणैः ॥

एतानि मुखाङ्गानि ।

जैसे—विश्वामित्र से दशरथ ने पूछा—बालक होने से अशक्त और रहस्य पूर्ण अस्त्रों का ज्ञान न होने से यह राम इस ताडका का हनन कैसे कर पाएगा ?

विश्वामित्र ने उत्तर दिया—हे राजन्, श्रीराम मेरे प्रभाव से इन राक्षसों का नाश करेगा इसलिए तुम अपने प्रेम के कारण ऐसे घबराहट पैदा करने वाले शब्द मत बोलो। इस प्रकार ये *मुखसन्धि* के अङ्ग बतलाए गए।

प्रतिमुखं यथा—

अब *प्रतिमुखसन्धि* का लक्षण बतलाते हैं।

प्रतिमुखम्

बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित् ।
मुखन्यस्तस्य सर्वस्य तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥ ८२ ॥

(ना० शा० २१।३८)

प्रतिमुखसन्धि—मुखसन्धि में स्थापित उस बीज का—जो कभी लक्ष्य और अलक्ष्य रूप धारण करता रहा था—जब विकास या प्रकट होना दिखलाई दे तो उसे '*प्रतिमुखसन्धि*' समझना चाहिए।

दृष्टं कारणरूपेण कार्यरूपेण नष्टम्। प्रथमसन्धौ बीजारोपणाद् दृष्टम्। यथारसप्रकार्यार्थप्रवृत्तानुपङ्क्तिस्कार्येण नष्टमिवान्तरितमिव। तस्योद्घाटनं पुनः प्रकाशनं कर्तव्यम्। यथा वेण्यां भीम आह—"सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू"। द्वितीयेऽङ्के कञ्चुकी—'भग्नं देवस्य भीमेनेति' अमङ्गलकीर्तनादुरु-भङ्गमुद्घाटितवान्। जानकीराघवे यथा राम सीतां प्रस्तुतवान्—

लक्ष्य या दिखलाई पड़ने का आशय है कारण रूप में दिखलाई पड़ना परन्तु कार्य रूप में नहीं दिखाई देना। प्रथम या मुखसन्धि में बीज की स्थापना करने के कारण लक्ष्य या दिखाई देना स्पष्ट होने लगता है।

रस के अनुसार प्रवृत्त होने वाले कार्य का जब किसी गौण या अमुख्य कार्य द्वारा आच्छादन होता हो तो उसे लक्ष्य का दबा हुआ (अलक्ष्य) हुआ रूप समझना चाहिए [यह कार्य भी मुख्य उद्देश्य को प्रकट करने के लिये होता है] विकास या प्रकट होने का आशय है उसी बीजार्थ का फिर से प्रकाशन करना। जैसे वेणीसंहार में भीम की यह उक्ति—'क्या मैं अपनी गदा से सुयोधन की जंघा को न तोड़ूँ ?" अथवा वेणीसंहार के दूसरे अङ्क में कञ्चुकी द्वारा अभिहित—'देव, तोड़ डाला' शब्दों से दुर्योधन का अमंगल प्रगट करते हुए भीम के द्वारा होने वाले भावी ऊरुभंग को संकेतित करना।

लङ्कासमृद्धिमापन्नः क्रीडारण्ये सपुष्पकः।

कच्चिल्लोहितपत्रस्त्वामशोकोऽसौ हरिष्यति ॥ इति

अथवा जैसे जानकीराघव में श्रीराम का सीता के प्रति निम्न कथन भी—रक्तपल्लवधारी, विहारवाटिका में अवस्थित एवं दृष्टिगोचर होनेवाला यह अशोकवृक्ष संभवतः तुम्हें अपनी लुभावनी पुष्पावली और विपुल शाखाओं से (अवश्य) आकृष्ट कर लेगा।

अथवा (दूसरा अर्थ)

संभवतः शोकरहित एवं अपनी लालपत्तियों के कारण लंका की समृद्धि करते हुए जिसने सम्पन्नता प्राप्त की थी वह विहारवाटिका का पुष्पकविमान से युक्त प्रदेश तुम्हें (अवश्य) हर लेगा।

अस्य च त्रयोदशाङ्गानि। यथा—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा।
नर्मनर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ॥ ८३ ॥
विरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च।
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार एव च ॥ ८४ ॥

प्रतिमुख सन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं:—(१) विलास (२) परिसर्प (३) विधुत (४) तापन (५) नर्म (६) नर्मद्युति (७) प्रगमन (८) विरोध (९) पर्युपासन (१०) पुष्प (११) वज्र (१२) उपन्यास तथा (१३) वर्णसंहार।

विलासः

समीहा रतिभोगार्था 'विलासः'। सम्भोगो वा सुरतोत्पन्नो विलास इति संज्ञितः।

विलास—रति भाव के लक्ष्यभूत पदार्थ या व्यक्ति की अभिलाषा रखना '*विलास*' कहलाता है। अथवा पारस्परिक संयोगजन्य आनन्द का नाम ही 'विलास' समझना चाहिए।

यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के राम —

अपि भुजलतोत्क्षेपादस्या कृतं परिरम्भणं
प्रियसहचरीक्रीडालापे श्रुता अपि सूक्तयः।
नवपरिणयव्रीडानत्या मुखोन्नतियत्नतो-
ऽप्यलसवलिता तिर्यग्दृष्टिः करोति महोत्सवम् ॥

(सर० कण्ठा० २।४२)

जैसे जानकीराघव के द्वितीय अङ्क में—

श्रीराम—इसके द्वारा अपनी भुजलता के ऊपर उठाने भर से आलिङ्गन बन जाता है तथा अपनी प्रिय सखियों के साथ किये गए विनोद पूर्ण वार्तालाप में अभिहित शब्द सुनने पर एवं नवीन विवाह होने से लजीली रहने वाली सीता के प्रयत्नपूर्वक अपना मुंह थोड़ा ऊपर उठाने पर उसकी थकी सी तिरछी चितवन अतिशय आनन्द उत्पन्न कर रही है।

परिसर्पः

प्रथम दृष्टस्य पश्चान्नष्टस्यानुसरणं परिसर्पः। यथा तत्रैव—

राम —

मयि किल पुरा दृष्टे पश्चान्न दृष्टिपथं गते
सुतनुरनयन्मूर्च्छाम्भोधौ दिनानि बहून्यपि।
भृशमधिगतस्थैर्या सेयं न मामभिभाषते
क्षिपति च मुहुर्व्याजाद् दृष्टिं सुधारसपिताभिव ॥

परिसर्प—अभीष्ट वस्तु के एक बार दिखाई पड़ने के बाद लुप्त हो जाने पर उसका पुनः अन्वेषण करना 'परिसर्प' कहलाता है।

जैसे इसी (जानकीराघव) नाटक में :—

श्रीराम—एक बार मुझे देख कर और फिर कुछ देर न दिखाई पड़ने पर यह मूर्च्छा के सागर में डूब जाती है और कई दिन बीत जाने का अनुभव करने लगती है। फिर धीरे-धीरे यह थोड़ा धैर्य धर कर मुझ से

नहीं बोलती पर किसी बहाने से अपनी अमृत से सनी दृष्टि को मेरी ओर झुका लेती है।

विधुतम्

आदावनुनयस्य कृतस्यापरिग्रहो विधुतम्।

विधुत—आरम्भ में किये जाने वाले सान्त्वनापूर्ण शब्दों या प्रार्थना को स्वीकार न करना [*या उन पर ध्यान न देना*] *'विधुत'* कहलाता है। जैसे भानुमत्यङ्क में —

यथा भानुमत्यङ्के दुर्योधन.—

विकिर धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षु
परिजनपथवर्तिन्यत्र किं सम्भ्रमेण।
स्मितमधुरमुदार देवि मामालपोच्चै.
प्रभवति मम पाण्योरञ्जलिस्त्वं स्पृशास्मान्॥ (वे० २।१६)

दुर्योधन—प्रिये, तुम अपने कान तक विस्तीर्ण इन धवल नेत्रों को सेवा कार्य के उद्यत इस जन की ओर लगाओ। क्यों व्यर्थ ही घबराती हो? मुझसे मन्दहास से आपूरित चित्ताकर्षक एव मधुर सम्भाषण तो करो। मैं दोनो हाथ जोड़ रहा हूँ तुम उन्हें छू भर दो।

तापनम्

अपायदर्शनं यत्तत् तापनम्॥ ८५॥

यथा कदलीगृहे—

सागरिका—दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुइ परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं ण वर एक्कम्॥
दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरण शरणं केवलमेकम्॥)

(रत्ना० २।१)

तापन—किसी कष्टदायी या अनिष्टकारी वस्तु का दिखलाई पड़ना *'तापन'* कहलाता है। जैसे कदलीगृह में —*सागरिका*—मेरा अनुराग

ऐसे पुरुष में है जिसका मिलना दुर्लभ है, इधर लाज बहुत आरही है और अपने वश में आत्मा भी नहीं रही। सखि, प्रेम बड़ा दुखदायी होता है। अब सिर्फ मर जाना ही अपने दुखों को दूर करने के लिये [बचा है या] सहारा है।

नर्मद्युतिः

नर्मपुरस्ताद् वक्तव्यम्। क्रीडाविरोधार्थं हास्यं नर्मद्युतिः। यथा तत्रैव—

विदूषकः—भो वअस्स, जे एदस्सि लउचपादवे कि पि महाभूदं पटिवसदि। [भो वयस्य, यद् एतस्मिन् लकुचपादपे किमपि महाभूत मतिवसति]

नर्म नर्मद्युति—परिहासपूर्ण शब्दों का प्रत्यक्ष कथन 'नर्म' होता है तथा क्रीडा में किया जाने वाला ऐसा परिहास जो लुभाता (भी) हो 'नर्मद्युति' कहलाता है। जैसे इसी अंक में :—विदूषक—मित्र, उस सामने दिखाई देने वाले लकुच वृक्ष में एक महाभूत रहता है।

प्रगमनम्

उत्तरोत्तरवाक्यं प्रगमनम्। यथा रामविक्रमे द्वितीयेऽङ्के

प्रगमन जहाँ उत्तर-प्रत्युत्तर में उत्तरोत्तर संवाद उत्कृष्ट बनते चलें उसे 'प्रगमन' समझना चाहिए। जैसे राम विक्रम नामक नाटक के द्वितीय अंक में —

जनकः—भद्र, कुत आगम्यते ?

जनक—भद्र, आप कहाँ से आ रहे हैं ?

बटुः—अज्ज, अरण्णदो [आर्य, अरण्यत]

बटु—अरण्य से।

जनकः—किं अत्र श्रोतुमध्येतु वा न प्राप्यते। येन दूरतराध्वक्लेशोऽनुभूयते ?

जनक—क्या यहीं सुलभतापूर्वक तुम्हें श्रवण और अध्ययन प्राप्त नहीं हो पाया जिसके लिए (आपने) लंबा रास्ता पार कर इतनी दूर आने का कष्ट उठाया।

बटु—कुदो भयेहिं रक्खसेहिं विरोहं मूद अज्ञाण । अह्वो वा तवस्सिजणोचिदो वावारो' इत्यादि । [कुतो भये राक्षसैर्विरोध भूतभार्गाणाम् । अथवा वै तपस्विजनोचितो व्यापार ।]

बटु—हमारे आचार्यों का किसी कारण राक्षसों से वैर बढ़ गया था और फिर दूर तक रास्ता पार कर आ जाना तो तपस्वियों का सामान्य कार्य है ही।

विरोधः

या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्विरोध इति कीर्तितः ॥ ८६ ॥

यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के—

विरोध—विपत्ति का आ जाना 'विरोध' कहलाता है ॥ ८६ ॥
जैसे—'जानकी-राघव' नाटक के द्वितीय अक मे —

हला पिअम्वदे, एणिणा सह समुप्पण्णे विरोहे किं अज्जउत्तम्मि भविस्सदि त्ति उत्तम्मदि मे हिअअ। [हला प्रियम्वदे, एतेन सह समुत्पन्ने विरोधे किमार्यपुत्रे भविष्यतीति उत्ताम्यति मे हृदयम् ।]

सखि प्रियंवदे, इनके साथ विरोध हो जाने पर आर्यपुत्र का अब क्या होगा यह सोचकर मेरा मन बड़ा आकुल हो रहा है।

पर्युपासनम्

क्रुद्धस्यानुनय पर्युपासनम् । यथा दशरथ क्रुद्धं भार्गवं दृष्ट्वोक्तवान्—

पर्युपासन—क्रोधी पुरुष को अनुनय-विनय द्वारा शान्त कर देना 'पर्युपासन' कहलाता है। जैसे क्रुद्ध परशुराम के प्रति महाराज दशरथ की यह उक्ति—

अलं भार्गव बालेऽस्मिन् रामे समरतृष्णया ।
न हि द्विपतडाघात सहते चूतपादप ॥

हे भार्गव ऋषि, इस छोटे से बालक राम के साथ आप युद्ध की इच्छा क्यों कर रहे हैं? छोटा आम का वृक्ष क्या हाथी से टक्कर ले सकता है?

पुष्पम्

विशेषवचनं पुष्पम् । अन्यत्र क्रियायामितरक्रियाधिक्यं विशेष-वचनं तत्पुष्पम् । यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के—

पुष्प—चित्ताकर्षक विशिष्ट वाक्यावली 'पुष्प' कहलाती है। अर्थात् किसी एक की उक्ति में दूसरी अधिक उत्कृष्ट या वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति की संयोजना कर देना 'पुष्प' होता है। जैसे जानकीराघव के द्वितीय अङ्क में —

> मा भैषीर्मिथिलाधिराजतनये दिष्ट्याधुना वर्धसे
> मद्र विद्धि निजप्रियस्य भुजयोर्वीर्येण गुर्वीरपि ।
> आक्षेपे हसता स्वपौरुषकथालापेष्ववज्ञावता
> दर्पश्चापमधिज्यकार्मुकभृता रामेण रामो जितः ॥

मिथिलाधिपति जनक की पुत्री सीते, तुम मत डरो। तुम्हारी विजय हो। क्योंकि तुम्हारे स्वामी के विशाल बाहुओं के पराक्रम ने सभी ठीक कर दिया है। भगवान् परशुराम के आक्षेपों को हँस कर सह लेने वाले और अपने पुरुषार्थ की प्रशंसा पर ध्यान न देने वाले श्रीराम ने उन्हीं के धनुष पर अब प्रत्यंचा चढ़ाकर उन्हीं को पराजित कर डाला है।

वज्रम्

रूक्षप्राय वचनं वज्रम् । यथा पुंसवने—

वज्र—मुँह पर ही कठोर वचन कह डालना 'वज्र' कहलाता है। जैसे पुंसवनाङ्क[1] में—

अज्जउत्तस्स पुत्तो भविअ एत्तिअं कालं रावणेण उवणीदं सीदं अज्ज वि ण परिच्चअदि। [आर्यपुत्रस्य पुत्रो भूत्वा एतावन्तं कालं रावणेनोपनीतां सीतामद्यापि न परित्यजते]

यह आर्यपुत्र का पुत्र होने पर भी रावण द्वारा इतने समय तक हरण की गयी सीता को नहीं पहचान रहा है।

---

1. पुंसवनाङ्क - अभिरामनाटक के (अन्तिम) अङ्क का नाम। सम्प्रति यह नाटक अप्राप्य है।

उपन्यासः

उपपत्तिकृतो योऽर्थः स उपन्यासः। यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के शतानन्द —

इदं पुनरुपपत्तिमद्दशरथस्य वचनमुपश्रुत्य भृशमानन्दिता स्म।
'राज्यं भुक्तमशत्रु पौरुषकथेत्यादि'।

उपन्यास—युक्तियुक्त वचनों का प्रस्तुत करना 'उपन्यास' समझना चाहिए। जैसे जानकीराघव के द्वितीय अङ्क में शतानन्द—हम महाराजा दशरथ के इन तथ्यपूर्ण वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हैं कि 'राज्य प्राप्त हो गया और शत्रुओं की अब दूर तक चर्चा नहीं रही' इत्यादि।

वर्णसंहारः

वर्णितस्यार्थस्य तिरस्कारो वर्णसंहारः। यथा कदलीगृहे विदूषकः—

मुहरा क्खु एसा गब्भदासी। [मुखरा खल्वेषा गर्भदासी।]

वर्णसंहार—एकबार कहे हुए वचनों की अवहेलना करना 'वर्णसंहार' कहलाता है। जैसे कदलीगृह नामक अङ्क में—
विदूषक—यह जन्मजात गधी बड़ी मुँहजोर हो रही है।

चतुर्णां वर्णानां सम्मिलनमपि केऽपि वर्णयन्ति। यथा—

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चारणवृत्तयः।
रामप्रवसने भूप कैकयीं चाप्यनिन्दयन्॥ इति।

कुछ आचार्यों का मत है कि—चारों वर्णों का एकत्र सम्मेलन 'वर्णसंहार' कहलाता है। जैसे :—
श्रीराम के वनवास के अवसर पर उपस्थित होने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारण सभी ने महाराज दशरथ और कैकयी की निन्दा करनी शुरू की।

गर्भः

नाटकस्य मध्यत्वाद् गर्भः।
उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संस्मृतः॥ ८७॥

गर्भसन्धि—नाटक के मध्यवर्ती स्थान में रहने के कारण 'गर्भसन्धि' कहा जाता है। । जैसा कि आचार्य ने कहा भी है]

जब बीज अङ्कुरित या प्रकट होकर (फिर) तिरोहित हो जाए तथा आगे चलकर उसी का फिर अन्वेषण किया जाए तो उसे '*गर्भसन्धि*' समझना चाहिए।

मुख-प्रतिमुखाभ्यां मुखोत्थानस्य बीजस्य यत्र उद्भेद प्रकाशनम्। यथा जानकीराघवे तृतीयेऽङ्के

बीज के अङ्कुरित होने का आशय है मुख तथा प्रतिमुख सन्धि में विकसित या प्रकाशित होने वाले बीज का प्रकट होना। जैसे जानकी-राघव नाटक के तृतीय अङ्क में —

सुग्रीव —

जानकीं हरता मन्ये दशकण्ठेन रक्षसा।

विनाशायात्मनो वैरं रामे महदनुष्ठितम् ॥ इति।

सुग्रीव—मेरा तो मत है कि राक्षस रावण ने सीता का अपहरण कर श्रीराम के साथ जो शत्रुता की है वह उसके अपने ही विनाश के लिए होगी।

नाटकादौ वस्तुद्वयं भवति विधिर्वा निषेधो वा। तत्र प्राप्तिरूपो विधिरप्राप्तिरूपो निषेधः।

नाटक आदि रूपकों में दो बातें होती हैं—एक विधि और दूसरा निषेध। विधि कहते हैं प्राप्ति होने को तथा इसी के विपरीत अप्राप्ति होने को निषेध कहा जाता है।

प्राप्तिरूपो यथा बीजमारब्धं रक्षसां क्षयः।

नीतं सीतापहारेण रामस्यावश्यकार्यताम् ॥ ८८ ॥

विधि या प्राप्ति का उदाहरण है—राक्षसों के विनाश का आरम्भ करना। यही बीज है जो राक्षसराज रावण के द्वारा श्रीसीता के अपहरण करने पर श्रीराम के द्वारा राक्षसों को समूल उच्छेद करने में आवश्यक कर्तव्य बन जाता है।

अप्राप्तिरूपो यथा—उदयनस्य वासवदत्तासक्तस्य शत्रुणा देशा-

चण्डभेन मन्त्रिणा लावणकदाहव्याजाद् वासवदत्ताया अप्रतिदर्शिता। पुनश्च तस्यास्तपः समाचरणान्वेषणम्। एवं प्रकारो गर्भः।

निषेध का उदाहरण है—वासवदत्ता के प्रेम में डूबे हुए उदयन के राज्य पर जब शत्रुओं का आक्रमण हो रहा था तब भी महाराजा उदयन द्वारा प्रतिकार न किये जाने की स्थिति जानकर महामन्त्री यौगन्धरायण द्वारा लावाणक को जलाकर इसी बहाने से वासवदत्ता को छिपा देना। फिर उसी रानी की बड़ी तपस्या के बाद खोज करना[1]। गर्भसन्धि का यही स्वरूप माना गया है।

अस्य त्रयोदशाङ्गानि यथा—अभूतोदाहरणम्, मार्गं, रूपम्, उदाहरणम्, क्रमः, संग्रह, अनुमानं, प्रार्थना, उत्क्षिप्तम्, तोटकम्, अधिबलम्, उद्वेग, विद्रव इति।

गर्भसन्धि के तेरह अंग होते हैं। यथा—(१) अभूतोदाहरण (२) मार्ग (३) रूप (४) उदाहरण (५) क्रम (६) संग्रह (७) अनुमान (८) प्रार्थना (९) उत्क्षिप्त (१०) तोटक (११) अधिबल (१२) उद्वेग तथा (१३) विद्रव।

अभूतोदाहरणम्

कपटाश्रयं वचनमभूतोदाहरणम्। यथा अश्वत्थामाङ्के—

अभूताहरण—कपटभरी शब्दावली का प्रयोग करना 'अभूताहरण' कहलाता है। जैसे अश्वत्थामांक में—

अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति किल व्याहृत सत्यवाचा।
तच्छ्रुत्वासौ दयिततनय प्रत्ययात्तस्य राज्ञः
शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच॥

(वे० ३।११)

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा स्पष्ट रूप में जोर से कह कर सत्यभाषी होने के कारण धीरे से 'हाथी' कह दिया।

---

१. यह विवरण मायुराज या मातृराज उपनाम अनङ्गहर्ष प्रणीत तापसवत्सराज नाटक के अनुसार दिया गया है।

उसे सुनकर युधिष्ठिर पर विश्वास होने से पुत्र वत्सल द्रोणाचार्य ने अश्रुपात के साथ शस्त्रों का भी रण में परित्याग कर डाला।

मार्गः

तत्त्वार्थकथनं मार्गः ॥ ८९ ॥

यथा जानकीराघवे तृतीयेऽङ्के हनुमान्—

यस्ताडका निहतवाञ्छिशुरेव येन भग्नं धनु पशुपतेर्विजितो भृगुर्वा।
एक खरादिनिधन विदधे प्रवीर त राघवं शरणमेहि हितं स्वमिच्छन् ॥

मार्ग—यथार्थ बात की (प्रकृत विषय से सम्बद्ध) उद्घोषणा करना 'मार्ग' कहलाता है। जैसे जानकीराघव के तृतीय अङ्क में हनुमान—जिसने अपनी शैशवावस्था में ताडका राक्षसी का हनन किया, शङ्कर के धनुष को तोड डाला और परशुराम जी को पराजित कर दिया, जिस अकेले वीर श्रेष्ठ ने खर आदि राक्षसों को यमलोक पहुँचा दिया उन्हीं श्रीराम की शरण में अपना हित चाहो तो आ जाओ।

रूपम्

चित्रार्थसमायुक्तो वितर्को रूपम्। यथा मङ्केताङ्के—

मन प्रकृत्यैव चल दुर्लक्ष्यञ्च तथापि मे।
कामेनैतत्कथं विद्ध सम सर्वैः शिलीमुखैः ॥ (रत्ना० ३।२)

रूप—किसी आश्चर्योत्पादक घटना की वितर्कपूर्ण वाक्यों द्वारा स्थापना करना 'रूप' कहलाता है। जैसे सङ्केतार में :—

(मेरा) मन स्वभाव से भी चञ्चल होता है और इसका पाना बड़ा कठिन है फिर काम ने इसे अपने सभी बाणों से तुरन्त कैसे बींध डाला ?

उदाहरणम्

सातिशयं वचनमुदाहरणम्। यथाश्वत्थामाङ्के 'यो य शस्त्रं बिभर्ति' (वे० ३।३२) इत्यादि।

उदाहरण—अतिशय उत्तेजना या उत्कर्ष युक्त वाक्य विन्यास को 'उदाहरण' समझना चाहिए। जैसे अश्वत्थामाङ्क में अश्वत्थामा—'पाण्डवों की सेना में जो जो शस्त्रधारी वीर हैं' इत्यादि।

क्रमः

भविष्यत्तत्त्वोपलब्धि क्रम । यथाऽश्वत्थामाङ्के—

कृप —राजन्, द्रोणपुत्रेण सुमहान्समरभारो वोढुमध्यवसित भवता च कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तु लोकत्रयमपि समर्थं किं पुनर्युधिष्ठिरबलमिति ?

क्रम— भावी घटना या अभिप्राय का उन्नयन 'क्रम' कहलाता है। जैसे अश्वत्थामाङ्क मे —

कृपाचार्य—राजन्, द्रोणपुत्र ने संग्राम के बडे दायित्व को वहन करने की प्रतिज्ञा की है अत एव यदि मेरे विचार से आप इनका सेनापति के पद पर अभिषेक कर दें तो य तीनों लोको का संहार कर सकते हैं फिर पाण्डवों की सेना का संहार कर डालना कौन बडी बात होगी ?

संग्रहः

सामदानादियुक्त वाक्य संग्रह । यथा वेण्याम्—

धृतराष्ट्र —वत्स, यदि मन्यसे तदाहमेव किञ्चिद्विज्ञापयामि ।

संग्रह—प्रियवचन और दान आदि से पूर्ण कथन 'संग्रह' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार मे।

धृतराष्ट्र—पुत्र, यदि तुम मानो तो मै (ही) तुम्हें कुछ बतला दूँ।

अनुमानम्

रूपस्यानुगमनमनुमानम् । रूप्यते इति रूप वस्तु ।

अनुमान—किसी वस्तु या दृश्य पदार्थ को देख कर उसी के आधार पर उसके समस्त शेष भाग का कल्पना के द्वारा अनुमान या निश्चय कर लेना 'अनुमान' कहलाता है। जिसका स्वरूप दिखलाई पडे उसे रूप या वस्तु कहते है। जैसे —

तस्यानुमानयति काञ्चनकान्तिगौर
कायश्च सूर्यतनयत्वमधृष्यता च ।

शरीर का सोने के समान चमकीला और गौर वर्ण होना ही उसके सूर्य पुत्र होने और युद्ध मे किसी से पराजित न होने की सूचना दे रहा है।

प्रार्थना

अभ्यर्थनायुक्त वचन प्रार्थना । यथा सम्पात्यङ्के—

प्रार्थना—किसी बात की याचना प्रकट करने वाली वचनावली को '*प्रार्थना* समझना चाहिए। जैसे *मपाति* नामक अङ्क में :—

मायावती—धुत्त, कीस म पहारेसि अणुइअसं अणुरत्तं। [धूर्त, कथं मा प्रहरसि अनुदिवसमनुरात्रम्]

मायावती—धूर्त, तुम मुझे दिन रात क्यों प्रताड़ित करते रहते हो?

उत्क्षिप्तम्

बीजोद्भेदनमुत्क्षिप्तम्। यथा बालचरिते—

राज्यं जनकराजेन्द्रसुताप्राप्तिपणीकृतम्।
सुग्रीवस्य कपेर्दत्तं रामेण हतवालिना॥

अत्र गर्भबीजस्य सिद्धेः च उद्भेदनं कृतम्।

उत्क्षिप्त—बीज को प्रकट कर देना 'उत्क्षिप्त' कहलाता है। जैसे बालचरित में —

जनकनन्दिनी सीता को प्राप्त करने में सहायता देने की शर्त पर श्रीराम ने बाली को मार कर कपिराज सुग्रीव को राज्य दिया है।

यहाँ गर्भसन्धि में विद्यमान बीज और सिद्धि को प्रकट कर दिया गया है।

तोटकम्

सरब्धवचनं तोटकम्। तत्रैव रावण —

एष नो निहतज्ञातिस्नेहोद्वृत्त पतिष्यति।
क्रोधाग्निरचिराद्वैरिसैन्यजीर्णवने महान्॥

तोटक—आवेश या क्रोधपूर्ण वचनों को 'तोटक' कहते हैं। जैसे इसी नाटक में।

रावण—हमारी यह क्रोधाग्नि अपनी जाति के नाशरूपी स्नेह को छलका कर शीघ्र ही शत्रुओं के जीर्णवन पर गिर जाएगी।

अधिबलम्

कपटस्यान्यथाकरणमधिबलम्। यथा सम्पात्यङ्के

अधिबल—किसी छल या माया का दूसरी ओर मोड़ देना या दूसरे ही अर्थ में ले लेना 'अधिबल' समझना चाहिए। जैसे मपाति-अंक में :—

हनुमान्—रावणप्रयुक्तयानया भवितव्यम् ।

अङ्गद—न तावदस्याः कपटासिन्धामे दूरमधिमग्नाः स्म ।

हनुमान्—यह निश्चित ही रावण के द्वारा फैलायी गयी [माया] है।

अंगद—पर हम इसके कपट जाल में दूर तक नहीं डूबे हैं।

उद्वेगः

नृपतिजनितभयमुद्वेग । यथा सम्पात्यङ्के—

अङ्गद (सोद्वेगम्)।

किं दृष्ट्वा युवराज इत्यभिहित पापोऽहमिक्ष्वाकुणा
किं सञ्चिन्त्य मयापि वानरपतेराज्ञेयमालम्बिता ।
भ्रान्त्वा शैलपरम्परास्वपि मया दृष्टा न सा मैथिली
किं वक्ष्यामि वनान्निवृत्य जडधीराशास्थिते राघवे ।

उद्वेग—राजभय से पैदा होने वाली घबडाहट को 'उद्वेग' कहते हैं। जैसे सपाति अङ्क में —

अंगद—(घबराते हुए) भगवान् श्रीराम ने मुझ पापी को क्या देख कर युवराज कहा और मैंने भी वानरराज सुग्रीव की आज्ञा को क्या सोच कर स्वीकार किया था। हाय! एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भटकने पर भी मैं सीता जी को न देख पाया। अब बिना कुछ पता लगाए इस वन से लौटता हू तो वहाँ आशा लगा कर बैठे हुए श्रीराम को मैं क्या बतला सकूँगा ?

विद्रवः

शङ्काभयत्रासकृतो विद्रव । यथा—

विद्रव—आशका, भय या घबडाहट से पैदा होने वाली भगदड को 'विद्रव' समझना चाहिए। जैसे —

खरादिविहित घोर श्रुत्वा कलकल वने ।
शङ्का रामस्य सीताया भय त्रासस्तपस्विनाम् ॥

दण्डकारण्य वन में खर आदि राक्षसों का घोर कोलाहल सुन कर श्रीराम को आशंका, सीता जी को भय और तपस्वियों को घबडाहट उत्पन्न हो गयी।

एकैककृतं केचिदिच्छन्ति ।

कुछ आचार्यों का मत है कि ये भाव एक ही पात्र या व्यक्ति में एक साथ रहना चाहिए ।

विमर्शः

अथ विमर्शः । ननु विमर्श इति कोऽर्थः ? उच्यते—गर्भेण सन्धिनोद्भिन्नस्य बीजार्थस्य लोभकारिणि आश्लेषणमयुक्तो [यो] भवति स विमर्शः । यदाह—भरतमुनि —

विमर्शसन्धि—अब 'विमर्शसन्धि' बतलाता हूं । (प्रश्न) विमर्श शब्द से क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) गर्भसन्धि में जिस बीजार्थ का विकास हुआ था उसमें प्रलोभन आदि के द्वारा और अधिक जमावट पैदा कर देना 'विमर्श' कहलाता है । जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने (भी) बतलाया है :—

गर्भनिभिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा ।
तस्य चाश्लेषसंयुक्तः स विमर्श इति स्मृतः ॥ ९० ॥

जहाँ गर्भसन्धि में प्रकट या विस्मित बीजार्थ प्रलोभन *(क्रोध या दुर्नीति)* आदि के संयोजन के द्वारा और विकसित हो जाता हो वह 'विमर्शसन्धि' कहलाता है ।

अन्यस्त्वाह—

प्रकीर्णस्यार्थजातस्य विमर्शाद् यत्र संवृतिः ।
शत्रोरुपचयो भूयान् विमर्शः स च कथ्यते ॥ ९१ ॥

दूसरे आचार्य का मत है कि जहाँ बिखरे हुए या फैले हुए कार्यों का विचारपूर्वक संवरण (एकीकरण, केन्द्रीकरण) किया जाए तथा शत्रु का सामर्थ्य बढ़ा चढ़ा रहे तो उसे 'विमर्शसन्धि' समझना चाहिए ।

अन्यस्त्वाह—

सम्पन्नरूपं यत् कार्यं प्रस्तावेनेह किञ्चन ।
मनस्यायाति सन्देहं विमर्शं केऽपि तं विदुः ॥ ९२ ॥

अन्य आचार्यों का मत है कि जब कार्य या प्रयोजन प्राय पूर्णता की स्थिति तक पहुँच जाए और उनको पूर्णता के विषय में सन्देह भी बना रहे तो उसे कुछ आचार्यगण 'विमर्श सन्धि' मानते हैं।

अस्य विमर्शस्त्रिधा भवति—विलोभनसमुद्भव, क्रोधज व्यसनजश्च। तत्र विलोभनकृतो यथा—मायासीतार्पणेन रामस्य राक्षसैर्जनित सन्देह विमर्श। राघवाभ्युदये रावणेन आरब्धकूटसन्धौ जालिनी राक्षसी सीतारूपेण रामस्य जनित सन्देहे विमर्श। यदाह—

इस बीजार्थ का विचारपूर्वक संचरण या विमर्श तीन प्रकार से किया जाता है—(१) प्रलोभन के द्वारा (२) क्रोध के द्वारा तथा (३) (किसी) विपत्ति के द्वारा।

प्रलोभन (विलोभन) के द्वारा होने वाले *'विमर्श'* का उदाहरण है—राक्षसों के द्वारा माया-सीता को श्रीराम को अर्पित करते हुए सन्देह उत्पन्न करना। राघवाभ्युदय (रामाभ्युदय) नाटक में लंकाधिपति रावण के द्वारा आरंभ किये गए कूटव्यापार में 'जालिनी' नामक राक्षसी को सीता रूप में श्रीराम को बतला कर सन्देह उत्पन्न करना 'विमर्श' है। जैसा कि वहाँ कहा गया है :—

कथमिव विदधामि तस्य सन्धिं कथममरेन्द्रगिरां भवामि वास।
इति विषमविवर्तमानचिन्ता-तरलमतिर्न विनिश्चिनोमि किञ्चित् ॥

मैं इससे सन्धि कैसे कर लूँ? और मैं देवताओं के अधिपति इन्द्र की प्रशस्तियों का लक्ष्य कैसे बनूँ। आज इन्हीं विरोधी विचारों के आवर्त में घूमने के कारण अस्थिरबुद्धिवाला होकर मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।

क्रोधजो यथा—

शत्रुभिर्वत्सराजस्य पुरोरोधैर्निदर्शितः ॥ ९२ ॥

क्रोध से होने वाले *'विमर्श'* को वत्सराज उदयन के नगर पर घेरा डालकर शत्रुओं ने प्रकट किया है।

व्यसनकृतो यथा वेण्याम्—युधिष्ठिर.

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।

भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिता ॥ (वे० ६।१)

विपत्ति (व्यसन) से होने वाले 'विमर्श' का उदाहरण है वेणी संहार में युधिष्ठिर का निम्न कथन—जब किसी प्रकार भीष्मरूपी महासमुद्र को पार कर लिया था, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ गयी, कर्णरूपी विषसर्प भी शान्त हो गया और शल्य भी स्वर्ग को सिधार चुके थे। इतना सब होने और विजय के थोड़े अंश के अवशिष्ट रह जाने पर साहसी भीमसेन ने अपनी शीघ्रता और उद्धत कथनों से हम सभी का जीवन संकट में डाल दिया।

अस्य त्रयोदशाङ्गानि—अपवाद, सम्फेट, द्रव, शक्ति, व्यवसाय, प्रसङ्ग, द्युति, खेद, प्रतिषेध, विरोधनम्, आदान, सादन, प्ररोचना चेति।

विमर्श सन्धि के तेरह अंग होते हैं। यथा —(१) अपवाद (२) सम्फेट (३) द्रव (४) शक्ति (५) व्यवसाय (६) प्रसंग (७) द्युति (८) खेद (९) प्रतिषेध (१०) विरोध (११) आदान (१२) सादन तथा (१३) प्ररोचना।

अपवादः

तत्र दोषप्रख्यापनमपवादः। यथा जानकीराघवे मायालक्ष्मणे रावणः—

अवज्ञानं स्त्रीति क्षितिधरसुतायाः कपिरसी-
त्यधिक्षेपो नन्दिन्यथ रघुपतेर्दारहरणम्।
अमी दोषाः सर्वे भुवमधिगतोत्पातकरटन
करिष्यन्ते घोरं व्यसनमधुना राक्षसपते ॥ इति

अपवाद—किसी पात्र के दोषों को प्रख्यात करना या उन दोषों का वर्णन करना 'अपवाद' कहलाता है। जैसे जानकीराघव नाटक में माया लक्ष्मण नामक अंक में —

रावण—स्त्री समझ कर पर्वताधिराज हिमालय की पुत्री पार्वती की या मेरे द्वारा अपमान करना जब कि यह नन्दी को तू बन्दर है कह कर डांटती थी तथा राघव की धर्मपत्नी का अपहरण करना।

(आज) मेरे द्वारा किये दुष्कर्म ये (अब मुझे) अपना फल दे रहे हैं तथा मुग्ध राक्षसाधिपति को ये अब भारी विपत्ति में डाल देंगे।

सम्फेटः

रोषग्रथितं वाक्यं सम्फेट । यथा वेणीसंहारे—

सम्फेट—क्रोधपूर्ण सम्भाषण करना 'सम्फेट' समझना चाहिए। जैसे वेणीसंहार मेः—

युधि—ननु भीमसुयोधनयोरिति कथ्यताम्।

युधिष्ठिर—भीम और दुर्योधन का कहिये।

चार्वाक—आः अविदितवृत्तान्त एव मां पृच्छसि।

चार्वाक—अरे! तुम विना किसी बात को जाने ही मेरी बात काट रहे हो।

यथा वा—वासवदत्तासङ्केतके (रत्ना ३)

वासवदत्ता—अज्जउत्त णिल्लज्जो (क्खु) अअं जणो जो अज्ज-उत्तस्स एवं पि हिअअं जाणिअ पुणो वि कुपिदेदि। [आर्यपुत्र, निर्लज्ज (खलु) अयं जन य आर्यपुत्रस्य एवमपि हृदयं ज्ञात्वा पुनरपि कुप्यति] (रत्ना० अ० ३)

अथवा वासवदत्ता सङ्केतक नामक (रत्ना० अङ्क ३) अङ्क मे :—

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ। जो मैंने आपके हृदय की अभिलाषा जान कर भी (अब तक) इतना क्रोध किया।

द्रवः विद्रवश्च

गुरुव्यतिक्रमो द्रवः। शङ्कादिभिर्मनस क्षोभो विद्रव.। स एव परिभवकृतो द्रव। यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिर.

गुरूणां बन्धूनां क्षितिपतिसहस्रस्य पुरत.
पुराभूदस्माकं नृपसदसि योऽसौ परिभव.।
प्रिये तस्येदानीं द्वितयमपि पारं गमयितुं
क्षमं प्राणाना वा कुरुपतिपशोर्वास्य निधनम्॥ (वे० ६।५)

॥ इति ॥

द्रव व विद्रव—पूज्यजन की मर्यादा का उल्लंघन करना 'द्रव' होता है तथा आशंका आदि के द्वारा मानसिक क्षोभ हो जाना 'विद्रव' कहलाता है।

विद्रव ही जब किसी के अपमान को सम्पन्न करे तो 'द्रव' बन जाता है। उदाहरणार्थ वेणीसंहार में

युधिष्ठिर—सभा में पहिले हम लोगों का जो अपमान हमारे पूज्य गुरुजन, कुटुम्बियों और राजाओं के सम्मुख किया गया था उसका अन्त दो बातों से ही हो सकता है। (एक) हम लोगों के प्राणों का अवसान या (दो) पशु तुल्य जडमति कौरवराज दुर्योधन का आज रण में हनन होना।

शक्तिः

विरोधप्रशमः शक्तिः। यथा चूडामणिसंहारे—

शक्ति—विरोधों का शान्त हो जाना 'शक्ति' कहलाता है। जैसे चूडामणिसंहार नामक (नागा० अ० ५) अङ्क में.—

जीमूतवाहन—नित्य प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राक् कृते चानुतापम्। (ना० न० ५।२४) इत्यादि।

गरुडः

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः।
सर्वप्राणिवधादेष विरतोऽद्यप्रभृत्यहम् ॥इति॥ (ना० न ५।२५)

जीमूतवाहन—तुम अब प्राणियों के हिंसा रूपी दुष्कर्मों से विरत हो जाओ और पिछले कार्यों पर पश्चात्ताप करो। इत्यादि।

गरुड—मैं अभी तक अज्ञान की निद्रा में सोया था। आज आपने उससे मुझे जगा दिया है। अब मैं आज से सभी प्राणियों की हिंसा करना बन्द कर रहा हूँ।

व्यवसायः

प्रतिज्ञाहेतुसंश्लिष्टं वाक्यं व्यवसायः। यथा वेणीसंहारे

पाञ्चालक—जानाति सुयोधनो जलसस्तम्भनीं विद्याम् इति।

व्यवसाय—प्रतिज्ञा तथा हेतु आदि से युक्त वचनावली को '*व्यवसाय*' कहते हैं। जैसेः—वेणीसंहार नाटक में—(अङ्क ६)

पाञ्चालक—दुर्योधन जलस्तम्भनी विद्या को जानता है ''इत्यादि।

प्रसङ्गः

अप्रस्तुतार्थख्यापन प्रसङ्ग । यथा तत्रैव—

प्रसङ्ग—किसी अप्रस्तुत तथ्य या घटना का उल्लेख करना '*प्रसङ्ग*' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार नाटक में (अङ्क ६)

'हा भीम' हा कान्तारवासप्रिय, हा जतुगृहसमुद्रसमुत्तरणयान-पात्र' इति।

ओ मेरे प्रिय भीम, वनवास में हम लोगों के सबसे बड़े सहायक, लाख के महल रूपी समुद्र को पार करवाने में हमारे लिये जलयान (जहाज) स्वरूप, इत्यादि।

द्युतिः

तर्जना आधर्षणा। अधिक्षेपकृत वाक्य द्युतिः। दुरुक्तिपरिणामा आहुतिरत्राभिमता। यथा तत्रैव—पाञ्चालकः—

'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशसी'त्यादि (वे० सं० ६।७)

द्युति—किसी पात्र का अपमान करना 'द्युति' कहलाता है। यहाँ अपमान किसी डाट डपट [तर्जना] या किन्हीं ऐसे शब्दों के कथन द्वारा किया जाता है जिसका परिणाम भयंकर या विपरीत हो जाए। जैसे वेणीसंहार नाटक में :—

पाञ्चालक—तुम अपना जन्म निर्मल चन्द्रवंश में बतला रहे हो और इत्यादि। (वे० सं० अ० ६।७)

खेदः

मनश्चेष्टासमुत्पन्न श्रमः खेदः। यथा जानकीराघवे षष्ठेऽङ्के

रामः

इहैवास्ते सीता करकिसलयन्यस्तवदना
विचिन्वाना वार्तां तव मम च सार्धं त्रिजटया।
विमर्दे रक्षोभिः प्रतिदिवसमाविर्भवति न
समुद्भ्रान्तप्राणा क्षिपति रजनीं वासरमपि॥

खेद—मानसिक या शारीरिक कार्यों के करने से होने वाली थकावट को 'खेद' समझना चाहिए। जैसे जानकीराघव के षष्ठ अंक में :—

राम—अपने कर किसलय पर मुँह टिका कर त्रिजटाराक्षसी के साथ सीता तुम्हारे और मेरे समाचारों पर विचार करती हुई यहीं बैठी हुई है। यह प्रतिदिन किये जा रहे राक्षसों के संहार के कारण मन में आशंका लिये हुए दिन और रात को बिताती है और प्राणों में आकुलता लिए है।

प्रतिषेधः

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेधः। यथा चूडामणौ—

प्रतिषेध—इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में विघ्न का आ जाना 'प्रतिषेध' कहलाता है। जैसे चूडामणि अंक में

शङ्खचूड—'गोकर्णमर्णवतटा'मित्यादि (नागा० ५।६)

शंखचूड—मैं समुद्र के तट पर स्थित गोकर्ण तीर्थ को प्रणाम कर शीघ्र ही उस स्थान पर आ पहुँचा हूं जहाँ सर्पों का हनन किया जाता है, इत्यादि।

विरोधनम्

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनम्। यथा वेणीसंहारे कञ्चुकी—

एष दुरात्मा कौरवापसदः क्षतजपाटलाम्बरः समुत्थितरक्तभीषण-गदाशनिः उद्यतकालदण्ड इवान्तकः तत्रभवतीं पाञ्चाल (राज) तनया-मितस्ततः परिमार्गयमाण इत एवाभिवर्तते इति। (वे० सं० अ० ६)

विरोधन—कार्य या उद्देश्य के पूर्ण होने के अवसर पर किसी विघ्न का संकेत या प्राप्त हो जाना 'विरोधन' कहलाता है। जैसे वेणी-संहार नाटक में

कञ्चुकी—रक्षा कीजिये महाराज, यह नीच कौरवपति जिसने वस्त्र और शरीर खून से लथपथ होने से लाल हो चुके हैं और जो अपनी रक्त रंजित गदा को कालदंड के समान ऊपर उठाते हुए यम के समान द्रौपदी को ढूंढता हुआ इधर ही चला आ रहा है।

आदानम्

बीजकार्योपगमनम् आदानम्। यथा पल्लियङ्के—वासवदत्ता—अज्जउत्त साअरिआ विवज्जइ। परित्तायदु अय्यउत्तो। [आर्यपुत्र,

सागरिका विपद्यते । परित्रायताम् आर्यपुत्र.] ।

राजा–(सहर्षम्) एष गच्छामीति (रत्ना० अ० ४)

आदान—बीज भूत कार्यों का संग्रह या साधनों का उपलब्ध हो जाना 'आदान' समझना चाहिए। जैसे रत्नावली में—वासवदत्ता—आर्यपुत्र, सागरिका मर रही है । उसे बचाइये । राजा—(सहर्ष) अभी जाता हूँ ।

सादनम्

अपमानकृत वाक्यं सादनम् । यथा वेणीसंहारे–

'ऊरू करेण परिघट्टयत' (वे० सं० ६।२५) इत्यादि ।

सादन—अपमानपूर्ण वचनों का कथन करना 'सादन' कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में

'बड़े जोश से अपने हाथ से जांघों को ठोकने वाले दुर्योधन के सम्मुख जिसका वस्त्र खींचा गया था और केशों के खींचने से जिसकी वेणी खुल गयी थी वही द्रौपदी अब कहाँ है ?' इत्यादि

प्ररोचना

प्ररोचना च विज्ञेया संहतार्थप्रदर्शिनी ॥ ९४ ॥

यथा जानकीराघवे षष्ठेऽङ्के लक्ष्मण —'दूरप्रोन्नतकुम्भकर्णविटपी'त्यादि ।

प्ररोचना—प्रारम्भ किये हुए कार्य का निर्वाह या पूर्णता दिखलाने वाले कथन को 'प्ररोचना' कहते हैं। जैसे जानकीराघव के षष्ठ अंक में लक्ष्मण—उन्नत वृक्ष के समान दूर तक फैल जाने वाले कुंभकर्ण रूपी वृक्ष (ना० ल० र० को० पृष्ठ १०) को ''इत्यादि ।

निर्वहणम्

समाप्तिः सम्यगर्थानां प्रस्तुतानां महौजसाम् ।
नानाभावोत्तराणाञ्च भवेन्निर्वहणं तु तत् ॥ ९५ ॥

निर्वहणसन्धि—आरम्भ किये गए उन सभी महत्वपूर्ण एवं उत्तमोत्तम भावों से युक्त कार्यों की पूर्णतः समाप्ति या फलोपलब्धि हो जाना 'निर्वहणसन्धि' कहलाता है ।

पूर्वं प्रस्ताविताना बीजादीनामर्थाना यत्र निर्व्यूढतया समापनं तन्निर्वहणमित्यर्थः। अस्य च चतुर्दशाङ्गानि। यथा—अर्थ, ग्रथनं, निर्णय, परिभाषण, द्युतिः, प्रसाद, आनन्द, समय, अनुयोगः, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्यं, काव्यसंहार, प्रशस्तिरिति।

अर्थात् पहिले से प्रस्तावित बीज आदि कार्यों का अपनी उद्देश्य-पूर्ति या फलप्राप्ति हो जाने पर पूर्णत समापन हो जाता हो तो उसे निर्वहणसन्धि समझना चाहिए। इस सन्धि के चौदह अंग होते हैं। यथा —(१) अर्थ, (२) ग्रथन, (३) निर्णय, (४) परिभाषण, (५) द्युति, (६) प्रसाद (७) आनन्द, (८) समय, (९) अनुयोग, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार तथा (१४) प्रशस्ति।

अर्थः

तत्र प्रधानार्थोपक्षेप. अर्थः। यथा मारीचवञ्चितके—

अर्थ—मुख्य कार्य या उद्देश्य का निर्देश करना *'अर्थ'* कहलाता है। जैसे 'मारीचवञ्चितक' (नाटक) मे—

लक्ष्मण —'आर्य, प्रविश्य लङ्का गृह्यता पौरजनानामतिथिसत्कार।'

लक्ष्मण—आर्य, आप लका मे प्रवेश कीजिए और वहाँ के नागरिकों द्वारा किये गए सत्कार को स्वीकार कीजिये।

ग्रथनम्

कार्याणा बहूनामुपक्षेपो ग्रथनम्। यथा जानकीराघवे संहारे लक्ष्मण —

ग्रथन—अनेक कार्य या उद्देश्यों को फिर से दोहराना या संवेलित करना *'ग्रथन'* कहलाता है। जैसे जानकीराघव नाटक के सहार नामक (अन्तिम) अक मे—

ते राक्षसा प्रतिहताः खरदूषणाद्या
निर्विघ्नवृत्तिजनितश्च तपो मुनीनाम्।
रामस्य शल्यमयमस्तमितो दशास्य
स्तस्य त्वयाद्य निहिता च विभीषणे श्रीः॥

लक्ष्मण—आज खर दूषण आदि सभी राक्षस मार डाले गए हैं, मुनिजन की तपस्या में अब कोई विघ्न नहीं रह गया, देवराज इन्द्र का शत्रु रावण भी मार डाला गया और उसका राज्य भी आपने विभीषण को दे दिया।

निर्णयः

अनुभूतार्थकथनं निर्णयः। यथा पलियङ्के–

स एवाहं मन्दभाग्य। (रत्ना ४)

रत्नावली–साव्व अअ मंदभाअणि (सैवाहं मन्दभागिनी)

(रत्ना० अ० ४)

निर्णय—(नायक आदि के द्वारा) अपने पिछले किये गये कार्यों का वर्णन करना *'निर्णय'* कहलाता है। जैसे पलियङ्क में—मैं वही भाग्यहीन हू।

रत्नावली—और मैं भी वही अभागिनी हू।

परिभाषणम्

परिवादकृतं परिभाषणम्। यथा वेणीसंहारे भीमः—

मुञ्चतु मामार्य. क्षणमेकम्। सयमयामि तावत् सुयोधनरुधिरोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनहस्तावकृष्ट केशपाशमिति।

परिभाषण—पात्रों का परस्पर आरोपपूर्ण कथन या दोषकथन *'परिभाषण'* कहलाता है। जैसे वेणीसहार मे—(अङ्क ६)

भीम—महाराज मुझे एक क्षण के लिये छोड़ दें। मैं पहिले दुर्योधन के रक्त से सने इन हाथो से द्रौपदी की उस वेणी को तो बांध दूँ जिसे दुःशासन ने खींच कर खोल दिया था।

द्युतिः

ईर्ष्योत्क्लेशोपशमनं द्युतिः ॥ ९६ ॥

यथा कामदत्तापूर्ति

चन्द्र—पुत्तिओ कि पि अणुगुणरूव आचरिदं, तं एक्कदेसं सअखण्डलिं कदुअ पसारेमि। [पुत्र्य, किमप्यननुरूपं आचरितं, तदेकदेशं शतखण्डकं कृत्वा प्रसारयामि।]

द्युति—ईर्ष्या और क्लेश का हट जाना 'द्युति' कहलाता है। जैसे वासवदत्ता के अंतिम अंक में —

चन्द्र—पुत्रियो, मैंने तुम्हारे साथ जो थोडा अनुचित व्यवहार किया था इसलिये तुम्हें कष्ट देने वाली अपनी किरणों को मैं सहस्रों भागों में टुकडे करते हुए ऊपर फेंक देता हू।

प्रसादः

शुश्रूषाद्युपपन्नार्थः प्रसादः ॥ ९७ ॥

यथा पलित्यङ्के

वासवदत्ता—अइ एत्तिअं दाव बहिणिए वहिणित्तणं भोदु।

(अये, एतावदपि तावद् भगिन्या भगिनीत्वं भवतु।)

प्रसाद—शुश्रूषा आदि के द्वारा प्रसन्न करना या अपनी आज्ञाकारिता का प्रदर्शन करना 'प्रसाद' कहलाता है।

जैसे पलित्यक मे—

वासवदत्ता—बहिन, इसी से अब हम दोनों बहिनें बन जायें।

आनन्दः

वाञ्छितार्थागम आनन्दः। यथा तत्रैव—

राजा (बाहू प्रसार्य)—को देव्याः प्रसादं नानुमन्यते।

आनन्द—अपने इष्ट अर्थ या वस्तु की प्राप्ति हो जाना 'आनन्द' कहलाता है। जैसे उसी अंक में '—

राजा—(हाथ फैलाते हुए) देवी के प्रसाद को भला कौन स्वीकार न करेगा ?

समयः

विरोधप्रशमन समयः। यथा तत्रैव

वासवदत्ता—अज्जउत्त, दूरे एदाए णादिजणो तह करेदु अज्जउत्तो जह बंधुअण ण सुमरेदि। [आर्यपुत्र, दूरे एतस्याः ज्ञातिजन. तथा करोत्वार्यपुत्र यथा बन्धुजनं न स्मरति।]

समय—विरोध या द्वेष का शान्त हो जाना 'समय' कहलाता है। जैसे इसी अंक में '—

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसका नैहर बहुत दूर है अतएव आप ऐसी व्यवस्था रखें कि यह अपने बान्धवों की याद न करे।

अनुयोगः

युक्तकार्यान्वेषणमनुयोगः। यथा जानकीराघवे संहाराङ्के—

राम (सहर्षम्) वत्स विभीषण, आनन्दवाष्पाकुलितलोचनस्त्वां न पश्यामि। सत्यं कथयसि न दग्धा जानकी।

अनुयोग—प्रस्तावित कार्य की जाच या अन्वेषण करना 'अनुयोग' कहलाता है। जैसे जानकीराघव के अंतिम अंक में '—

श्रीराम—(प्रसन्न होकर) वत्स विभीषण, मैं आनन्दाश्रु से आंखों के भर जाने के कारण तुम्हें नहीं देख पा रहा हूँ। क्या सचमुच सीता आग में नहीं जली ?

उपगूहनम्

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम्। यथा वेणीसंहारे—एते खलु भवन्तो व्यासवाल्मीकीत्यादि।

उपगूहन—किसी आश्चर्यजनक पदार्थ की प्राप्ति हो जाना 'उपगूहन' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में '—ये व्यास वाल्मीकि आदि—

भाषणम्

सामदानादिसम्पन्नं भाषणं भाषणम्। यथा

विश्वभूति—स्थाने देवी देवीशब्दमुद्वहसि। इत्यादि।

भाषण—साम, दान आदि से पूर्ण सम्भाषण को 'भाषण' कहते हैं। जैसे विश्वभूति—(वसुभूति ?) [रत्ना० अङ्क ६]

हे देवी, आपको सम्बोधित किया गया देवी शब्द अपने गौरव के अनुरूप ही है इत्यादि।

पूर्ववाक्यम्

बीजोद्घाटनं पूर्ववाक्यम्। यथा वेणीसंहारे

भीमः–बुद्धिमतिके, क्व सा भानुमती। परिभवतु सम्प्रति पाण्डवदारान्।

पूर्ववाक्य—बीज की फिर से उद्भावना करना 'पूर्ववाक्य' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में :—

भीमसेन—बुद्धिमतिके, बतला वह भानुमती अब कहाँ है ? अब आकर वह पाण्डवपत्नी को अपमानित क्यों नहीं करती ?

काव्यसंहारः

वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहारः। यथा वेणीसंहारे—

'क्रोधान्धैस्सकलं हतं रिपुकुलम्' इत्यादि।

काव्यसंहार—(नायक को) वर आदि की प्राप्ति होना 'काव्यसंहार' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में :—

क्रोध से आकर हमने सम्पूर्ण शत्रुपक्ष का संहार कर डाला, (पाँचों भाई सुरक्षित रूप में जीवित बच गए, दुर्नीति से उत्पन्न होने वाले पराभव रूपी सागर को द्रौपदी ने पार कर लिया। आप भगवान पुरुषोत्तम होकर भी हमें आदर से सम्बोधित कर रहे हैं अतः इससे अधिक अब और क्या अभ्यर्थना करूँ कि जिससे प्रसन्नता अधिक हो ?)

प्रशस्तिः

नृपद्विजातिगवादीनां शिवावधारणपूर्वं काव्यस्यावधारणं प्रशस्तिः।

यथा—

प्रीतः पृथ्वीमवतु नृपतिः स्वस्ति भूयाद् द्विजेभ्यः
क्षेमं गावो दधतु समये तोयमब्दाः सृजन्तु।
काव्यात् कामं स्फुटरससुधावाहिनी काव्यकर्तुः
कीर्तिः स्निग्धा रघुपतिकथेवानघा दीर्घमास्ताम्॥

कवि (नाट्यकार) द्वारा राजा, ब्राह्मण तथा गौ आदि की मङ्गलकामना करते हुए काव्य का समापन 'प्रशस्ति' कहलाता है। जैसे :—प्रसन्न होकर राजा पृथ्वी का पालन करे, ब्राह्मणों का कल्याण हो, गौएँ कुशलतापूर्वक रहें और यथासमय मेघ जल बरसाते रहें। इस रचना के कारण कवि की कीर्ति सुधावर्षिणी हो जाए और यह रचना रामायण के समान प्रशस्त और दीर्घजीवी बने।

इति चतुःषष्ट्यङ्गानि नाटकेऽवश्यं कविभिः कर्तव्यानि। सन्धि-

श्चाण्यपि द्वित्रिसंख्यायुक्तानि अन्तरसन्धिषु भवन्त्येतानि रसभावापेक्षया। यदाहाचार्य —

नाटक में इन चौंसठ अङ्गों का कविजन अवश्य निवेश करें। रस या भाव को ध्यान में रखते हुए इन अङ्गों को मिलाते हुए दो या तीन अङ्गों में भी इन सन्धियों में एक साथ रखा जा सकता है। जैसा कि आचार्य भरत ने कहा है :—

यथा-सन्धि तु कर्तव्यान्यङ्गान्येतानि नाटके।
कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य च॥ ९८॥
सम्मिश्राणि कदाचित् स्युर्द्वित्रिसंख्याप्रमाणतः।
ज्ञात्वा कार्यमवस्थाश्च सन्धिष्वङ्गानि नाटके॥ ९९॥

(ना० शा० २१।१०५-१०६)

कुशल नाट्यकार को रूपक में इन सन्ध्यङ्गों की योजना रस या भावों को देख कर करना चाहिए जो सन्धि के साथ अनुकूलता तथा स्थिति के साथ औचित्य रखे।

अभिनय के अवसर, कार्य और अवस्था को ध्यान में रख कर इन सन्ध्यङ्गों को पृथक् पृथक् या दो तीन अङ्गों में मिला कर नाटक में संयुक्त करना चाहिए।

नाटकमिदं कथाबन्धमालोक्य पूर्वभागे विस्तारणीयं पश्चार्द्धे च संहारणीयम्। तस्मिंश्च य उदात्ता भावास्तेऽवधारणीया'।
यथाहाचार्यः

काव्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य।
ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः॥१००॥

(ना० शा० २०।४२)

अर्थात् नाटक की कथावस्तु का पूर्वार्ध में विस्तार तथा उत्तरार्ध में संक्षेप करना चाहिए तथा उत्तरार्ध में केवल उदात्त या तीव्रतर भावों को ही रखना चाहिए। जैसा कि आचार्य भरत ने बतलाया है :—

नाट्यरचना काव्य के तत्वों का मार्मिक स्पर्श लिए हुए और आकार में गोपुच्छ जैसी रहे तथा जो इसमें भी उदात्त या तीव्रतम भाव हों उन्हें अन्त में रखा जाए।

निर्वहणे चास्मिन् सन्धौ अद्भुतरस कर्तव्य ।

यथा—

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भुतस्तज्ज्ञैः ॥ १०१ ॥
[ना० शा० २०।४३)

विपदन्तरनिर्माणं केचिदिच्छन्ति सूरयः ।
जानक्या ज्वलनज्वालाप्रवेशेन विपत् पुनः । १०२ ॥

निर्वहणसन्धि मे अद्भुतरस की योजना अन्त मे अवश्य की जाए। जैसा कि कहा भी है '—

रस तथा भावों से पूर्ण प्रत्येक नाट्यरचना के अन्त मे अद्भुतरस की योजना अवश्य की जाए।

कुछ विद्वानों का मत है कि अन्त मे एक विपत्ति की और योजना की जाए जैसे रावण की विजय के बाद सीताजी की अग्निपरीक्षा बतलाना।

अपरस्त्वाह—मुखादिसन्धीना रीतिफलोपन्यासश्च लेशतोऽत्र कर्तव्य इति च।

दूसरे आचार्यों का मत है कि मुख आदि सन्धियों मे होने वाले कार्य या घटनाओं का सक्षेप मे निर्वहण सन्धि मे भी सपेन रखा जाए।

अथ सन्ध्यन्तराणि

एतेषामेव सन्धीनामेकविंशतिभेदा अर्थवशाद् भवन्ति । यथा—

साम भेदः प्रदानञ्च दण्डश्च वध एव च ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च गोत्रस्खलनमेव च ॥ १०३ ॥
साहसञ्च भयञ्चैव धीर्माया क्रोध एव च।
रुजः संवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्ववधारणम् ॥ १०४ ॥
दूतोपधी तथा स्वप्नश्चित्रं मद इति स्मृतम् ॥ १०५ ॥
(ना० शा० २१।४८-५०)

प्रयोजनवशाद् यावन्त एते प्रनेष्टु शस्यन्ते तावन्त सन्धिपु प्रदर्शयितव्या ।

अन्तरसन्धियाँ या सन्ध्यन्तर—कथावस्तु या नाट्यरचना के प्रयोजनवश इन सन्धियों में इक्कीस अन्तरसन्धियों का निवेश किया जाता है, ये सन्ध्यन्तर[1] (प्रदेश) कहलाते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) साम, (२) भेद, (३) प्रदान (दान), (४) दण्ड, (५) वध, (६) प्रत्युत्पन्नमतित्व, (७) गोत्रस्खलन, (८) साहस, (९) भय, (१०) धी, (११) माया, (१२) क्रोध, (१३) रुक्, (१४) संवरण, (१५) भ्रान्ति, (१६) हेत्ववधारण, (१७) दूत, (१८) उपधि, (१९) स्वप्न, (२०) चित्र तथा (२१) मद। सन्धियों में नाटकीय कथावस्तु के प्रयोजन के लिए जितने अङ्ग अनुकूल हों उन (अङ्गों) की योजना इनमें से लेकर प्रयोग प्रस्तुत करना चाहिए।

इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं —

साम

तत्र मधुरवचनैरनर्थान्निवर्तनवाक्यं साम। यथा कुम्भाङ्के सारण—

'ज्ञाता यस्य बृहस्पतिस्तदखिलं देवो न जानाति किमित्यादि'।

साम—मधुर वचनों द्वारा किसी विपत्ति से संरक्षण का कथन करना 'साम' कहलाता है। जैसे कुम्भाङ्क में सारण—जिसे बृहस्पति जान सकता है उसे क्या आप नहीं जानते ? इत्यादि।

भेदः

भेदः पृथग्भावः। यथा प्रतिज्ञाभीमे भीमः—

भेद—भिन्न या अलग हो जाना 'भेद' कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञा-भीम नामक अंक में—

अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः इत्यादि।

भीम—आज से मैं इसी कारण आप लोगों से अलग हो रहा हूँ। इत्यादि।

---

1. सन्ध्यन्तर या सन्धियों की अवान्तर दशाओं का नाट्यशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है। भरत और भोज के ग्रन्थों में धी के स्थान पर 'ह्री' तथा उपधि के स्थान पर 'खेद' मिलता है। नाट्यदर्पण ने सन्ध्यन्तरों को भरत से भी प्राचीन नाट्यसम्प्रदाय से आगत परम्परागत अङ्ग माना है (द्र० नाट्यदर्पण C. O. S पृ० १०२) प्राचीन होने के कारण ही प्रसिद्ध रहने से नाट्यदर्पणकार तथा धनिक ने इनके लक्षण नहीं दिये।

दानम्

दानं यथा नागानन्दे वध्यशिलायां जीमूतवाहन —

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्जितं यत् स्वशरीरदानात् ।
भवे भवे तेन ममैवमेवं भूयात् परार्थः खलु देहलाभः ॥

(ना० नं० ४।२६)

प्रदान—दान का देना ही 'प्रदान' कहलाता है। जैसे वध्य-शिला में —

जीमूतवाहन—इस नाग की रक्षा के लिए अपने शरीर को प्रदान करने पर मैंने जो पुण्य प्राप्त किया इत्यादि ।

दण्डः

दमन दण्डः । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के

चेटी—सहि साअरिए, अब्भंतरं पविसिअ वहं बधणं वा पावेहि ।

[सखि सागरिके, अभ्यन्तर प्रविश्य प्रविश्य वधं बन्धनं वा प्राप्नुहि ।]

दण्ड—नियन्त्रण रखना या सजा देना 'दण्ड' कहलाता है। जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क में—

चेटी—सखि सागरिके, चलो अब भीतर और वध या कारागर प्राप्त कर।

वधः

वधो व्यापाद । यथा कुलपत्यङ्के रावण —भवत्वस्य दोर्दर्पमपकृत्य सुखेन लङ्का गच्छामीति ।

वध—नाश या हनन करना 'वध' कहलाता है। जैसे कुल-पत्यङ्क में—

रावण—ठीक, अब मैं पहिले इसको भुजबल का मजा चखाऊँ और फिर लंका को चलूँ ?

प्रत्युत्पन्नमतित्वम्

प्रत्युत्पन्नेऽर्थे मतिवैदग्ध्यं प्रत्युत्पन्नमतित्वम् । यथा चित्रशालिकायाम्—

प्रत्युत्पन्नमतित्व—कोई समस्या या संकट पैदा हो जाने पर बुद्धि कौशल का प्रदर्शन '*प्रत्युत्पन्नमतित्व*' समझना चाहिए। जैसे चित्र-शालिका में :—

माठरः—

एका गदा दुदीया आअदा। [एका गता द्वितीया आगता।]

माठर—एक गया और दूसरा आ गया।

धरणी—

अज्ज, भण भण का गदा का आगदा। [आर्य, भण भण का गता का आगता।]

धरणी—आर्य, कौन गया और कौन आया ?

माठरः—

मम वढ्ढस्स सीसवेअणा गदा बभुक्खा आ अदा। [मम वृद्धस्य शीर्षवेदना गता बुभुक्षागता]

माठर—मुझ बूढ़े का सरदर्द गया और भूख आगयी।

गोत्रस्खलितम्

नामान्तरग्रहणं गोत्रस्खलितम्। यथा रम्भानलकूबरे—

गोत्रस्खलित—सहसा किसी (प्रतिपक्षी) का नाम मुँह से निकल जाना '*गोत्रस्खलित*' कहलाता है। जैसे रम्भानलकूबर में :—

नल–प्रसीद मेनेऽहमुपारतोऽस्मि

नल—मेने, तुम प्रसन्न हो जाओ, मैं मर रहा हूँ।

रम्भा–प्रसाधतां साहमपैमि रम्भा।

रम्भा—आप उसे [मेना को] मनाइये, मैं रंभा हूँ और यहाँ से अब जा रही हूँ।

नल.–अहो विधिर्मे पदसन्निधिस्ते
करोति गोत्रस्खलिताभिशङ्काम्॥

नल—मेरा यही तो दुर्भाग्य है कि मेरे द्वारा उच्चरित [मेने] शब्द [जिसका अर्थ है समझना] अपने समीपवर्ती शब्दों के कारण तुम्हें '*गोत्रस्खलन*' की आशंका उत्पन्न करवा रहा है।

साहसम्

सहसैव शरीरमनपेक्ष्य कार्ये प्रवृत्तिः साहसं सहसा जातम् ।

यथा—श्मशानाङ्के मालतीदर्शनार्थं माधवस्य भूतेषु महामांसविक्रय ।

साहस—शरीर की बिना परवाह किये अकस्मात् आने वाले कार्य में [प्राणपण से] जुट जाना '*साहस*' कहलाता है। जैसे श्मशानाङ्क में माधव का मालती को प्राप्त करने के लिए महाभूतों को अपने शरीर का मास प्रदान करना [महामासविक्रय]।

भयम्

भयं भीति । यथा तत्रैव मालत्या अघोरघण्टाद्भी ।

भय—डरना '*भय*' समझना चाहिए। जैसे इसी मे मालती का अघोरघट से डर जाना।

धीः

परचित्तोपलक्षिका बुद्धिर्धी । यथा मुद्राराक्षसे तृतीयेऽङ्के कृतक-कलह कृत्वा चाणक्ये निष्क्रान्ते—

धी—दूसरों के मन की बात ताड़ जाने की बुद्धि रखना '*धी*' समझना चाहिए। जैसे *मुद्राराक्षस* के तृतीय अङ्क में बनावटी कलह के बाद चाणक्य के चले जाने पर :—

कञ्चुकी—दिष्ट्या देव इदानीं देव. संवृत्त ।

चन्द्रगुप्त. (स्वगतम्)—एवमस्मासु निगृह्यमाणेषु स्वकार्य-सिद्धिकाम' सकामो भवत्वार्य इति ।

कञ्चुकी—चलो अच्छा हुआ, अब आप राजा हो गए।

चन्द्रगुप्त—(स्वगत) हमारे द्वारा इसी प्रकार रहने पर आर्य अपने कार्यों में सिद्धि प्राप्त करें।

माया

मयेन दानवेन सुरोंद्धरत्वयितु प्रयुक्त कपट माया । यथा सुग्री-वाङ्के मायाहनुमान् ।

माया—देवताओं को छलने के लिए मय दानव द्वारा किया हुआ प्रपञ्च जैसा कार्य '*माया*' समझना चाहिए। जैसे सुग्रीवाङ्क में माया-हनुमान् के प्रयोग द्वारा सुग्रीव को भ्रम पैदा करना।

क्रोधः

क्रोधः कोपः। यथा प्रतिज्ञाभीमे—

भीम—आः शैलूषापसद इत्यादि।

क्रोध—गुस्सा आना '*क्रोध*' कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञाभीम अङ्क में —

भीम—अरे नीच नट, अमंगलपाठक आदि।

रुक्

प्रहारादिसम्भवा वेदनाः रुजः। यथा शक्त्यङ्के लक्ष्मणः। चूडामणौ जीमूतवाहनः। लामकायने स एव। तत्र ते पीडां नाटयन्ति। अन्येऽपि मनःक्षोभजननमनिमित्तदर्शनमपि रुजापक्ष एव व्याचक्षते। यथा (मृच्छकटिके) चारुदत्तः—

शुष्कद्रुमगतो रौति आदित्याभिमुखं स्थितः।
कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः॥ (मृ० क० ९।११)

रुज—चोट आदि से होने वाला कष्ट '*रुज*' कहलाता है। जैसे शक्त्यङ्क में लक्ष्मण को चोट लगना। चूडामणि अङ्क में जीमूतवाहन को चोट लगना। लामकायन[1] अङ्क में भी उसे ही चोट लग जाना। इन अङ्कों में ये पात्र शारीर कष्ट का अनुभव करते हैं [या शरीर की *पीड़ा का अभिनय करते हैं*]। *कुछ आचार्यों का मत है कि मानसिक* क्षोभ या अपशकुन का दिखलाई पड़ना भी '*रुज*' ही का एक रूप है। जैसे—मृच्छकटिक में [अपशकुन से होने वाले कष्ट का उदाहरण] चारुदत्त—ज्ञान या संकेत देने में चतुर यह कौआ सूखे पेड़ पर चढ़ कर और सूर्य की ओर मुँह करते हुए रोकर मुझे भावी संकट की सूचना दे रहा है।

संवरणम्

कथान्तरेऽनिरूप्यमाणे यथाकार्यापेक्षितया (यत्) संहरणं तत्संवरणम्। यथानुतापे

---

1. लामकायनाङ्क—पुष्पदूषितक प्रकरण का दूसरा अङ्क।

चित्रामुख—केण सा गब्भदासी जीआविदा ¹ [केन सा गर्भदासी जीवापिता ?]

सूमाय—महती खल्वियं कथा, पथि श्रोष्यसि ।

संवरण—आवश्यक कार्यों के आजाने पर अवान्तर वार्तालाप को बन्द कर देना 'संवरण' कहलाता है। जैसे अनुतापाङ्क¹ में :—

चित्रामुख—इस जन्म की दासी को किसने जिन्दा कर दिया ?

सूमाय—यह बडी लम्बी कहानी है। मैं इसे रास्ते में कहूंगा।

भ्रान्तिः

भ्रान्तिर्भ्रम । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिरस्य भीमे एव दुर्योधन-बुद्धि ।

भ्रान्ति—सन्देह या विकल्प का उत्पन्न हो जाना 'भ्रान्ति' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर का भीम को दुर्योधन समझ लेना।

हेत्ववधारणम्

हेत्ववधारण हेतोर्मिथ्या–कल्पना । यथाश्वत्थामाङ्के–

दुर्योधनः—साधु अङ्गराज, साधु । निपुणमभिहितम् ।

कर्णः—न चायं ममैकस्याभिप्राय । अन्येऽभियुक्ता अपि नैवेदमन्यथा मन्यन्ते ।

दुर्योधनः—एवमेतत् क सन्देह ।

दत्त्वाभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना ।

सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥ (वे० सं० ३।२८)

हेत्ववधारण—किसी मिथ्या कारण की कल्पना कर लेना 'हेत्वव-धारण' कहलाता है। जैसे अश्वत्थामाङ्क में :—

---

1. अनुतापाङ्क = छलितराम नाटक के एक अङ्क का नाम। इस नाटक में लवणासुर के गुप्तचर चित्रामुख तथा सूमाय नामक दो राक्षसों के द्वारा कूटनीति का प्रयोग करते हुए कैकयी और मन्थरा पर अपनी माया फैला कर श्रीराम को सीता को छोड़ने के लिये विवश किया जाना तथा सीता के हृदय में विराग उत्पन्न किया जाना बतलाया गया है। अतएव सीता का परित्याग श्रीराम के छलने के कारण ही सम्भव हुआ था ऐसा परिणाम प्रस्तुत नाटक का प्रतिपाद्य है जो इन्हीं दो राक्षसों की दुरभिसन्धियों से हुआ था।

दुर्योधन—अङ्गाधिपति कर्ण, आप ठीक कह रहे हैं।

कर्ण—यह केवल मेरी ही धारणा नहीं है। दूसरे नीतिमान पुरुष भी यही धारणा करेंगे।

दुर्योधन—हाँ हाँ. इसमें क्या शक है ?

यदि यही बात न होती तो उन अतिरथ द्रोणाचार्य के द्वारा सिन्धुराज जयद्रथ को अभयदान देने पर भी अर्जुन के द्वारा उसके मारे जाने के समय इस प्रकार उन्हीं से उपेक्षा क्यों हो गयी ?

दूतः

सन्देशहरः दूतः। यथा दूताङ्गदे अङ्गदः।

दूत—समाचार या सन्देश का लाना या लेजाने का कार्य करने वाला पुरुष 'दूत' कहलाता है। जैसे दूताङ्गद मे अङ्गद।

उपधिः

उपधिश्छलनम्। यथा (वेणीसंहारे) युधिष्ठिरे चार्वाकस्य वचनम्।

उपधि—धोखा देना 'उपधि' कहलाता है। जैसे [वेणीसंहार नाटक मे] युधिष्ठिर के प्रति चार्वाक राक्षस का कथन।

स्वप्नः

निद्रायां चित्रगतार्थालापः स्वप्नः। यथा कीचकभीमे—'एतां सतीमि'त्यादि।

स्वप्न—(अपनी) बुद्धि मे आने वाली विचित्र बातों का नींद में बड़बड़ाना 'स्वप्न' कहलाता है। जैसे कीचकभीम में—इस सती को'''इत्यादि कथन।

चित्रम्

चित्रम् आलेख्याभिमतजनदर्शनोपायः। यथा नागानन्दे द्वितीयेऽङ्के जीमूतवाहनः—वयस्य,

प्रिया सन्निहितैवेयं सङ्कल्पस्थापिता पुरः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः॥

(नागा० २।९)

चित्र—किसी रेखाचित्र या प्रतिकृति के द्वारा प्रियजन को देखना 'चित्र' कहलाता है। जैसे नागानन्द के द्वितीयाङ्क में:—

जीमूतवाहन—मेरी कल्पनाओं के द्वारा लाई गयी प्रियतमा तो मेरे सामने ही विद्यमान है। मैं उसे बार-बार देख कर यदि यहाँ अंकित करूँ तो इसमें क्या आश्चर्य हो सकता है?

मदः

सुरापानप्रभवो विकारः मदः। यथा तमालवीथ्यङ्के।

शेखरः—चेडा चेडा को मां चालेदि? [चेट चेट, को मां चालयति?]

चेटः—भट्टके, शुला। [भर्त:, सुरा।] इति।

मद—शराब पीने के बाद होने वाला नशा 'मद' कहलाता है। जैसे तमालवीथ्यङ्क में —

शेखर—अरे चेट, यह मुझे कौन घुमा रहा है?

चेट—मालिक, यही शराब है।

सन्ध्यन्तरप्रदेशाः सन्धीनामन्तरे चाकाशपुरुषवचनानि लेख्योक्तय- विधातव्याः। यदाह—'लेख्योक्तिराकाशवचनमन्तरा सन्धिष्विति'।

ये इक्कीस सन्ध्यन्तर या अन्तरसन्धियाँ हैं। इन्हें सन्धियों के बीच में रखना हो तो तदर्थ दिव्य पात्रों के वचनों, लेखों और आकाश- भाषित का भी उपयोग किया जाए। जैसा कि कहा भी है—'सन्धियों के बीच में दिव्य पात्रों के वचन तथा आकाशभाषित (आदि) रखे जाएँ'।

पताकास्थानकानि

पताकास्थानानि चत्वारि काव्यस्यालङ्कारभूतान्यपि निर्वहण- सन्धिवर्ज्यं कार्याणि। पताकास्थानानि शोभाहेतूनि। तत्र पताकास्थानं सामान्येनोच्यते—

यत्रान्यस्मिंश्चिन्त्यमाने तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तद् ॥ १०६ ॥
(ना० शा० २१।२९)

यथा दशरथाङ्के—दशरथ रामस्य राज्ये चिन्त्यमाने भरतस्य राज्यं तल्लिङ्गजातमिति विषादेनागन्तुकेन व्यभिचारिणा भावेन[1] गृहीत पठति—'रामोऽपि गच्छतु वन'मित्यादि ।

पताकास्थानक—सन्धियों में केवल निर्वहणसन्धि को छोड़ कर शेष स्थानों पर चार पताकास्थानों की भी योजना की जाए। पताकास्थानक की योजना से नाटकादि में शोभा का सवर्द्धन हो जाता है; क्योंकि ये काव्य के किसी उद्देश्य या कार्य की सूचना देते हैं। अब हम पहिले पताकास्थानक का सामान्यस्वरूप कहेंगे :—

जब किसी एक कार्य का विचार करने के समय तत्काल वैसे ही अन्य प्रयोजन की भी अतर्कित रूप में प्राप्ति हो जाए [या उसका सङ्केत मिले] तो उसे 'पताकास्थानक' समझना चाहिए।

जैसे दशरथाङ्क में महाराजा दशरथ का राम को राज्य देने का विचार करने के समय भरत को भी उसी प्रकार राज्य देने का विचार कर बाद में विषाद नामक अतर्कितसंचारीभाव[1] के आवेश में आकर कह डालना—'राम वन को जाए' इत्यादि।

तत्र प्रथमम् (पताकास्थानम्) यथा—

सहसैवार्थनिष्पत्तिर्गुणवत्युपकारतः ॥ १०७ ॥

(ना० शा० २१।)

तत्क्षणादेव समीहितस्यार्थस्य निष्पत्तिः। कुतः ? उपकारत अभिवाञ्छनसिद्धिनिष्पादनम् । तत्पताकास्थानं वेदितव्यम्। यथा—जीमूतवाहनस्य परार्थे आत्मानं ददतः शङ्खचूडेन न दत्तं वध्यचिह्नं तद् व्याकुलस्य कञ्चुकिनानीय मित्रावसुजनन्या प्रहितं रक्तवासोयुगं दत्तम्। यथा—

क्रमशः पताकास्थानकों के लक्षणों में सर्वप्रथम पहिले पताकास्थानक का लक्षण बतलाते हैं :—

१. यहाँ आगन्तुक भाव का अर्थ है किसी व्यभिचारी (आदि) भाव के आवेश में आ जाना। अभिनवगुप्त तथा धनिक ने भी यही आशय अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है। (द्रष्टव्य अभि० भा० Vol. III. पृ० १९ तथा दशरूपक अवलोक १। १४)।

प्रथम पताकास्थानक—सामाजिक जहाँ किसी गौण या अप्रत्यक्ष विधि से किसी अभीष्ट कार्य अथवा घटना का संकेत प्राप्त कर लेते हों तो उसे *'प्रथम पताकास्थानक'* समझना चाहिए।

अभीष्ट अर्थ या कार्य का उसी समय प्राप्त हो जाना यहाँ इष्ट है। यह क्यों ? क्योंकि जिसकी इच्छा बहुत दिनों से थी उसी इष्ट की इससे पूर्ति हो जाती है—तो इसे लक्षणानुसारी पताकास्थानक ही कहना चाहिए। उदाहरणार्थ जब जीमूतवाहन दूसरों की प्राणरक्षा के लिए अपने प्राण देने को उद्यत होता है तब शङ्खचूड उसे अपना वध्यचिह्न नहीं देता पर उसी समय मित्रावसु की माता के द्वारा भेजे गए दो वस्त्रों को घबराहट के कारण कञ्चुकी जीमूतवाहन को दे देता है। जैसा कि जीमूतवाहन के निम्न कथन से स्पष्ट है —

वासोयुगमिदं रक्तं प्राप्ते काले समागतम्।
महतीं प्रीतिमाधत्ते परार्थे देहमुज्झतः॥

(नागा० ४।२१)

उपर्युक्त समय पर लाया गया यह वस्त्रों का जोड़ा मुझे बड़ा आनन्द दे रहा है जब कि मैं दूसरों के प्राणों की रक्षार्थ अपने प्राणों को दे रहा हूँ।

द्वितीयं (पताकास्थानम्) यथा—
वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्॥ १०७॥

(ना० शा० २१।३१)

वचो वचनम्, सातिशयं बह्वर्थसाधनं, श्लिष्टं द्व्यर्थवचनं, काव्यबन्धसमाश्रयं प्रस्तुतस्य रागस्याश्रयम्। यथा वेण्याम्—सूत्रधार—'निर्वाणवैरदहना.' (वे० सं० १।७) इत्यादि।

द्वितीय पताकास्थानक—जहाँ (किसी) प्रकृत विषय के अतिशय वर्णन में प्रयुक्त *श्लिष्ट-वचन* या रचना विन्यास किसी अप्रकृत अर्थ के भी अनुकूल बन पड़े तो उसे *'द्वितीय-पताकास्थानक'* समझना चाहिए।

वचन का अर्थ है संवाद। अतिशय का अर्थ है अनेक अर्थों का साधक। श्लिष्ट का अर्थ है—जिससे दो अर्थ प्रकट होते हों। रचना-

विन्यास का अर्थ है—ऐसी काव्यरचना जो प्रकृत विषय का वर्णन करे। उदाहरणार्थ वेणीसंहार का निम्न पद्य :—

सूत्रधार—सन्धि होने पर, विद्वेष की अग्नि के शान्त हो जाने के कारण (शत्रुक्षय हो जाने पर पाण्डुपुत्र भी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ आनन्द मनाएँ और उधर विग्रहविहीन कौरव भी प्रेम से समस्त भूमण्डल पर अधिकार कर अपने सेवकों के साथ स्वस्थ हो जाएँ।)

तृतीयं (पताकास्थानम्) यथा—

अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत्।

श्लिष्ट-प्रत्युत्तरोपेतम् ॥ १०८ ॥ (ना० शा०)

यस्मिन्नर्थप्रकाशो लीनं सविनयम् औद्धत्यमपास्य मग्नं भवेत्। द्वयर्थाविभाष श्लिष्टप्रत्युत्तरमिति। खण्डितानायकयोरुत्तरोत्तरमस्मिन्नुदाहरणमुपन्यस्यते। यथा—

कान्ते नाथ कुतोऽस्मि किं प्रियतमे दूरं ममैतद्वचो
जातं तेऽद्य किमन्य-नाम विहितं यत्नेक्षितं जन्मनि।
व्यक्तं ब्रूहि कृतं त्वयैव सभयासङ्गोऽपि दोषोऽथवा
यस्तस्यास्तु पतामि ते चरणयोः स्वस्त्यस्तु ते सुप्यताम्॥ इति।

सभया चौरिकया नायकेन सह व्यवहारमाणा सभया कथिता। अन्यत्र सभया परिषदा।

तृतीय पताकास्थानक—जहाँ श्लिष्ट संवादों में विनयपूर्वक प्रस्तुत अर्थ के अभिधान को प्रश्नोत्तर प्रणाली में रखने पर किसी अप्रस्तुत या अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति होने लगे तो उसे '*तृतीयपताकास्थानक*' समझना चाहिए।

अर्थात् जहाँ अर्थों की अभिव्यक्ति औद्धत्यहीन रूप में रहने के कारण छुपी रहती हो तथा श्लिष्ट संवाद उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में रखे जाएँ। जैसे नायक तथा खण्डिता नायिका के संवादमय निम्न पद्य में :—

प्रिये,
स्वामिन्,
तुम कहाँ हो ?

मैं (तो) यहाँ हूँ।
आप मुझ से अधिक दूर क्यों हैं?
मेरे यह शब्द ही मुझे दूर किये हुए हैं।
तुम्हें आज क्या हो गया है?
आज कुछ ऐसे शब्द सुने [जो किसी दूसरी नायिका की नामावली के हैं तथा] जो इस जन्म में देखे और सुने नहीं गये थे।
तुम मुझे साफ साफ क्यों नहीं कहतीं [कि मैंने क्या किया है]?
तुम्हारे द्वारा काँपते हुए आलिङ्गन किया जाना [अथवा तुम्हारा कार्यवश सभा में ही बैठे रहना या रम जाना]
तो इससे तुम्हें कौन कष्ट पहुँच गया?
यह तो उसे ही हो।
मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूँ,
तो आपका कल्याण हो।
अच्छा अब बहुत हो चुका, आप सो जाएँ।
यहाँ सभयासङ्ग का एक अर्थ है गुप्तरूप से काँपते हुए अन्य नायिका से आलिङ्गन करना। इसी का दूसरा अर्थ होगा सभयाआसङ्ग अर्थात् राजसभा में रम जाना।

चतुर्थं (पताकास्थानं) यथा—
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
उपपत्त्या सम्प्रयुक्तः ॥ १०९ ॥ (ना० शा० २१।३३)

अर्थद्वयवाची, काव्ययोजनाक्षम उपपत्तिमान्। यथा जानकीराघवे सीता प्रति राम —

लङ्कासमृद्धिमापन्न क्रीडारण्ये सपुष्पक।
कच्चिल्लोहितपत्रस्त्वामशोकोऽसौ हरिष्यति ॥ इति।

अस्य प्रयोगो मुखादिसन्धिचतुष्टये क्वापि विधातव्य। स्वमदूत-नेपथ्याकाशवचनानि लिखितानि अनन्तरसन्धिषु कथ्यन्ते। यथा वेण्याम्-

अश्वत्थामा—'कथममानुषी वाक्' (वे० स० अङ्क ३)।
राघवाभ्युदये वा—अस्तु सौमित्रे पौलस्त्यवधावधिरय शाप।
लक्ष्मण —कथं हरिपद-सञ्चारी भगवान् मारुतो व्याहरति।

चतुर्थ पताकास्थानक—जब कारण पुरस्सर कथावस्तु के उपयुक्त दो अर्थों की योजना की जाए [तथा वे मुख्य अभिप्राय के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी प्रकट करें] तो उसे *'चतुर्थ-पताकास्थानक'* समझना चाहिए।

अर्थात् यहाँ शब्द श्लिष्ट या दो अर्थों वाले होना चाहिए, ये काव्य-रचना में उपयुक्त स्थान पर रहें तथा सकारण या युक्तियुक्त हों। जैसे जानकीराघव में श्रीराम की निम्न उक्ति :—

रक्तपल्लवधारी, विहारवाटिका में स्थित तथा दृष्टिगोचर होने वाला यह अशोकवृक्ष संभवतः तुम्हें अपनी लुभावनी पुष्पावली और विपुल शाखाओं से [अवश्य] आकृष्ट कर लेगा। (अन्य अर्थ—

अपनी लाल-लाल पत्तियों से लङ्का की समृद्धि करता हुआ पुष्पक विमान से युक्त, विहारस्थली अशोकवाटिका का यह शोकरहित प्रदेश संभवतः *तुम्हारा हरण अवश्य करेगा*—)

मुख आदि चार सन्धियों में कहीं भी इन पताकास्थानकों की योजना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सन्धियों के बीच में स्वप्न[1], दूत, आकाशवाणी तथा पत्र आदि की भी योजना की जा सकती है। जैसे *अश्वत्थामाङ्क* में :—

अश्वत्थामा—अरे ! यह आकाशवाणी थी ?

तथा राघवाभ्युदय में भी—[आकाशवाणी]

'लक्ष्मण, यह शाप रावण के वध तक प्रभावशाली रहेगा।'

लक्ष्मण—क्या आकाशगामी भगवान् वासुदेव ने यह कहा है ?

वृत्तयः

चतुर्वृत्तीति। चतस्रो वृत्तयोऽस्मिन्निति। वृत्तिरिति। नेपथ्य-गीतवादित्र-रसभावाभिनयनृत्यजातीनां क्वापि विशेषे वर्तनमितिवृत्तिः कथिता (कथ्यते ?)। अथवा विलासविन्यासक्रमो वृत्तिरिति।

एता वृत्तयश्चतुर्वेदीसमाश्रया. यथाक्रमं वाक्सत्वलीलाव्यायाम

---

१. यहाँ सन्धियों के मध्यन्तर में स्वप्न आदि के संयोजन का उल्लेख मातृगुप्ताचार्य के अनुसार किया गया है। यथा—

स्वप्नो दूतश्च लेखश्च नेपथ्योक्तिस्तथैव च।
आकाशवचनञ्चेति ज्ञेया ह्यन्तरसन्धयः॥
(अभि० शाकु० राघवभट्टीय-व्याख्या N S Ed पृ० २०)

प्रधाना । सात्विक सात्वत्यामाहार्यं केशिक्यामाङ्गिकमारभट्याम् नृत्यं भवति । तदेताभिश्चतुरवस्थानानि रूपकाणि सिद्ध्यन्ति । एताश्च नामत कथ्यन्ते–भारती, सात्वती, कैशिकी आरभटी इति । तत्र भारती कथ्यते–

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयुज्या
स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठयुक्ता ।
स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता
ता भारतीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥ ११० ॥
(ना० शा० २२।२५)

वृत्तियाँ—अब *चारवृत्तियों* का निरूपण करते हैं। पहले नियम बतलाया गया है कि नाटक में चार वृत्तियों का सन्निवेश रहता है। वृत्ति का अर्थ है—*गायन वादन, रस भाव आदि के अभिनय तथा नृत्य के विविध प्रकारों को जब एक विशेष पद्धति या क्रम में प्रस्तुत किया जाए तो वह 'वृत्ति'*[1] कहलाता है। या विलास आदि का क्रमश प्रस्तुत किया जाना या स्थापन करना *'वृत्ति'* समझना चाहिए। ये वृत्तियाँ चारों तत्त्व का आश्रय लिए हुए होती हैं तथा क्रमश वाणी, मन, लीला और व्यायाम की प्रमुखता लिए हुए होती हैं। भारती वृत्ति में वाचिक अभिनय सात्वती वृत्ति में सात्विक अभिनय, कैशिकी वृत्ति में आहार्याभिनय तथा आरभटीवृत्ति में आङ्गिक अभिनय तथा नृत्य रहता है। इस प्रकार चार अवस्थाओं में रूपक इन वृत्तियों के द्वारा निर्मित हो जाते हैं। इन वृत्तियों के नाम हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी।

'भारती करुणाद्भुते' इति च—

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्
सात्वत्यपीह गदिताद्भुतवीररौद्रैः ।

---

1 वृत्ति का यह लक्षण राजशेखर के अनुसार है। (द्र०–का० मी० पृ० ९ G O S)।

शृङ्गारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुतारभटी सरौद्रा ॥ १११ ॥
(ना० शा० २२।६३)

अब भारती वृत्ति का लक्षण बतलाते हैं :—

भारती—जिसमे संवाद या वाणी मुख्यरूप मे (प्रमुखता लिए हुए) रहे, जो पुरुष पात्रो द्वारा प्रयुक्त की जाए, स्त्रियों का जिसमे सन्निवेश न हो, संस्कृत भाषा में संवाद हो तथा नटों के द्वारा अपने ही नाम पर जिसका नामकरण किया गया हो तो उसे *'भारती'* वृत्ति समझना चाहिए।

भारती वृत्ति में करुण और अद्भुत रस रखे जाते हैं।

वीर, अद्भुत और हास्यरस में भारतीवृत्ति का, अद्भुत, वीर तथा रौद्ररस में सात्वती वृत्ति का, शृङ्गार, हास्य तथा करुणरस में कैशिकी वृत्ति का और रौद्र तथा भयानकरस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग इष्ट होता है।[1]

इत्याचार्यमतमदः सार पुनरयम्—

सर्वान् रसानियं वृत्तिर्भारती व्याप्य तिष्ठति।
विभूतिर्व्योमभूतस्य पदार्थान् सकलानिव ॥ ११२ ॥
नाममात्रसमुद्दिष्टाश्चतस्रो वृत्तयो मया।
एकीभावस्तु सर्वासां भारत्यामेव दृश्यते ॥ ११३ ॥

यह आचार्यों का मत है। जिसका सार यह है कि—यह भारती वृत्ति सभी रसों में व्याप्त होकर उसी प्रकार रहती है जैसे आकाश सभी पदार्थों को अपने में व्याप्त करता है।

इन चारों वृत्तियों के नाम उनके प्रकार बतलाने के लिए ही मैंने कहे हैं किन्तु इन सभी वृत्तियों का एकीभाव भारती वृत्ति मे ही प्राप्त होता है।

---

१ सागरनन्दी द्वारा वृत्तियों की विभिन्न रसों में रखी गयी यह योजना भरत के विपरीत है। भरत के अनुसार भारतीवृत्ति 'हास्यशृङ्गार बहुला' होती है। शृङ्गार, हास्य तथा करुणरस में कैशिकी वृत्ति की योजना 'कोहल' का मत है जिसकी अभिनवगुप्त पाद ने समालोचना भी की है। (द्रष्टव्य- अभि० भा० Vol II पृ० ४५२ G. O S.)।

प्ररोचना

अस्या वृत्तेश्चत्वारो भेदा अङ्गत्वमागता । प्ररोचना, आमुखं, वीथी, प्रहसनं तथा । तत्र प्ररोचना—

जयाभ्युदयमापन्ना मङ्गल्या विजयावहा ।
सर्वपापप्रशमनी पूर्वरङ्गे प्ररोचना ॥ ११४ ॥

प्ररोचनाया कोऽर्थ । प्रसिद्धार्थप्रदर्शनी प्ररोचनाभिधीयते ।

भारती वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं। ये इसके प्रभेद भी है। इनके नाम हैं—(१) प्ररोचना, (२) आमुख, (३) वीथी तथा (४) प्रहसन। अब प्ररोचन के लक्षण को बतलाते हैं ।—

प्ररोचना—पूर्वरङ्ग में प्ररोचना को रखने से यह विजय, विकास, मंगल तथा सिद्धि प्रदान करती है और सभी पापों का शमन करती है। प्रश्न—प्ररोचना (शब्द) से क्या तात्पर्य है? उत्तर—इसे प्ररोचना इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें प्रसिद्ध विषय या विचारों का प्रदर्शन रहता है। जैसे '—

तद्यथा—

अम्भोधिवारितरणे भयकातराक्ष्या
लक्ष्म्या करे करतलेन दृढ धृतस्य ।
सोत्कम्प-घर्मपुलकोद्गम गद्गदोक्ति
सत्त्वाश्रयो जयति कोऽपि हरेर्विकार ॥

समुद्र के जल को पार करने में भय के कारण घबडा जानेवाली श्रीलक्ष्मी जी को सहारा देने के लिए उनका हाथ थाम लेने के कारण भगवान श्रीविष्णु के कम्पन, रोमाञ्च और टूटी हुई आवाज में सम्भाषणरूपी सात्त्विक विकारों की जय हो।

अन्ये त्वाहुः—

'प्रस्तुतस्यैव काव्यस्य यन्निष्पन्नेन वस्तुना । कथनं सा प्ररोचना ।' इति ।

अन्य आचार्यों का मत है कि प्रस्तुत काव्य या नाटकीय कथावस्तु को सिद्ध या घटित घटना के सदृश अभिहित करना 'प्ररोचना' कहलाता है।

यथा नरकवधे—

> सृष्टं तत्क्रीडरूपं दनुजपतिवपुर्मेदरक्ताक्तदंष्ट्रं
> दृष्ट्वा त्रासेन दूरं भुवमभयवचो व्याहृतेऽपि प्रयान्तीम् ।
> मायाकृष्ण पयोधे क्षणविधृतचतुर्बाहुचिह्नात्ममूर्ति
> स्वस्थामुत्थापयन् वा द्विगुणभुजलतारोहरोमाञ्चिताङ्गीम् ॥

मुखादिसन्धीनामवतारयादौ प्ररोचना कार्या ।

उदाहरणार्थ नरकवध में '—

भगवान् श्रीविष्णु के द्वारा लीला के हेतु धारण किये गए वाराह रूप को—जो दानवराज हिरण्याक्ष के रक्त और मज्जा से सना होने से बड़ा भयानक दिखलाई दे रहा था—देख कर पृथ्वी भय से त्रस्त होकर भागने लगी। तब भगवान् के द्वारा अभय वचन देकर (मत डरो, मैं दानव नहीं हूं इत्यादि सान्त्वनापूर्ण शब्दों से) रोकने का उद्योग करने पर भी न रुकनेवाली पृथ्वी के विश्वास के लिए भगवान् ने स्वयं अपना चतुर्भुज स्वरूप प्रकट कर उसे स्वस्थतापूर्वक उठाया तो श्रीविष्णु के स्पर्श से पृथ्वी की भुजलताओं में दुगुना रोमाञ्च हो उठा।

मुख आदि सन्धियों के आरम्भ के लिए सर्वप्रथम 'प्ररोचना' रखना चाहिए।

नान्दी

नान्द्यपि तत्रैव कर्तव्या । यदुक्तम्

> नाटकादिरूपेषु पूर्वरङ्गसमाश्रयात् ।
> नान्दी नाम विधातव्या सर्वविघ्नप्रशान्तये ॥ ११५ ॥

नान्दी भी पूर्वरंग में इसी प्रकार आरम्भ में ही रखी जाए। जैसा कि कहा भी है :—

नाटक आदि सभी दृश्य काव्य के प्रकारों में पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत नान्दी को अवश्य रखा जाए क्योंकि रङ्गमञ्च के सभी विघ्नों की नान्दी-पाठ से शान्ति हो जाती है।

का पुनरियं नाम ? पूर्वरङ्गस्याङ्गम् । यथाह बादरायणः—

> 'यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके ।
> तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥

प्रश्न—नान्दी क्या है ? उत्तर—यह पूर्वरङ्ग का एक भाग होती है। जैसा कि आचार्य बादरायण[१] ने कहा भी है :—

यद्यपि नाटक में पूर्वरङ्ग के अनेक अङ्गों का विधान बतलाया गया है परन्तु इन अङ्गों में 'नान्दी' का प्रयोग रङ्गस्थ विघ्नों की शान्ति के लिये अवश्य रहना चाहिए।

यदुच्यते नान्द्यन्ते सूत्रधार इति। प्रधानमङ्गं पूर्वरङ्गे सूत्रधार-प्रयोज्यदेवस्तुतिसमाश्रया आशीर्वचनात्मिका द्वादशपदा अष्टपदा वा। पदमपि द्वयमत्र सम्मतम्। श्लोकस्य पाद एव पदमिति येप्याहुस्तेषां मतेन श्लोकद्वयं श्लोकत्रयं वा विधातव्यम्। ये तु सुप्तिङ्गं संज्ञाशब्दं पदमिच्छन्ति तेषां सुबन्ततिङन्तपदैर्द्वादशभिरष्टाभिश्चैक एव श्लोकः कर्तव्यः। अन्यस्त्वाह—क्रिया कारकयुक्तं वाक्यं पदमिति। उभयमपि प्रसिद्धमेव।

जैसा कि प्रायः सभी रूपकों में रहता है—नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश (इत्यादि)। क्योंकि नान्दी को पूर्वरङ्ग का प्रधान अङ्ग माना जाता है और यह सूत्रधार के द्वारा देवता की स्तुति या आशीर्वादात्मक रूप में (रङ्गमञ्च पर) पाठ की जाती है। इसमें बारह या आठ पद होते हैं। जिनके मत में 'पद' का आशय श्लोक या पद्य के एक पाद से हो उनके मतानुसार नाटक आदि दृश्यकाव्य के आरंभ में दो या तीन पद्यों की नान्दी रहती है। परन्तु जो आचार्य सुबन्त और तिङन्त संज्ञा शब्द को पद मानते हैं उनके मतानुसार एक पद्य की भी नान्दी हो सकती है जिसमें बारह या आठ पद हों। कुछ दूसरे आचार्यों का मत है कि क्रिया कारक आदि से युक्त वाक्य को ही यहाँ 'पद' समझना चाहिए। इनमें आरम्भ के दो मत ही अधिक प्रसिद्ध होने से व्यवहार में आते रहते हैं।

सूत्रधारः

क एष सूत्रधारो नाम। आह शातकर्णिः—'अनुष्ठानं प्रयोगस्य

---

१. बादरायण नाट्यशास्त्र के एक लेखक तथा आचार्य थे। रत्नकोश में इनका मत अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है तथा नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण प्राप्त होते हैं।

सूत्रं तद्धारयतीति सूत्रधार । पूर्वरङ्गमात्रोपयोगी बहिःपात्रमित्यर्थ ।

यथाह भरतः —

सूत्रधार—प्रश्न—(नान्दी पाठ का कर्त्ता) सूत्रधार किसे कहते हैं ? *उत्तर—शातकर्णी*[1] आचार्य का मत है कि सूत्रधार वह है जो नाट्य-प्रयोग की व्यवस्था करे क्योंकि नाट्यप्रयोग का सम्पादन 'सूत्र' कहलाता है और उस कार्य का सम्पादक सूत्रधार। इसका कार्य पूर्वरङ्ग में ही रहता है और यह नाटकीय पात्रों के अन्तर्गत अभिनेताओं में नहीं माना जाता। जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने बतलाया भी है'—

सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नान्दीपदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्य शुभ तथा ।
जित सोमेन वै राज्ञा चारोग्य गोभ्य एव च ॥
ब्रह्मोत्तर तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमा महाराज पृथिवीं च ससागराम् ॥
राज्यं प्रवर्द्धताञ्चैव रङ्गस्याशा समृद्धयताम् ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषित ॥
काव्यकर्तुर्यशश्चापि नित्यमेव प्रवर्द्धताम् ।
इज्यया चानया नित्य प्रीयन्ता सर्वदेवता ॥

तब सूत्रधार आठ या बारह पदों से निर्मित 'नान्दी' का मध्यम स्वर[2] से पाठ करे।

---

1. शातकर्णि भी नाट्यशास्त्र के अन्यतम आचार्य थे। अनर्घराघव की रुचिपति उपाध्याय कृत व्याख्या में भी इनकी कारिका प्राप्त होती है।

(द्रष्ट० नि० सा० संस्क० पृष्ठ ७)

२. सूत्रधार का मध्यम स्वर में नान्दी पाठ करने से आशय है मध्यम स्वराश्रित या मध्यस्वराश्रित प्रयोग का विधान सम्पन्न किया जाना। यह प्रकार शुद्धषाडव, षाडव तथा भिन्नपञ्चम में से अन्यतम हो सकता है। प्रयोग के आरम्भ में भाण्डवाद्यों को मध्यम स्वर में रखने का उल्लेख कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में भी प्राप्त होता है। (विशेष द्रष्टव्य—अभि० भा० Vol I पृष्ठ २३७, बृहद्देशी पृ० ८५, तथा सङ्गीतरत्नाकर Vol II Adyar Ed. पृष्ठ ८२–८४)।

सभी देवों को नमस्कार, ब्राह्मणों का (या द्विज जाति का) कल्याण हो, सोम राजा की विजय हो, गौएं स्वस्थ रहें, ब्राह्मण उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्राप्त करें, ब्रह्म के विद्वेष करनेवालों का नाश हो, सागर से युक्त इस पृथ्वी पर राजा शासन करें, राज्य की वृद्धि हो और रङ्गमञ्च की उन्नति होती रहे, नाट्यप्रदर्शन करवाने वाले ब्रह्म के द्वारा अभिहित महत् धर्मलाभ प्राप्त करें, नाट्यकार (कवि) का यश सदा बढे और इस नाट्ययज्ञ के द्वारा सभी देवगण प्रसन्न हों।

नान्दीपदान्तरेषु च ह्येव सन्त्विति नित्यशः ।
वदेतां सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्वकौ ॥

जब सूत्रधार नान्दी के पदों का पाठ करे तभी उसके दोनों ओर स्थित पारिपार्श्विक 'ऐसा ही हो' कहते हुए उसके कथन का अनुमोदन करें।

एवं नान्दी विधातव्या यथावल्लक्षणान्विता ।
नान्दीप्रयोगे च कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः ॥

(ना० शा० ५।९९।१०४)

लक्षणों के अनुसार निर्मित [इसी प्रकार की] 'नान्दी' की ही रचना की जाए क्योंकि उचित या निर्दिष्ट विधि से नान्दी का प्रयोग करने से चन्द्रदेव प्रसन्न होते हैं।

किं फलं स्यात् ? रसाधारत्वाच्चन्द्रमसस्तत्प्रीतिसुलभा रससम्पत्तय इति । (तथा हि—)

प्रश्न—चन्द्र के प्रसन्न होने का क्या फल होगा ? *उत्तर*—क्योंकि चन्द्रदेव रसों का अधिष्ठाता देव माना जाता है और उसके प्रसन्न होने से नाट्यप्रदर्शन में सरसता या रसबहुलता हो जाती है।[1]

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ ११६ ॥

---

१. शारदातनय का मत है कि रस का अधिकारी देवता चन्द्र है अतएव नान्दी को भी चन्द्रविषयिणी निर्मिति मानने से प्रयोग में रस नैरन्तर्य बना रहेगा तथा निर्विघ्न नाट्यप्रयोग पूर्ण होकर सफलता देगा। (द्रष्टव्य भाव प्र० पृ० १९७ G. O. S.)।

क्योंकि इसमें देवता, ब्राह्मण या राजा आदि के कल्याणार्थआशीर्वचनात्मक रचना रहती है अतएव इसकी 'नान्दी' संज्ञा रखी गयी।

नान्दी पूर्वरङ्गस्याङ्ग मुख्यतमम्। यथाह–प्रत्याहारमार्जनागीतविधिब्रह्मयोग–चारीमहाचारीप्ररोचना–नान्दीजर्जरस्तुतिदिग्वन्दनादीनि द्वाविंशत्यङ्गानि वाद्यगीतनृत्यपूर्वकदेवस्तुतिशरीरस्य पूर्वरङ्गस्येति। नान्दीप्ररोचने कथित एव।

पूर्वरङ्ग में नान्दी की महत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में गणना की जाती है। वाद्य तथा कंठसंगीत और नृत्य के द्वारा देवताओं की स्तुति के लिए ये अङ्ग होते हैं और इसी लिए ये सभी पूर्वरंग के अंग हैं। इनकी संख्या[1] बाईस मानी गई है जिनमें से मुख्य अङ्गों में से कुछ हैं—प्रत्याहार, मार्जना, ब्रह्मयोग, चारी, महाचारी, प्ररोचना, नान्दी, जर्जरस्तुति तथा दिग्वन्दना आदि।

जर्जरस्तुतिर्यथा—

ब्रह्मणाभिहितः शक्रः सुराधीशो ध्वजेन हि।
जर्जरानकरोद्विघ्नान् तेनोक्ता जर्जरस्तुतिः॥ ११७॥

जर्जरस्तुति—नान्दी और प्ररोचना के स्वरूप बतला दिये हैं। 'जर्जरस्तुति'[2] का निम्न स्वरूप है :—

१—पूर्वरङ्ग के बाईस अङ्गों में सागरनन्दी ने जिन अङ्गों के नाम नहीं दिये वे इस प्रकार हैं—अवतारण, आरम्भ, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, मार्गासारित आसारित, उत्थापना तथा रङ्गद्वार। शारदातनय का मत है कि इन बाईस अङ्गों के अतिरिक्त ध्रुवा और विश्राम को भी इस (पूर्वरङ्ग) के अङ्ग मानना चाहिए [भा० प्र० पृ० १९४–१९९ G. O. S] इन अङ्गों के लक्षण आदि नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में विस्तार से दिये गये हैं जो द्रष्टव्य हैं।

२—जर्जर शब्द का अर्थ है बाँस जिसे इन्द्रध्वज के प्रतीक के रूप में रंगमञ्च पर स्थापित करने की प्रथा है। नाट्यशास्त्र में जर्जर की उत्पत्ति की कथा में बतलाया गया है कि जब इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर प्रथम नाट्यप्रयोग प्रस्तुत किया गया तो दैत्य एवं दानवों ने उस में विघ्न डालते हुए प्रयोग को बिगाड़ दिया तभी इन्द्र ने अपने ध्वज से इन विघ्नों का नाश कर दिया। तभी से 'जर्जर पूजन' नाट्यप्रदर्शन के अवसर पर पूर्वरङ्ग का एक आवश्यक अङ्ग बन कर प्रचलित हो गया। (नाट्यशास्त्र अ० १। १५, १। ७०–७९)।

ब्रह्मा के द्वारा कहे जाने पर देवराज इन्द्र ने अपने ध्वज से (जब) सभी विघ्नों का ध्वंस कर डाला। तभी से 'जर्जरस्तुति' का प्रचलन होकर पाठ किया जाता है।

जर्जर इति शक्रध्वजस्य पूर्वाचार्यदर्शित संज्ञाशब्द ।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा इन्द्र के ध्वज के अर्थ में 'जर्जर' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

दिग्वन्दना यथा—

गृह्णीत वन्दनां यूयमधिपाः ककुभां सुराः ।
आसीदत महारा(भा) गा रङ्गरक्षां विधत्त मे ॥ ११८ ॥

दिग्वन्दना—हे दिशाओं के अधिपति देवगण, आप हमारा प्रणाम स्वीकार करें, यहाँ आकार विराजें और हमारे रङ्गमञ्च की रक्षा करें।

एषामङ्गाना चान्ते सूत्रधार कार्यमभिधत्ते इति नान्द्यन्ते सूत्रधार. । एतदेव नान्द्यन्तपदवाच्यं यदन्तर काव्यप्रस्तावकप्रवेश इति। कथ सूत्रधारप्रयोज्यत्वमेतेषाम्, कुत खल्वन्ते सूत्रधार । स एव तेषां पाठक स एव चान्ते इति।

पूर्वरङ्ग में इन्हीं अङ्गों के सम्पन्न कर लेने के पश्चात् ही सूत्रधार द्वारा रङ्गमञ्च पर आकर भावी कार्य का निवेदन किया जाता है। इसीलिए '*नान्द्यन्तेसूत्रधार.*' जैसे वाक्य नाटक के आदि में लिखा जाता है। 'नान्दी के पश्चात' का यही आशय है कि इन कार्यों के पूर्ण होने के पश्चात् एक पुरुष मञ्च पर प्रवेश करे तथा प्रयोज्य नाट्यप्रयोग (दृश्यकाव्य) का प्रस्ताव करे। प्रश्न—जब सूत्रधार पूर्वरङ्ग के अङ्गों को सम्पन्न करता है तो फिर उन्हीं अङ्गों के पूर्ण हो जाने पर पुनः उसी का प्रवेश कैसे होगा? क्योंकि जब वही नान्दी का पाठ करता है तो फिर नान्दी के पश्चात् पुन उसका ही प्रवेश करना सगत नहीं माना जा सकता?

सत्यम्। सूत्रधाराकृति स्थापको नामान्य प्रविशति। सोऽयमन्ते स्यात्। यथा—

उत्तर—ठीक है। नान्दी के पश्चात् सूत्रधार के समान ही एक

दूसरा पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है। इसे स्थापक (प्रस्तावक) कहा जाता है तथा यही नान्दी के बाद मञ्च पर अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए आता है। जैसा कि कहा भी है :—

'प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत् सूत्रधारः सहानुगः।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः॥ ११९॥
स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्यार्थानुगा ध्रुवा।
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैः नानाभावरसानुगैः॥ १२०॥
प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नामानुकीर्तयेत्।
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रस्तावनाश्रयाम्॥ १२१॥
दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः।
दिव्यमानुषसंयोगे दिव्यो वा मानुषोऽपि वा॥ १२२॥
मुखबीजार्थसदृशं नानामार्गसमाश्रयम्।
नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत्।
प्रस्ताव्यैवं विनिष्क्रामेत् काव्यप्रस्तावको द्विजः॥१२३॥

(ना० शा० ५।१४९–१५६)

पूर्वरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग प्रयोग पूर्ण हो जाने पर अपने सहयोगियों के साथ सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाए तथा सूत्रधार के समान ही गुण, वेश तथा स्वरूप लिए हुए एक दूसरे पात्र स्थापक का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होना चाहिए। इस पात्र के प्रवेश के समय नाटकीय कथावस्तु एवं अर्थ के अनुरूप (प्रावेशिकीआदि) ध्रुवाओं[1] का गान किया जाए।

---

१. ध्रुवा—नाट्यप्रयोग में गाये जाने वाले गीत जिनमें वर्ण, अलङ्कार लय, जाति तथा पाणि की विधिवत् सङ्गत रहे। इन ध्रुवाओं के पाँच प्रकार माने जाते हैं—(१) प्रावेशिकी, (२) आक्षेपिकी, (३) नैष्क्रामिकी, (४) प्रासादिकी तथा (५) अन्तरा। ये क्रमशः पात्रों के प्रवेश, परिवर्तन या दूसरी ओर मुड़ना, विदा होना, चले जाना, प्रमत्त होना या हर्ष तथा बीच के कार्यों के सन्धि-स्थलों के अवसर पर नाट्यप्रयोग की प्रगति में सहायक होकर प्रयुक्त की जाती है। (इनका विशेष विवरण तथा उदाहरण आदि नाट्यशास्त्र के अध्याय ५, १९ तथा २८ पर द्रष्टव्य)। रस, परिस्थिति तथा भाव (आदि) के अनुकूल इनमें छन्द चुना जाता है तथा संस्कृत, प्राकृत आदि किसी भी भाषा में इनकी रचना

यह सुन्दर वाक्यों से निर्मित जो रस भाव आदि से पूर्ण पद्यों का पाठ कर प्रेक्षकों को आकृष्ट करे और तदुपरान्त प्रस्तुत नाटक के रचयिता के नाम आदि का उल्लेख करे। इसके पश्चात् प्रस्तुत नाटक को आरम्भ करने वाली प्रस्तावना सम्पन्न की जाए। प्रस्तुत काव्य की सूचना अनेक प्रकार के कार्यों द्वारा दी जाती है। जैसे—नाटकीय कथा में दिव्यपात्र हों तो यह स्थापक अपना वेष दिव्य पात्रों के समान, मानव पात्रों के होने पर मनुष्यों के समान तथा मिश्रित या दिव्यादिव्य पात्र हों तो फिर दिव्य या मानव वेषों में से कोई एक वेष धारण कर *'प्रस्तावना'* का कार्य सम्पन्न करे और प्रस्तावना को प्रस्तुत करने के पश्चात् वह भी रङ्गमञ्च से चला जाए।

अयमत्रार्थ — उक्तानां पूर्वरङ्गाङ्गानामन्ते समाप्तौ। स्थापक. नाम सूत्रधारशब्देन वाच्य। स च 'सुवाक्यमधुरै. श्लोकै' रिति बहुवचनप्रयोगात् पुष्पाञ्जलिप्रभृति नानाभावरसान्वितान् श्लोकान् अयमपि पठेदित्यर्थ। तत्र यदि पूर्ववदयमपि यथोक्तव्याख्यया पठति तदा न कश्चिद्दोष.। यस्तु भरतोपदिष्टः क्रम. स तु मानुष्यां सभायां सङ्कटतया नोपन्यस्त.।

अब हम इसकी व्याख्या देते हैं। अन्त या पश्चात् का आशय है कि पूर्वरङ्ग के इन अङ्गों के पूर्ण हो चुकने पर। स्थापक को भी सूत्रधार शब्द से अभिहित किया जाता है [क्योंकि वेश, गुण और आकृति में यह सूत्रधार के समान होता है]। यही सुन्दर वाक्यों से निर्मित पद्यों से प्रस्तावना सम्पन्न करे। यहाँ पद्य शब्द में बहुवचन से यही प्रतीत होता है कि अनेक पद्यों का पाठ किया जाए। ये पद्य अनेक रस तथा भावों से युक्त हों तथा पुष्पाञ्जलि अर्पण आदि आशय को सङ्केतित करते हों। यदि सूत्रधार के समान स्थापक नियमानुसार इन श्लोकों का पाठ करता है तो भी नियम में किसी प्रकार का दोष नहीं समझना चाहिए। भरतमुनि के द्वारा बतलाया हुआ पूर्वरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग निर्धारित क्रम प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत

रहती है पर अधिकांश में ध्रुवाओं की शौरसेनी भाषा में योजना परिलक्षित होती है। इनके प्रयोग का एक उद्देश्य पात्रों की विविध दशाओं, मनोभावों तथा घटनाओं को सङ्केतित करना होता है। इनके अतिरिक्त इनके द्वारा पात्रों के कार्य तथा समय का भी सङ्केत किया जाता है।

नहीं किया जा सकता है क्योंकि वैसा करने में कई कठिनाइयाँ [आ जाती] हैं।[1]

तत्र सुबन्ततिङन्तैर्द्वादशपदी नान्दी यथा—

सुबन्त तथा तिङन्त पदों से निर्मित द्वादशपदा नान्दी का निम्न उदाहरण है :—

> अज्ञेयावधितप्यमानतपसां सार्धं श्रिया दीर्घतां
> पुष्णत्यः स्मरधग्विलोचनशिखिज्योतिःसनाभित्विषः ।
> इन्दुग्रन्थनहेमशृङ्खलतताः प्रेङ्खद्वियद्वाहिनी-
> स्रोतःशीकरकुन्दकुड्मलभृतः शम्भोर्जटाः पान्तु वः ॥

भगवान् शिवजी की वे जटाएँ आपकी रक्षा करें जिसमें गङ्गा जी के बहने पर उठने वाली फुहारें कुन्द की कलियों जैसी दिखाई देती हैं और आकाश की ओर उठने वाली श्रीगङ्गाजी की सुदीर्घ जलधाराएँ सुवर्ण की शृङ्खलाओं के समान हैं जो चन्द्रमा को बाधने के के लिए आकाश में घूमाव ले रही हों। भगवान् शिवजी के नेत्रों में विद्यमान जो दिव्य ज्योति है उसने इन जटाओं को और चमकीली बना दिया है जो कामदेव को दहन करने वाली हैं। ये जटाएँ इतनी लम्बी हैं कि मानों भगवान् शिव की अनन्तकाल तक चलने वाली तप की साधना को अपने साथ रखने के कारण ही दूर तक फैलने को बाध्य हुई सी प्रतीत होने लगती हैं।

---

1 भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों को विस्तार से बतलाया पर बाद में इन सभी अङ्गों का परम्परागत व्यवहार एक रूढ़ि बन कर तथैव नहीं चल पाया तथा धीरे धीरे अधिक विस्तार के कारण उबाने वाले प्रयोग अपना अस्तित्व खोने लगे। सागरनन्दी तथा विश्वनाथ कविराज के समय नाटकीय प्रदर्शन में विलम्ब या विघ्न के आपादक होने से पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का प्रयोग (ठीक से) नहीं होता था। विश्वनाथ के 'इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावात्' के उल्लेख से पूर्वरङ्ग के अङ्गों का संक्षेप में अनुसरण या अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। सागरनन्दी ने भी पूर्वरङ्ग के आवश्यक अङ्गों का विवरण देकर व्यावहारिक या आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने की अपनी व्यावहारिक वृत्ति ही यहाँ प्रदर्शित की।

जब [रङ्गमञ्च पर] नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक के सूत्रधार के साथ विविध प्रकारों [के वचनों] से युक्त तथा अपने कार्यों को बतलानेवाले वार्तालाप हों या वीथी के किन्हीं अङ्गों से पूर्ण वार्तालाप रखे जाएँ या फिर किन्हीं और ही प्रकार से [यह] वार्तालाप किया जाए तो विद्वज्जन उसे प्रस्तावना या आमुख समझें।

अन्यस्तु—अन्यापदेशेन कथानुकथाभ्यामेकक सानुगो वा सूत्रधार कुर्यादामुखमिति । यथा—

दूसरे आचार्यों का मत है कि किसी वार्तालाप के ब्याज या उपदेश के द्वारा सूत्रधार ही अकेला या अपने किसी सहकारी को साथ रखते हुए 'आमुख' को प्रस्तुत करे।

'अन्तर्नेपथ्यमात्रोक्ति–श्रुतिस्मरणदर्शनैः ।
स्वैरङ्गैश्चापि वीथ्यङ्गैः प्रकुर्यादामुखं बुधः ॥' (इति)

इस प्रस्तावना को नेपथ्य की ओर देखते हुए किसी कथन को सुन कर, स्मरण कर या किसी व्यक्ति को देखकर अपने स्वयं कल्पित किसी कार्य या वीथी के[1] किन्हीं अङ्गों के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए।

प्रस्तावनाङ्गानि

अस्याङ्गानि । उद्घात्यकावलगितके द्वे वीथ्या कथोद्घातप्रयोगातिशयप्रवर्तका । अस्यैवाङ्गानि त्रीणि । एवं पञ्चाङ्गानि ।

अब प्रस्तावना के भेद बतलाते हैं। उद्घात्यक और अवलगितक नामक दो वीथी के अंग या प्रकार प्रस्तावना के भी होते हैं। प्रस्तावना के अन्य तीन प्रकार हैं—कथोद्घात, प्रयोगातिशय तथा प्रवर्तक। इस प्रकार कुल मिला कर प्रस्तावना के पाँच भेद होजाते हैं।

उद्घातकम्

उद्घात्यकस्यायमर्थः—पदान्यनवगतार्थानि प्रश्नेनावगतार्थैः पदैः प्रतिपादयतीति यत्तदुच्यते । यथा—

उद्घात्यक—अब उद्घात्यक का स्वरूप बतलाते हैं।

इसे "*उद्घात्यक*" इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अज्ञात शब्दों या भावों का प्रश्नोत्तर के द्वारा सुस्पष्ट करते हुए प्रेक्षकों को आशय बतलाया जाता है। जैसे —

1. वीथी के १३ अङ्गों के लक्षण आदि आगे दिए जा रहे हैं।

नाटकं कैः गुणैः श्लाघ्यं ये हरन्ति सतां मनः ।
कः तेषां दृष्टमुत्थाने रत्नकोशकृताविति ॥

प्रश्न—नाटक की प्रशंसा किन गुणों के होने पर की जाए? उत्तर—जिनसे सज्जनों का मन आकृष्ट हो जाए। प्रश्न—उत्कृष्ट रूप में इसके लक्षण को कहाँ देखा जा सकता है? उत्तर—रत्नकोश नामक रचना में।

अवलगितम्

अवलगितं पात्रसंसूचनार्थं यदालपनं तद् द्रष्टव्यम् ।

अवलगित—नाटकीय पात्र की सूचना देने के लिए जब रंगमंच पर किसी परस्पर वार्तालाप किया जाये [और तदनुसार पात्र का रंगमंच पर प्रवेश हो] तो उसे 'अवलगित'[1] नामक प्रकार समझना चाहिए।

यथा

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥
(अभि० शाकु० १।५)

जैसे '—मैं तेरे सुन्दर और मनोहारी गीत के राग से उसी प्रकार खिंच आया जैसे वेग से दौड़ने वाले हिरन से बलात् खिंच जाने वाला यह राजा दुष्यन्त हो।

कथोद्घातः

कथोद्घातः यत्र सूत्रधारस्य वाक्यं वाक्यार्थं वा गृहीत्वा पात्रं प्रविशति । तद्यथा रत्नावल्याम् यौगन्धरायणः—एवमेतत् कः सन्देहः । 'द्वीपादन्यस्मात्' (रत्ना० १।६) इत्यादि ।

कथोद्घात—सूत्रधार के द्वारा कहे हुए शब्द या उसके भाव को लेते हुए जब किसी पात्र का मंच पर प्रवेश हो जाए तो 'कथोद्घात' नामक प्रस्तावना का प्रकार हो जाता है।

---

1. नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक से अवलगित का यह लक्षण भिन्नता रखता है।

नटी—इस ऋतु को जाने दीजिये। यह तो विरही मनुष्यों को सन्ताप देने वाली ऋतु है। मैं अपने गीत के लिए दूसरा ऋतु चुन कर गाती हूं।

अत्र वसन्तर्त्ववरुचिं दर्शयन्त्याऽनया शर्मिष्ठाया अवस्था प्रवर्ति- (दर्शि) ता।

प्रस्तुत कथन में वसन्त ऋतु के सम्बन्ध में अपनी अरुचि प्रदर्शित करते हुए नटी ने शर्मिष्ठा की विरहदशा की सूचना दी।

अन्ये तु तुल्यकालप्रवर्तकमेव प्रवर्तकमिच्छन्ति। यथा—'पित्रोर्विधातु शुश्रूषाम्' (नागा० १।५) इत्यादि। यथा वा—'सायात्रिकैः सह समुद्रगमनमेव साधयामि।'

किन्हीं अन्य आचार्य का मत है कि एक समय में एकसाथ समान रूप से घटने वाली घटनाओं को 'प्रवर्तक' समझना चाहिए। जैसे नागानन्द नाटक में—'अपने माता पिता की सेवा करने के लिए इत्यादि में है। या फिर "मैं अब इन जहाजी सौदागरों के साथ समुद्र यात्रा पर ही चढता हूं" (इत्यादि)

यथा—'विश्वामित्रमुनिर्यथा रघुपते सीताविवाहं प्रति
व्यग्रात्मा यतते तथा वयममी यत्न विधास्यामहे।' इति।

अथवा—विश्वामित्र ऋषि श्रीराम तथा सीता का विवाह करवाने के लिए जैसे प्रयत्नशील रहे वैसे ही हम लोग भी इस कार्य के लिए प्रयत्न करेंगे। इत्यादि।

वीथ्यङ्गैरिति निर्देशान् नालिकापि कार्या। यथा वासवदत्ताहरणं सूचयन् सूत्रधार—

लक्षण में प्रवर्तक को वीथी के अङ्गों के साथ कहा है। इसका आशय है कि इस प्रकार में 'नालिका'[1] का प्रयोग भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वासवदत्ता के हरण की सूचना देते हुए सूत्रधार का निम्न कथन —

---

१ नालिका का लक्षण आगे दिया गया है। 'हस्ते कर्णस्य' श्लोक नालिका का उदाहरण है जिसमें प्रहेलिका के समान प्रश्नोत्तर करते हुए नाटक के नाम (वासवदत्ता-हृ-रण) को प्रस्तुत किया गया है। ऐसे प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करने या नवीनता लाने के लिये प्रभावशाली रूप माने जाते रहे हैं जो नाटकीयरचना का आलङ्कारिकचमत्कार जैसा प्रयोग कहा जा सकता है।

हस्ते कर्णस्य का शक्ति क्षसमध्यगतोऽस्ति कः ।
पैरैः किमभिधितिष्ठन्तो न वाच्या शत्रिणो हताः ॥

कर्ण के हाथ में कौन शक्ति थी ? क्ष और स के बीच कौन रहता है ? शत्रुओं के द्वारा मारे जाने पर भी योद्धा कहाँ निन्दनीय नहीं माने जाते ?

[यहाँ तीन प्रश्नों के द्वारा क्रमशः नाटक की नामावली के अक्षर प्रस्तुत किये गए हैं जिनके क्रमशः उत्तरों को (१) वासवदत्ता (२) ह (३) रण जोड़ने पर वासवदत्ताहरण नामक नाटक का नाम बन जाता है । यही नालिका कहलाती है ।]

इत्यामुखविधिः । भारतीवृत्तिरियं वैदर्भीगौडीयपाञ्चालरीतीनां तिसृणामङ्गं बोद्धव्या ।

इस प्रकार आमुख के प्रभेद (अङ्ग) बतलाए गए । भारतीवृत्ति वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली नामक तीनों रीतियों का अङ्ग बनती है ।

सात्वती—

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता
त्यागेन शौर्येण समन्विता च ।
हर्षोत्तरा संहृतशोकभावा
सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥ १२८ ॥
(ना० शा० २२।३८)

सात्वती—जो सात्वत नामक गुण, त्याग और शौर्य से युक्त हो तथा जिसमें अतिशय हर्ष तथा शोक की (अर्थात् करुणरस की) अत्यन्त न्यूनता हो तो उसे 'सात्वती' वृत्ति समझना चाहिए ।

सात्वता गुणा गुरुशुश्रूषादिसद्वृत्तयः । यथा—

सात्वत गुण हैं अपने पूज्य माता पिता आदि की सेवा आदि सदाचरण । जैसे :—

यथा रामोऽजहाद् राज्यं पितुर्भक्त्या क्रमागतम् ।
वनेऽपि न्यवसद् हृष्टश्चतुर्दशसमा अपि ॥

श्रीराम ने पूज्य पिता जी की भक्ति के कारण परम्परा से प्राप्त

होनेवाले राज्य का परित्याग तो किया ही प्रसन्न होते हुए चौदहवर्ष का वनवास भी मान्य किया।

त्यागे यथा—

> वध्यो मे हन्तु मां पार्थः पृथे सार्थास्तु तेऽर्थता।
> इत्यदात् कवचं तस्यै कर्णः स्वप्राणनिस्पृहः॥

त्याग का निम्न उदाहरण है :—

चाहे मेरे द्वारा वध्य अर्जुन मुझे ही मार डाले पर हे माता कुन्ती, तुम्हारी याचना व्यर्थ न जाए। ऐसा कह कर अपने जीवन की कुछ भी परवाह न करते हुए कर्ण ने अपने कवचों को उसे दे डाला।

शौर्ये यथा—

> एष कृष्णाकचाकर्षी प्राप्तो दुःशासनो मया।
> पातु कश्चित् क्षणं तिष्ठाम्येहि कृष्णे हतो रिपुः॥

शौर्य का उदाहरण :—

मैंने इस द्रौपदी के केशों को खींचने वाले दुःशासन को पकड़ लिया है। अब इसे कोई बचा ले मैं एक क्षण रुकता हूं। द्रौपदी, आओ। अब यह दुःशासन मारा जा चुका है।

हर्षोत्तरे (यथा)—

> आः किं शोचाम्यहं क्लीव हतान् बन्धून् दशाननः।
> दृशौ मृज्याशु वीक्षध्वं निहतौ रामलक्ष्मणौ॥

अतिशय हर्ष का उदाहरण :—

मैं दशानन हो कर भी अपने युद्ध में मारे गए प्रियबाधवों पर स्त्रियों के समान शोक करते हुए क्यों रोऊं ? हे रावण, तुम अपनी आंखों से आँसू पोंछो और देखो कि राम लक्ष्मण अब शीघ्र ही मारे जाएंगे।

सैव रौद्रेऽपि। (यथा) राघवाभ्युदये रावणं प्रति जटायुः—

इसी प्रकार रौद्ररस में भी समझना चाहिए। जैसे *राघवाभ्युदय* में रावण के प्रति जटायु की यह उक्ति —

> अवनिरविरभान्त प्रस्थितैकैकचञ्चु-
> पुटकुहरविलोलत्यालकल्पाग्रजिह्वः।

अरुणरुचिरतिर्यग्वर्तितभ्रूभैरवास्य-
कवलयतु भवन्त क्रोधदीप्तो जटायु ॥

यह जटायु जिसने अपनी चोंच की दोनों नोकों को पृथ्वी और सूर्य के रथ के बीच तक फैला रखा है, जो अपनी लहराती हुई सर्प के समान जीभ को अपने तालु के बीच में घुमा रहा है तथा जिसने अपने लाल नेत्रो वाले मुंह को क्रोध के कारण तिरछा करने से बड़ी भीषण आकृति बना डाला है, वही अब तुम्हें निगलेगा।

अद्भुते यथा कुम्भाङ्के

अद्भुतरस का उदाहरण कुम्भाङ्क में :—

रावण —अहो लाघव वानरस्य ।

रावण—ओ हो ! इस बानर ने कितनी फुरती दिखलाई !

सीता—हदास, परक्कमति किं ण भणेसि । [हताश पराक्रममिति किं न भणसि ।]

सीता—दुष्ट, इसे पराक्रम क्यों नहीं कहते हो।

अल्पकरुणा यथा

विवृद्धावस्थाप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।
वाडवेनेह जलधि. शोक. क्रोधेन पीयते ॥

थोड़ा करुण रस का उदाहरण :—

अतिशय विस्तीर्ण, गहरा, अनन्त और महान् होने पर भी जैसे सागर बड़वानल के द्वारा पी लिया जाता है उसी प्रकार क्रोध भी [विस्तीर्ण, गहन, अपार और महान् होने पर] शोक के द्वारा पिया जाता है।

स्वल्पशृङ्गारो यथा—

प्रिये तावन्न नेत्राभ्यां पास्याम्यद्य तवाननम् ।
न दृशो यावदश्रूणि वमन्ति रिपुयोषिताम् ॥

परस्पराधर्षणकृता यथा (वेणीसंहारे)

स्वल्पशृङ्गाररस का उदाहरण —

प्रिये, मैं तब तक तुम्हारे मुख के सौन्दर्य का अपने नेत्रों से पान कर रहा हूं तभी तक शत्रु ललनाओं के नेत्रों से बहने वाले आँसू रुके हुए हैं।

परस्पर दोषारोपण या मुठभेड़ का (वेणीसंहार में निम्न) उदाहरण :—

कर्ण —जात्या तावदवध्योऽसि चरणं त्विदमुद्धृतम् ।
अनेन लून खड्गेन पतित द्रक्ष्यसि क्षितो ॥

(वे० सं० ३।४१)

कर्ण—अरे तू जाति से ब्राह्मण होने के कारण चाहे अवध्य हो पर तुम्हारे इस उठे हुए पैर को तुम अभी इसी तलवार से कट कर पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखोगे।

यथा च (वा)—

शर्मिष्ठा—तवैष न्यस्यते वामपाद शिरसि धार्य्यताम् ।
अन्यः पठति—उद्धरैनं पुन कृत्त पतित वेत्स्यसि क्षितौ ।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण भी है —

शर्मिष्ठा—मैंने तो तुम पर अपना बाँया पैर उठा लिया है जो सर पर गिरेगा।

यह सुन कर उत्तर में दूसरे पात्र ने कहा —

जरा उठाओ तो, तुम देखोगी कि यह पृथ्वी पर कट कर गिर चुका होगा।

अतएव भरतः

वीराद्भुतरौद्ररसा विज्ञेया स्वल्पशृङ्गारा ।
उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥ इति ॥

(ना० शा० २२।४०)

इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है कि इस वृत्ति मे वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस होते हैं, करुण और शृङ्गाररस अल्पमात्रा मे रखे जाते हैं। इसमें उद्धत वृत्ति के पात्रों का आधिक्य रहता है और ये पात्र परस्पर दोषारोपण या मुठभेड़ करते हुए प्रस्तुत किये जाते हैं।

अस्याश्चत्वारो भेदा । उत्थापक, परिवर्तक, सलाप साङ्घात्य-श्चेति ।

सात्वतीवृत्ति के चार प्रकार हैं—(१) उत्थापक (२) परिवर्तक (३) सलाप तथा (४) साघात्य।

(यथा) 'उत्थास्याम्ययमह दंत्र (तावद्) दर्शयात्मन शक्तिम् ।' इति ।

अरे रे प्रहरस्व पश्यामस्ते शक्तिम् । इत्यादि ।

जैसे—मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ तुम जरा अपनी ताकत तो बतलाओ ?
अरे तुम वार करो, मैं तुम्हारी ताकत तो देखूँ !

मद्दर्पादाश्रयाद्वापि प्राज्ञैरुत्थापको मतः ।

उत्थापक—किसी पारस्परिक संघर्ष को [या संघर्ष से उत्पन्न होने वाली चुनौती को] लेकर किया हुआ कार्य 'उत्थापक' समझना चाहिए ।

योगक्षेमावहं कर्म प्रारब्धं वीक्ष्य निष्फलम् ॥ १२९ ॥
परावृत्यापरभेदान्यद् भवेत् स परिवर्तक ।
भेदः साम च दानञ्च त्रयं निष्फलताङ्गतम् ।
उद्धरेद्दण्डमास्थाय यत् स्यात्तत् परिवर्तकम् ॥ १३० ॥

परिवर्तक—आरम्भ किये हुए या किसी योग क्षेम के लिये किये गये कार्य की निष्फलता को देखकर दूसरे कार्य की ओर मुड़ जाना [या उसे करने लगना] 'परिवर्तक' कहलाता है ।

जब साम, भेद और दान की व्यर्थता सिद्ध हो और अपना कार्य पूर्ण करने के लिए 'दण्ड' का सहारा लिया जाए तो उसे भी 'परिवर्तक' समझना चाहिए ।

यथा राघवाभ्युदये कूटसन्धिना सामदाने निष्फलीभूते रावण स्वरूपमास्थाय-दुरात्मँल्लक्ष्मण, तिष्ठ तिष्ठेति व्याहृतवान् । अन्ये तु—प्रकृतस्य कार्यस्य दैववशादन्यथैव परिपाकः परिवर्तकः । यथा वारि प्रविश्य कार्यमनिच्छन्नेव दुर्योधनो भीमस्य (उत्तेजकं) वचः श्रुत्वा क्रोधादुत्थितः ।

जैसे राघवाभ्युदय में कूटनीति के प्रयोग में जब साम, दान व्यर्थ हो गए तो रावण अपने रूप में प्रकट हो कर लक्ष्मण से बोला—दुष्ट लक्ष्मण ठहर जा, कहाँ जा रहा है ? । [यही परिवर्तक है]

दूसरे आचार्यों का मत है कि प्रारम्भ किये हुए कार्य का दुर्भाग्यवश विपरीत फल देना 'परिवर्तक' कहलाता है । जैसे-दुर्योधन जल में घुस कर अपना (रक्षण) कार्य करना चाहता था पर भीम के (उत्तेजक) शब्दों को सुन कर वहाँ से क्रोधावेश में बाहर निकल आया ।

साधर्षजो निराधर्षजश्चेति द्विविध सल्लापो न्यक्कारकारी च। यथा—दुरात्मन्, तिष्ठ तिष्ठ क गमिष्यसि। अयं न भवसि। त्वद्वधाद् वैरस्यान्तं गमिष्यामीत्यादि। निराधर्षजो यथा—त्वया सह मयाधीतं श्रुतञ्चेति। अन्यस्त्वाह—

संलाप—किसी को अपमानित करने और न करने से होने वाला 'संलाप' (भी) दो प्रकार का होता है तथा इसमें दुर्वचन या धिक्कार देने वाली शब्दावली रखी जाती है। इनमें से पहिले प्रकार का उदाहरण है—"अरे दुष्ट, ठहर जा, कहाँ जा रहा है? अब ऐसा नहीं चलेगा। मैं तुझे मार कर ही अपना बदला चुकाऊँगा।" इत्यादि। तथा दूसरे प्रकार के (अर्थात् बिना अपमान किये हुए होने वाला) सल्लाप का उदाहरण है —

नाधीतं न श्रुतं सार्द्धं त्वया सह मया क्वचित्।

इत्यधिक्षिप्तवान् वाक्यमेकोऽन्यस्याक्षमायुतः ॥' इति।

एक-मैंने तुम्हारे साथ साथ अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया है। दूसरा-मैंने तुम्हारे साथ न अध्ययन किया और न विद्या ही प्राप्त की।

उपर्युक्त शब्दावली में बिना किसी प्रकार का दुर्वचन कहते हुए तिरस्कार किया गया जो अपना धैर्य छोड़ चुका था।

साङ्घात्यः उच्यते—

मन्त्रार्थकार्यसंसक्तो दोषाद् दैवस्य चात्मनः।

सङ्घातभेदजननः साङ्घात्य. कूट उच्यते ॥ १३१ ॥

अब हम संघातक का लक्षण बतलाते हैं:—

संघातक—मन्त्र तन्त्र, धन या किसी दैवी दुर्घटना के कारण गूढ़ रूप से समूह या कुटुम्ब में भेद उत्पन्न करने वाली शब्दावली या योजना को 'संघातक' समझना चाहिए।

(यथा) लावणकदाहे वासवदत्ताया मरणं साधितम्। राघवाभ्युदये रामं वञ्चयितु रावणेन कूटसन्धौ जालिनी नाम राक्षसी सीता कृतेति। सात्वतीवृत्तिरियं पाश्चात्या अङ्ग बोद्धव्येति।

जैसे लावाणक में आग लग जाने से वासवदत्ता के मरण को बतलाना या पुष्ट करना। अथवा राघवाभ्युदय में राम को धोखा देने

के लिए कूटसन्धि या कपटजाल बिछा कर रावण द्वारा जालिनी राक्षसी को सीता बनाना। यह सात्वतीवृत्ति पांचाली रीति का अङ्ग होती है।

कैशिकी—

शृङ्गाराभिनयोद्दामि-पाठ्यमाल्यविभूषणा।
नृत्यवादित्रगीताढ्या कामसम्भोगलक्षणा॥ १३२॥
सुकुमारकाव्यबन्धामुज्ज्वलवस्त्राभरणवेषाञ्च।
कामोपचारबहुलां भाषन्ते कैशिकीं कवयः॥ १३३॥

कैशिकी—जिसके सवाद शृङ्गार रस के अभिनय से पूर्ण, कोमलता और लालित्य लिए हुए हों, जिसकी भाषा अलङ्कारों से और वेष पुष्पमालाओं से आकर्षक बन गए हों व जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य (सगीत) से युक्त प्रणयक्रीडाएँ हों तो उसे "*कैशिकी*" वृत्ति समझना चाहिए।

विद्वज्जन (कविगण) कहते हैं कि कैशिकी वृत्ति में काव्य रचना सुकुमार रहती है, आकर्षक और भड़कीले वस्त्र और अलङ्कारों से सजाए गए वेष रखे जाते हैं तथा आमोद एव विलास बहुल प्रणय व्यापार का बाहुल्य रखा जाता है।

अस्याश्चत्वारो भेदा—नर्म, नर्मस्फोटो, नर्मगर्भ, नर्मस्फञ्जश्च।

कैशिकीवृत्ति के चार प्रभेद होते हैं। यथा—(१) नर्म, (२) नर्मस्फोट, (३) नर्मगर्भ तथा (४) नर्मस्फञ्ज।

परापवादैः परुषैरश्लीलैश्च विवर्जितम्।
शुद्धमन्तर्गताकूतं नर्म स्याच्छद्मगर्भकम्॥ १३४॥

उपस्थापितशृङ्गार हास्यवचनप्राय नर्म वर्णयन्त्याचार्या।

नर्म—जिसमें दूसरों पर आक्षेप, (निन्दा) कठोर शब्द या अश्लील वचनों का प्रयोग न किया जाए उसे '*शुद्ध-नर्म*' तथा जहाँ गूढतापूर्वक किसी बहाने से आक्षेप आदि का प्रयोग रहे उसे गूढ या छद्मगर्भ नर्म समझना चाहिए।

आचार्यों का मत है कि जिसमें प्रियतमा को प्रसन्न करने के लिए आरंभ किये हुए परिहासपूर्ण वचन हों तो उसे भी '*नर्म*' समझना चाहिए।

आबद्धगीतरभसा कर्णोचसितपल्लवा ।
कामोत्सवे विलासिन्य क्रीडन्त्यद्य पुरे पुरे ॥

शुद्ध नर्म का उदाहरण —

कामोत्सव के अवसर पर आज प्रत्येक नगर मे विलासिनी अगनाएँ नवपल्लवों के आभुषण कानों मे पहिने हैं तथा गीत गाते हुए क्रीडा कर रही हैं।

अन्तर्गताकूतं यथा—

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षण ।
पश्य पारावत कान्तामालिङ्ग्य परिचुम्बति ॥

(काव्यादर्श २।१०)

गूढार्थ (या अन्तर्गताकूत) नर्म का उदाहरण —

देखो, यह परेवा [कबूतर] अपनी घूमती हुई आँखों से तथा मधुरध्वनि से अपने कण्ठ को आपूरित करते हुए अपनी प्रिया का आलिगन करते हुए (उसका) चुम्बन कर रहा है।[1]

छद्मगर्भं यथा—

इय नाम गता कान्ता हृदयात् क्व गमिष्यति ।
निबद्धा सहजस्नेहवज्रलेपेन यत्र मे ॥

छद्मगर्भ नर्म का उदाहरण —

चाहे प्रियतमा इस स्थान से चली जाए परन्तु स्वाभाविक स्नेह-रूपी वज्रलेप से ससक्त होने के कारण मेरे हृदय से कैसे हट सकती है।

हास्यवचनप्रायं यथा—

वरमशोकतरुर्बकुलो वरो
न पुनरस्मि वरस्तव सुभ्रुव ।
भजति पादरताहतिरेक
पिबति वक्त्रसुराश्च तथापर ॥

इत्युक्तिभि कान्ता हासयन् कोप त्याजयति ।

1. तुलना—काव्यादर्श २।१० ।

हास्यवचनश्रय (परिहासपूर्ण वचन) *नर्म* का उदाहरण :—

हे सुन्दरी, यह अशोक का या मौलसिरी का पेड़ ही अच्छा है मैं तुम्हारा प्रिय हो कर भी उतना प्रिय नहीं हो सका क्योंकि इनमें से एक तुम्हारी चरणलता का स्पर्श पा जाता है और दूसरे को तुम्हारे मुख की मदिरा की प्राप्ति होती रहती है।

नायक द्वारा इस प्रकार के कथन से नायिका का मान जन्य कोप का छुड़वाना नर्म है।

अन्ये पुनराहुः—

'हास्येच्छा-भयभेदेन नर्मात्र त्रिविध भवेत्।
शृङ्गारोद्दीपनो य स्यात् परिहास सविभ्रम ॥
स्त्रीपुंसयोस्तु नर्मैतद्धास्यमेदव्यवस्थितम्।
सताड्य कुसुमैश्छन्नापीच्छयागत्य दर्शनम् ॥
प्रियस्य नायिका याति यत्तदिच्छाश्रय भवेत्।'

दूसरे आचार्यों का मत है कि परिहास, इच्छा या भय के द्वारा होने के कारण नर्म के भी तीन प्रकार समझना चाहिए। इनमें नायक तथा नायिका का परस्पर विलासपूर्ण और शृङ्गार का उद्दीपक परिहास हो तो उसे *'परिहास नर्म'* समझना चाहिए। जब नायिका छिप कर नायक को पुष्प फेंक कर मारे और फिर नायक के सामने खड़ी हो जाए तो उसे *'इच्छाश्रय नर्म'* समझना चाहिए।

भयाश्रयं यथा—

मेघोद्गच्छ पुनर्गच्छ पुनर्विकिर विद्युतम्।
श्लिष्टोऽहं यद्भ्रम यान्त्या क्रुद्धयाप्यर्थना विना ॥

भयाश्रयनर्म को निम्न उदाहरण से समझना चाहिए :—

मेघ, तुम बार बार घुमड़ो, बरसो और बिजली कड़काओ क्योंकि तुम्हारे इस कार्य से मेरी अकारण क्रुद्ध होने वाली भीत प्रियतमा का बिना याचना के मुझे आलिंगन प्राप्त हो रहा है।

नर्मस्फोटो यथा—

गतेन काचिद् व्यवहरन्ती नायिकयागत्य प्राप्ता। अकिञ्चि-

खुर्वाणेव तूष्णीं स्थिते नायके शङ्काभयपरा लज्जार्ता यत्र कन्या भवति स नर्मस्फोटः।

नर्मस्फोट—जब कोई कन्या गुप्त रूप से किसी नायक से मिले और नायिका आकार वहीं उसे पकड़ ले तब नायक चुपचाप बैठा रहे और उस कन्या की दशा शंका, भय और लज्जा के कारण घबड़ाहट पैदा करने वाली बन जाए तो इस सारी स्थिति का चित्रण 'नर्मस्फोट' समझा जाता है।

नर्मगर्भो यथा—

यत्र प्रच्छाद्यात्मनो रूपं तत्कार्यनिष्पत्तये स्थीयते स नर्मगर्भ उच्यते। यथा—वत्सराजसुतो नरवाहन प्रभावतीवेषमास्थाय प्राप्तो मदनमञ्जुकाम्।

नर्मगर्भ—जब कोई पुरुष अपने स्वरूप को छिपा कर अपनी कार्यसिद्धि की प्रतीक्षा करे तो उसे 'नर्मगर्भ' समझना चाहिए। जैसे वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त का प्रभावती के वेष में मदनमञ्जुका के पास पहुँच जाना [नर्मगर्भ है]।

नर्मस्फञ्जो यथा—

नवसङ्गमसम्भोगो यत्र जायेत सुभ्रुवः।
नर्मस्फञ्जो ह्यसौ ज्ञेयस्त्ववसानभयानकः॥ १३५॥

(ना० शा० २२।२१)

नर्मस्फञ्ज—नायक तथा नायिका के प्रथम समागम के अवसर पर होने वाले सुख और बाद में होने वाले भय को 'नर्मस्फञ्ज' कहते हैं।

यथा राजा सह देव्या प्राप्तोऽन्त पुरयोषिता।

द्वयोरप्यनयो· कष्टं प्राप्तं कृच्छ्रात् समापितम्॥ इति।

कैशिकीवृत्तिरियं वैदर्भ्या अङ्गं बोद्धव्या।

जैसे :—महारानी ने आकर महाराज को रनिवास की एक (कन्या) दासी के साथ पकड़ लिया तब दोनों को बड़ा कष्ट हुआ और बाद में बड़े प्रयत्नों से यह विपत्ति हटायी जा सकी।

कैशिकीवृत्ति वैदर्भी रीति का अंग मानी जाती है।

आरभटी—

> समुद्धतप्रायगुणा वीररौद्राद्भुतात्मिका ।
> कपटानृतदम्भेषु वञ्चनास्कन्दयोः स्थिता ॥ १३६ ॥
> (ना० शा० २२।५५)

आरभटी—जिसमें प्राय उद्धतपुरुषों के गुणों की बहुलता हो, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस हों तथा कपटपूर्ण, झूठे, दम्भ, वंचना तथा परस्पर दोषारोपण या आक्रमण भरे कार्य (व्यापार) हों तो उसे 'आरभटी वृत्ति' समझना चाहिए।

युद्धनियुद्धेन्द्रजालमायाछेदनप्लुतादिभिरारभटी ज्ञेया । कपटे यथा—लावणकदाहे वासवदत्ताया मरणम् । अनृते यथा—द्रोणवधे अश्वत्थामा हतो हस्तीति श्रुते. । प्लुते—मारुते समुद्रलङ्घनम् । रामायणे लङ्कास्कन्दनमास्कन्द. अथवा अङ्गदेन मन्दोदरीकेशाकर्षणम् । युद्धं रामरावणयो ; नियुद्धं बालीसुग्रीवयोरित्यादि ।

अर्थात् युद्ध, बाहुयुद्ध, जादू, भ्रम, छेदन-भेदन तथा कूदफांद आदि क्रियाओं के द्वारा 'आरभटी वृत्ति' जानी जाती है। कपटपूर्ण व्यापार का उदाहरण है—जैसे लावणक (ग्राम) में वासवदत्ता का आग में जल कर मरना। असत्यपूर्ण व्यापार का उदाहरण है—अश्वत्थामा (धीरे से हाथी) मर गया सुन कर द्रोण का निराश होने से वध किया जाना। कूद फांद का उदाहरण है—हनुमान् द्वारा समुद्र को लांघना। आक्रमण (आस्कन्द) का उदाहरण है—लंका को घेर लेना या अंगद के द्वारा मन्दोदरी के केशों को खींच लेना। युद्ध का उदाहरण है—श्रीराम और रावण का परस्पर लड़ना। बाहुयुद्ध का उदाहरण है—बालि तथा सुग्रीव की कुश्ती होना। ये चारों उदाहरण (आदिकवि वाल्मीकि आदि की) रामायण में [द्रष्टव्य] हैं।

अस्याश्चत्वारो भेदा—सङ्क्षिप्तकम्, अवपात, वस्तूत्थापनं, सम्फेट इति ।

आरभटी वृत्ति के चार प्रभेद होते हैं। यथा—(१) संक्षिप्तक, (२) अवपातक, (३) वस्तूत्थापन तथा (४) सम्फेट।

तत्र संक्षिप्तकं यथा—

संक्षिप्तवस्तुविषयः प्रयोगाश्रितशिल्पवान् ।
बहुपुस्तोत्थानकृतैर्वेषैः संक्षिप्तको मतः ॥ १३७ ॥
(ना० शा० २२।६७)

संक्षिप्तक—अब संक्षिप्तक का लक्षण बतलाते हैं —

जिसमें विषय को संक्षिप्त या थोड़े शब्दों में बतलाया जाता हो, जहाँ अनेक प्रकार के शिल्पों से युक्त प्रदर्शन हो तथा जिसके वेष भूषा अनेक प्रकार के पलस्तरों की पुताई के कारण विचित्रता लिए हुए रहें तो उसे 'संक्षिप्त' समझना चाहिए।

नाट्ये यानि रथचर्मवर्मध्वजादीनि क्रियन्ते तानि पुस्त इति कीर्तितानि । यथा नारदेन शिल्पमाडम्बरं नरक क्षयं नीत । यथा वा सहस्रमायेन कन्या मायावती कृता । अन्ये पुनरन्यथैव संक्षिप्तकमिच्छन्ति । (तेषां मते) पूर्वनायकत्यागेनापरनायकसम्भव संक्षिप्तक । यथा रामेण रावणमपनीय विभीषणस्य राज्ये कृतमभि-षेचनम् (इति) ।

नाट्य प्रदर्शन के अवसर में आने वाली [अथवा नाट्य प्रदर्शन के हेतु बनाए गए] रथ, ढाल, कवच, ध्वज [मुखौटे] आदि वस्तुएँ पुस्त कहलाती हैं। [जिन्हें अनेक प्रकार के पदार्थों से या पलस्तरों से कलाकारों या कारीगरों के द्वारा बनाया जाता है]। उदाहरण के लिये नारद ने अनेक प्रकार की वस्तुओं को बतला कर नरकासुर का नाश करवाया। या फिर इसका उदाहरण है सहस्रमाय के द्वारा मायावती कन्या का निर्माण करना।[1]

अन्य आचार्यों का मत है कि संक्षिप्तक का यह लक्षण दूसरे प्रकार का है। उनका मत है कि पिछले नायक के नाश होने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक की स्थापना या उद्भव हो जाना 'संक्षिप्त' कहलाता है। उदाहरणार्थ श्रीराम द्वारा रावण को नष्ट कर उसके स्थान पर विभीषण का राज्याभिषेक करना ['संक्षिप्तक' है]।

---

1. यह नरकवध नाटक का विवरण है जिसका उद्धरण पहिले दिया जा चुका है।

अवपातः—

भयहर्षविद्रवसम्भ्रमाणां क्षिप्रप्रवेशनिर्याणमवपातं विदुर्बुधाः । यथा भार्गवेण युद्धाय रामे आहूयमाने वृद्धस्य दशरथस्य मुहुः प्रविशतो निर्गच्छतश्च ससम्भ्रमं सभयं सद्रवं चेष्टितमासीत् । सर्वथा विह्वलस्य चेष्टितमवपातः ।

अवपात—भय, हर्ष या घबराहट के कारण लोगों के जल्दी-जल्दी आने और जाने को बतलाना 'अवपात' समझना चाहिए। जैसे परशुराम द्वारा युद्ध के लिए जब श्रीरामचन्द्र को बुलाने पर बूढ़े दशरथ का बार-बार इधर-उधर घूमना तथा भय, शीघ्रता और घबराहट के कारण अनेक चेष्टाएं करना। अर्थात् घबराए हुए मनुष्य की शीघ्रता में की जाने वाली चेष्टाएँ ही 'अवपात' कहलाती हैं।

वस्तूत्थापनम्—

तत्र वस्तूत्थापनं यथा शम्बरकामदेवयोः सङ्ग्रामे किं स्यादत्र शिशोः कामस्येति हरेः क्रोधः, सीरिणि सम्भ्रमः, शोको यादवानां भयं वसुदेवस्य । नानारससंयुक्तं बन्धूनां चेष्टितं वस्तूत्थापनमित्यर्थः ।

वस्तूत्थापन—जब किसी एक सम्बन्धित पुरुष के विषय में उसके सम्बन्धी भागने या न भागने की प्रवृत्ति का आश्रय लेकर अनेक भाव प्रकट करते हों तथा संक्षेप में सभी रसों का मिश्रण हो जाए तो उसे '*वस्तूत्थापन*' समझना चाहिए। [ना० शा० अ० २२।६१]।

उदाहरणार्थ—शम्बरासुर और कामदेव के युद्ध हो जाने पर छोटे बालक काम [प्रद्युम्न] का क्या होगा इस विचार से श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया, बलदेव को शीघ्रतावश कुछ न सूझा, यादवों में शोक व्याप्त होने लगा और वसुदेवजी को [बुढ़ापे के कारण] भय होने लगा। अर्थात् सभी रसों से मिश्रित चेष्टाओं का [प्रद्युम्न के] सम्बन्धी जन द्वारा प्रदर्शित करना '*वस्तूत्थापन*' कहलाता है।

तद्यथा—

सम्प्राप्ते भृगुनन्दने हरधनुर्भङ्गापराधे पुरः
काकुत्स्थे च पराभवं न सहति प्रारब्धयुद्धोत्सवे ।

उत्क्रुद्धो जनकः शुचं दशरथः प्राप्तो वसिष्ठादयः
सम्भ्रान्ताः पतिता भयेन च भुवा सख्या धृता मैथिली ॥ इति।

उदाहरणार्थ —

भगवान् परशुराम शिवधनुष को तोड़ने के अपराध पर क्रुद्ध हो कर जब सामने आगए और [उनके] ललकारने पर अपमान न सह सकने के कारण श्रीराम भी उनके सामने आकर खड़े होगए तो जनक क्रोधावश में आगए महाराजा दशरथ घबरा कर चिन्ता करने लगे, वशिष्ठ आदि ऋषि उत्तेजित होने लगे और तभी भयभीत सीता पृथ्वी पर मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी जिसे उसकी सखी ने सम्भाल लिया।

सम्फेटो यथा—

सम्फेटश्च वीररौद्राद्भुतप्रायैर्युक्तः ससम्भ्रममयः युद्धनियुद्धबहुलः कपटमयः शस्त्रप्रपातविषयः। यथा समुद्रमथने देवासुराणाम्। यथा च—

सम्फेट—चलना या हलचल ही 'सम्फेट' होता है जिसमें वीर, रौद्र या अद्भुत रस हो, युद्ध और बाहुयुद्ध रहे और छल, कपट तथा शस्त्रों के प्रहार से बड़ी विषम एवं भयानक स्थिति बन जाए। जैसे समुद्रमन्थन के समय देव और दानवों का हलचल। अथवा निम्न उदाहरण में—

बाहुयुद्धैरस्त्रयुद्धैः कपटैर्बहुविस्तरैः ।
घोरमत्यन्तमभवद् युद्धं वृत्रमहेन्द्रयोः ॥ इति ।

इन्द्र और वृत्रासुर का परस्पर बाहुयुद्ध, शस्त्र युद्ध तथा अनेक प्रकार के मायापूर्ण कपटों के साथ घोर युद्ध होता रहा।

आरभटीवृत्तिरियं गौडवृत्तेरङ्गम्। एता वृत्तयो खलु मुनिना भरतेन नाट्यस्य मातरः कथिताः।

यह आरभटी वृत्ति गौडी रीति का अंग होती है। आचार्य भरत मुनि ने इन वृत्तियों को काव्य की माता कहा है।

एताभिरेव च निर्मितं नाट्यं हरति मानसम्।
काव्यमप्याभिराकीर्णं सतां नयति रञ्जनम् ॥ १३८ ॥

इन्हीं वृत्तियों से निर्मित नाट्यप्रयोग मनोरंजक रहता है तथा

[श्रव्य] काव्य रचना भी इन वृत्तियों से युक्त होने पर सज्जनों का मन आकृष्ट करती है।

रीतीनां विभागः काव्यमीमांसायां द्रष्टव्यः। इह तु ग्रन्थ-विस्तरभयान्नोदीरितोऽस्माभिः।

गौडी आदि रीतियों के भेदपूर्वक लक्षण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से जानना चाहिए। यहाँ हम विस्तार भय से उन्हें नहीं दे रहे हैं।

आसां भेदचतुष्टयेष्वेकैकमभिवाञ्छितम्।
प्रयोगे कविभिः कार्यं कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥ १३९ ॥ इति

वृत्तियों के इन चारों भेदों में जो भी भेद इष्ट या अनुकूल हों उन्हें नाटक में विभिन्न समयों में (तथा प्रदेशों में) रखना चाहिए क्योंकि एक ही नाट्यप्रदर्शन में एक साथ सभी भेदों का रखना बड़ा कठिन होगा।

गुणाः—

एतास्वेव वृत्तिषु नाटकादौ नायकस्याष्टौ महागुणाः प्रदर्श्यन्ते। तद्यथाचार्यः—

नायक के (सहज) गुण—नाटक आदि रूपकों में स्थित इन्हीं वृत्तियों में नायक के आठ गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए। जैसा कि आचार्य भरतमुनि ने इन गुणों को बतलाया है :—

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥१४०॥
(ना० शा० २४।३१)

इत्यष्टौ महागुणाः पुरुषाणां ये नायके दर्शयितव्याः।

पुरुषों के सहज शारीर गुण आठ होते हैं। यथा—(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) स्थैर्य, (५) गाम्भीर्य, (६) ललित, (७) औदार्य तथा (८) तेज।

पुरुषों के इन्हीं आठ शारीर गुणों को नायक में दिखलाना इष्ट रहता है।

तत्र शोभा—

युधि शूरत्वं, कार्यदक्षता, गुणानुरागः, लोके साधुत्वं, सत्यवादिता चेत्येषां समुदयः शोभा। यथा—

सर्व प्रथम शोभा का लक्षण बतलाते हैं :—

शोभा—युद्ध में शूरता अनेक कार्यों को पूरा करने का सामर्थ्य या उनको चतुराई से कर डालने की क्षमता, गुणों के प्रति लगाव, सच्चरित्रता और सत्यवादिता का एकत्र रहना *'शोभा'* कहलाता है। जैसे —

भूपति शोभते वेषैः क्लीवपक्षोऽयमुज्झताम् ।
प्रतापस्तु जगद्व्यापी शोभा पूष्ण इवातप ॥

राजा अपनी वेषभूषा से शोभित होते हैं इस लचर दलील (क्लीव-पक्ष) को अब छोड़ दीजिए। क्योंकि जैसे सूर्य की अपने प्रकाश से वैसे ही राजा की शोभा अपने संसारव्यापी प्रभाव से ही होती है।

विलासः—

धीरदृष्टि, गोवृषभाञ्चिता गति, मधुरा वाक्, स्मितपूर्वं भाषणं, शुभाकृति, सम्पद्विपदो समता चेत्येषा समुदयो विलासः। स यथा—

विलास—धीर दृष्टि वृषभ के समान सुन्दर चाल, मीठी वाणी, मुसकुराते हुए बातचीत, सुन्दर या संस्कार युक्त स्वरूप तथा सम्पत्ति और विपत्ति में समान भाव से रहना *'विलास'* नामक गुण कहलाता है। जैसे —

सुधासोदरवाचस्ते स्मितपूर्वाभिभाषिण ।
को नामार्थी न तुष्ट स्यादलं तावद्धनागमैः ॥

मुसकुराते हुए अमृत के समान मीठे आपके वचन से ही ऐसा कौन याचक है जो सन्तुष्ट नहीं हो जाता फिर आगे धनप्राप्ति की बात क्यों कही जाए ?

माधुर्यम्—

माधुर्यं विप्रियेऽप्यनुद्वेग । यथा—
अपराधिन्यपि जने साधु साध्वेव वर्तते ।
छेत्तारमपि गन्धेन वासयत्येव चन्दन ॥

माधुर्य—किसी के द्वारा भूल या अपराध करने पर भी द्वेष या क्रोध न करना *'माधुर्य'* कहलाता है। जैसे :—

सज्जन मनुष्य किसी अपराधी या भूल करने वाले पुरुष से भी

सज्जनता का ही व्यवहार करेगा क्योंकि चन्दन का वृक्ष काटने वाले व्यक्ति को भी अपनी सुगन्ध से सुवासित ही करता है।

स्थैर्यम्—

धैर्यवत् स्थैर्यम्। धर्मार्थकामव्यवसायादचलनम्, अतिजित-काशित्वं, सदा मानशौर्याभ्यामवस्थानमदीनचेष्टितञ्च। यथा—

स्थैर्य—धीरज रखना, धर्म, अर्थ तथा काम को बिना किसी व्यवधान के चलाते रहना, अभिमानी स्वभाव रखना, सम्मान और वीरता के साथ रहना तथा व्यवहार में दीनता न दिखलाना 'स्थैर्य' कहलाता है। जैसे :—

सम्पत्स्वापत्सु तुल्यात्मा रामो धैर्यकुलाचल।
विकारैः कैश्च नाक्षिप्तो वेदार्थ इव हेतुभिः॥

श्रीराम धैर्य के कुलपर्वत हैं जो सम्पत्ति और आपत्ति में समान रूप से स्थिर रहते हैं। इन पर विकारों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता जैसे वेदों का अर्थ दुष्ट हेतुओं से आक्षिप्त नहीं होता।

गाम्भीर्यम्—

हर्षशोकभयक्रोधा लब्धावकाशा अपि यत्र न विकारकारिणो भवन्ति तद् गाम्भीर्यम्। यथा—

गाम्भीर्य—जब हर्ष, शोक, भय तथा क्रोध के आने पर भी कोई परिवर्तन न दिखाई दे तो इसे '*गाम्भीर्य*' समझना चाहिए। जैसे :—

आकर्ण्योपहृतां सीतां रावणेन रघूद्वहः।
न रुरोद न चुक्रोश लक्ष्मणं प्रैक्षतादरात्॥

श्रीराम ने सीता को रावण के द्वारा हर लेने का समाचार सुनकर न तो रुदन किया न क्रोध ही किया केवल थोड़ा झुक कर लक्ष्मण की ओर देखने लगे।

ललितम्—

मधुरा वाग्वेषः शृङ्गारी, चेष्टितं साधु, साधूनां सदा सङ्गमवाञ्छा ललितम्। यथा—

ललित—जब मधुर संभाषण, शृङ्गारी वेषभूषा, सज्जन पुरुष के

समान आचार और सज्जनों की संगति सदा करने की अभिलाषा रखी जाए तो इसे *'ललित'* नामक गुण समझना चाहिए। जैसे :—

स तिष्ठति सदा धीमाञ्छास्त्रचिन्तासुधारसे।
स्वबिम्बैरिव भित्तिस्थैः पण्डितैः परिवारितः॥

यह बुद्धिमान् पुरुष शास्त्र के चिन्तन रूपी अमृत का आस्वादन करते हुए भित्तियों पर स्थित दर्पणों में प्रतिबिम्बित अपने जैसे ही पण्डितों से घिरा रहता है।

औदार्यम्—

'दानमभ्युपपत्तिश्च सर्वदा प्रियभाषणम्।
स्वजनेऽन्यजने यत्र न प्रेम कृतकं भवेत्॥ १४१॥
(ना० शा० २४।४०)

तदौदार्यम्। यथा—

औदार्य—सहायता करने तथा दान देने की भावना, सदा प्रियभाषण तथा अपने और पराए व्यक्तियों में सहज स्नेह रखना *'औदार्य'* नामक गुण होता है। जैसे :—

परात्मीयविभागोऽयं मोहः क्लिश्नात्यपण्डितम्।
प्रीतिः सर्वत्र धीरस्य ज्योत्स्नेवास्ते सुधानिधेः॥

यह मेरा है और यह अपना नहीं है ऐसी भावना नासमझ को कष्ट देती है। धीर मनुष्य चन्द्र की प्रभा के समान अपनी प्रीति सभी पर (समान) रखता है।

तेजः—

अधिक्षेपापमानभ्रत्यवायदर्शनैः परैरुच्यमानस्यारब्धादनिवर्तनं

तेजः। यथा राघवाभ्युदये—

तेज—अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य को दूसरों के द्वारा अपमानित किये जाने, दोष बतलाने, बाधा पहुँचाने या डाटने आदि होने पर भी न छोड़ते हुए पूरा कर लेना *'तेज'* नामक गुण होता है। जैसे राघवाभ्युदय में श्रीराम की निम्न उक्ति—

राम.—आज्ञास्तु ते त्रिदशनाथ दशाननस्य
सन्धौ विदेहदुहितुश्च समागमेऽस्मिन्।

प्रत्याशयान्तिकगतस्य विभीषणस्य
लङ्का प्रदाय न विना धृतिमेति राम ॥ इति ।

हे देवाधिराज इन्द्र, आपकी चाहे यह आज्ञा ही क्यों न हो और मुझे जिससे रावण के साथ सन्धि और सीता की प्राप्ति ही चाहे क्यों न हो जाती हो परन्तु राज्यप्राप्ति की आशा से मेरी शरण लेने वाले विभीषण को बिना लंका का राज्य प्रदान किये राम को शान्ति नहीं मिलेगी।

पञ्चाभिनया भवन्ति। यथा—वाक्यं, सूचा, अङ्कुर, शाखा, निवृत्यङ्कुरश्चेति ।

[1] (पञ्चाङ्ग) अभिनय—नाटकीय तथ्यों को प्रकट करने के लिए अभिनय की पाँच विधाओं का प्रयोग किया जाता है। ये पञ्चाङ्ग अभिनय कहलाते हैं। इनके नाम हैं—(१) वाक्याभिनय, (२) सूचाभिनय, (३) अङ्कुराभिनय, (४) शाखाभिनय तथा (५) निवृत्यङ्कुराभिनय।

वाक्याभिनयः—

तत्र नायकस्य युद्धप्रहारादिवर्णना स वाक्याभिनयः ।

वाक्याभिनय—जब नायक के युद्ध, प्रहार आदि का वर्णन किया जाए तो उसे '*वाक्याभिनय*' समझना चाहिए। जैसे :—

यथा—

इय श्रीर्यत्कृते सिन्धुं मथ्नतोऽभूदुरस्तव ।
मन्दरोपान्तसङ्घर्षनुन्नत्वक्कालदन्तुरम् ॥'

---

[1] वाक्य, सूचा आदि अभिनय के पाँच प्रभेदों को भरतमुनि ने शारीराभिनय माना है। इनमें उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त 'नाट्यायित' नामक छठा और भेद होता है। सागरनन्दी ने इन प्रकारों को पञ्चाङ्गाभिनय माना है जिनका उल्लेख कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में भी प्राप्त होता है। सागरनन्दी का यह विवरण प्राचीन आचार्यों से भिन्न है। भरत आदि के अनुसार इन शारीराभिनय का स्वरूप इस प्रकार होगा—(१) वाक्य—गीत या उसका मूल स्वरूप। (२) सूचा—गाए जाने वाले गीत की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुरूप चेष्टाओं का आचरण। (३) अङ्कुर—अभिव्यक्ति का अस्फुटाकरण। (४) शाखा—शरीर के हस्त, पाद, मुख आदि अवयवों के द्वारा भावों का स्पष्टतः प्रकटीकरण तथा (५) निवृत्यङ्कुर—दो अभिनेताओं के पारस्परिक संवाद में होने वाले घात प्रतिघातों से पारस्परिक प्रतिक्रिया का संकेत मिलना।

यही वह लक्ष्मी है जिसके लिए सागरमन्थन करने पर मन्दराचल की बाहुओं की रगड़ से तुम्हारा वक्षःस्थल काला और ऊँचा-नीचा हो गया था।

सूचाभिनयः—

पूर्वसंसूचितानर्थान् प्रतिपादयितुं पुनः ।
प्रयुज्यते हि यद् वाक्यं सा सूचा कथ्यते बुधैः ॥ १४२ ॥

सूचाभिनय—एक बार सूचित अर्थ या तथ्य को फिर से बतलाने के लिये जब वाक्य का प्रयोग किया जाए तो उसे *'सूचाभिनय'* समझना चाहिए।

यथा—

दृष्टुं तामुत्सुकं चक्षुः श्रव श्रोतुञ्च तद्गिरः ।
चेतश्चिरोषितं तस्यां प्रभुरस्मि न चात्मनः ॥

जैसे—

मेरी आँखें उसे देखने को लालायित हैं, मेरे कान उसी की वाणी सुनने को उत्सुक हैं, मेरा मन चिरकाल से उसी में रम गया है और मैं अब अपने बस का नहीं रहा हूँ।

अङ्कुराभिनयः—

वाक्यैरन्यापदिष्टैर्यत् कथ्यते हृदयस्थितम् ।
यथातद्दर्शनायोग्यं सोऽङ्कुराभिनयः स्मृतः ॥ १४३ ॥

अङ्कुराभिनय—यदि दूसरों के कथन को उद्धृत करते हुए छिपी हुई मन की बात को दर्शाया जाए तो उसे *'अङ्कुराभिनय'* समझना चाहिए।

यथा—दष्टाधरेव धुन्वाना पाणिनवपल्लवम् ।
सभृङ्गालापसीत्कारा चुम्ब्यते मरुता लता ॥

अधर के दशन से व्यथित होने जैसी, नवपल्लवरूपी हाथों को झटके देने जैसी और भृङ्गों की गुंजार को सीत्कार करने जैसी प्रकट करते हुए यह लता वायु के द्वारा चुम्बन की जा रही है।

शाखाभिनयः—

हस्तपादप्रभृतिभिः शाखाभिनयः । यथा—

पादास्फालस्खलद्भूमि वेल्लद्दोर्भिरुद्धदिक् ।
जटाक्षिप्तद्यु च पायाच्छम्भोस्ताण्डवडम्बरम् ॥

गात्राभिनय—हाथ-पैर आदि की चाल या चेष्टाओं से होने वाला कार्य *'गात्राभिनय'* कहलाता है। जैसे :—

भगवान शिवजी का वह ताण्डव नृत्य आपकी रक्षा करे जिसमें पैरों के दबाव के कारण नम कर पृथ्वी सिमक रही है, भुजाओं के फैलाव के कारण दिशाएँ अवरुद्ध हो गयी हैं तथा जटाओं के उछलने से आकाश बिखरा सा दिखाई दे रहा है।

यथा वा—

ऊर्ध्वाच मेरितैकैकपादस्फारीभवत्तनुम्।
वन्दे त्रिविक्रमाक्रान्तभूर्भुवस्स्वस्त्रयं हरिम्॥

तथा—

अपनी तीन डगों से भू, भुव और स्वर्गलोक को लांघने के अवसर पर अपने एक-एक पैरों का ऊपर नीचे की ओर फैलाने के कारण जिन्हें अपने शरीर को फैलाना पड़ रहा है उन श्री भगवान् विष्णु को मेरा प्रणाम।

निवृत्त्यङ्कुरः—

यत्रान्येन प्रयुक्तन्तु करोत्यन्यश्च कश्चन।
पूर्वानुभूतसंवादं स निवृत्त्यङ्कुरो भवेत्॥ १४४॥
(ना० शा० २४।५०)

निवृत्त्यङ्कुर—अभ्यासवश एक पात्र के द्वारा किये हुए अभिनय या कार्य का इसी प्रकार दूसरे पात्र के द्वारा अनुकरणात्मक आवर्तन [या दोहराया जाना] *'निवृत्त्यङ्कुर'* समझना चाहिए। जैसे :—

यथा—

दर्शयन्मञ्जरीकोटीं तर्जन्या कुपितेव सा।
लता मां तर्जयत्येषा स्फुरिताधरपल्लवा॥ इति।

यह लता अपने फड़कते हुए पल्लवरूपी अधरों तथा मञ्जरीरूपी नेत्रों को तर्जनी के रूप में दिखला कर कुपित मानिनी स्त्री के समान मुझे धमका रही है।

लक्षणानि—

अथ लक्षणानि व्याख्यास्यामः। तत्र षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं नाटकं

नाट्यसिद्धिमधिरोहति यथा लक्षणैरुपेतो राजा राज्यश्रियमिव । तच्च यथा—

लक्षण—अब हम लक्षणों को बतलाएँगे। क्योंकि कहा भी है कि राज्य चिह्नों के धारण करने पर राजा के समान ही लक्षणों से युक्त नाटक की पूर्णता या सिद्धि मानी जाती है। जैसा कि निम्न कथन से स्पष्ट है —

लक्षणैर्बहुविशेषहेतुभिः नाटकं व्रजति नाट्यसम्पदम् ।
सद्गुणैरिव शुभानुबन्धिभिश्चक्रवर्तिपदवीं महीपतिः ॥१४५॥

अनेक विशेषताओं के आपादक लक्षणों से नाटक उसी प्रकार श्रेष्ठता प्राप्त कर शोभित होता है जैसे कल्याणसूचक चिह्नों और उत्तम गुणों के धारण करने से राजा चक्रवर्ती पद प्राप्त करे।

तान्यमूनि लक्षणानि नामत एवाह भरताचार्यः । यथा—
'भूषणाक्षरसङ्घातौ शोभोदाहरणे तथा ।
[1]हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥ १४६ ॥
प्राप्तिरप्यभिप्रायश्च निदर्शनं निरुक्तकम् ।
सिद्धिर्विशेषणश्चैव गुणातिपातातिशयौ ॥ १४७ ॥
दिष्टं तथोपदिष्टश्च विचारोऽथ विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥ १४८ ॥
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।
मनोरथश्च लेशश्च सङ्क्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १४९ ॥
ज्ञेया ह्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च ।
[षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥१५०॥]
(ना० शा० १७।१५)'

---

1 नाट्यशास्त्रे तु अत्र भिन्नपाठक्रमः परिदृश्यते । तत्र हि—'हेतुसंशयदृष्टा... प्राप्तिरभिप्राय एव च । निदर्शनं निरुक्तञ्च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् । गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः । दिष्टं चैवोपदिष्टञ्च विचारस्तद्विपर्ययः ।' इति—'मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्तनम् ।' इति च पाठः समुपलभ्यते । (सम्पा०)

आचार्य भरत ने इन लक्षणों के नाम इस प्रकार बतलाए हैं। यथा—(१) भूषण, (२) अक्षरसंघात, (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) संशय, (७) दृष्टान्त, (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय, (१०) प्राप्ति, (११) अभिप्राय, (१२) निदर्शन, (१३) निरुक्त, (१४) सिद्धि, (१५) विशेषण, (१६) गुणातिपात, (१७) अतिशय, (१८) दिष्ट, (१९) उपदिष्ट, (२०) विचार, (२१) विपर्यय (२२) भ्रंश, (२३) अनुनय, (२४) माला, (२५) दाक्षिण्य, (२६) गर्हण, (२७) अर्थापत्ति (२८) प्रसिद्धि, (२९) पृच्छा, (३०) सारूप्य, (३१) मनोरथ, (३२) लेश, (३३) संक्षेप, (३४) गुणकीर्तन, (३५) अनुक्तसिद्धि तथा (३६) प्रियोक्ति (प्रियवचन)।

भूषणम्—तत्र भूषणम्। आह कात्यायनः—'सौन्दर्य-मलङ्कारः।'[1] शब्दार्थयोः सुन्दरत्वं नाम अलङ्कारः शोभाकरो धर्म इत्यर्थः। यथाह—

भूषण—अब भूषण का स्वरूप बतलाते हैं। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—अलङ्कार या भूषण सौन्दर्य को कहा जाता है। अर्थात् शब्द और अर्थ का सुन्दर रहना भूषण (या अलङ्कार) समझना चाहिए। यही इनका शोभादायक धर्म कहलाता है। जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा भी है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥' इति।
(काव्यादर्श २।१)

काव्य की शोभा के आधायक धर्मों को अलङ्कार कहा जाता है। इनके स्वरूप तथा भेदप्रभेदों के विषय में आज भी विविध रूप में ऊहापोह चलता रहता है अतएव इनका साकल्येन स्वरूप कौन बतला सकता है?

(ते च) स्वभावाख्यानोपमादयश्चतुस्त्रिंशदलङ्काराः। ये च शब्दस्य चार्थस्य च दश गुणाः कीर्तिताः। यथा—

---

१ कात्यायन का उल्लेख अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में प्राप्त नहीं होता परन्तु उपर्युक्त उद्धरण वामन के काव्यालङ्कार सूत्र का है जिससे स्पष्ट है कि कात्यायनगोत्र वामन का रहा होगा। आचार्यों की गोत्र के द्वारा सूचना संस्कृतसाहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है जैसे पतञ्जलि को गोनर्दीय, लोल्लट को अपराजिति आदि।

इनमें स्वभावोक्ति (अथवा स्वभावाख्यान) उपमा आदि चौंतीस अलङ्कार हैं। शब्द और अर्थ के दस गुण बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं —

'श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥' (का० दर्श १।४१)

(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) माधुर्य, (५) सुकुमारता, (६) अर्थव्यक्ति (७) उदारता, (८) ओज, (९) कान्ति तथा (१०) समाधि।

तत्र श्लेषोऽस्पृष्टशैथिल्यम्। शिथिलमल्पप्राणाक्षरयोग। प्रसादः प्रसिद्धार्थ प्रसादवत्। समता चतुष्पदा समानवर्णविन्यासजन्मा बन्ध। माधुर्यं वाग् वस्तुनो रसवदग्राम्यत्व सानुप्रासत्वम्। सुकुमारता ऽनिष्ठुराक्षरप्रायम्। अर्थव्यक्तिरनेयार्थत्वम्। उदारत्वं यदुक्तौ गुणोत्कर्ष। ओजश्च–'ओज समासभूयस्त्व तद्धि गद्यस्य जीवितम्। पद्यप्याख्यायिकास्वेव दाक्षिणात्या प्रयुञ्जते।' (का० दर्श १।८०) इत्युक्तलक्षणम्। कान्तिर्लौकिकार्थाविरोधेन वर्णना। समाधिः अन्यधर्मस्यान्यत्र सम्यगारोपणम्।

इनमें 'श्लेष' उसे कहते हैं जहाँ रचना में शिथिलता का स्पर्श न होता हो। शिथिलता कहते हैं अल्प प्राण अक्षरों का रहना। सुप्रसिद्ध अर्थ को सरलता से प्रकट कर देना 'प्रसाद' गुण समझना चाहिए [अथवा अर्थ को सरलता से पूर्ण रखना प्रसाद समझना चाहिए।] पद्य के चारों पादों में समान रचना शैली के द्वारा एकरूपता रखना 'समता' समझना चाहिए। विषयवस्तु ग्राम्यत्वदोष से रहित तथा अनुप्रास से युक्त शब्दरचना का सरस एवं निखरा हुआ स्वरूप 'माधुर्य' कहलाता है। कठोर पदावली को बचाते हुए शब्दों का प्रयोग करना 'सुकुमारता' समझना चाहिए। नेयार्थत्व दोष से रहित [जिसमें किसी अर्थ की ऊपर से कल्पना न करनी पड़े] गुण 'अर्थव्यक्ति' कहलाता है। उक्ति या पद्यरचना में गुणों का क्रमिक उत्कर्ष या विस्तार होना 'उदारता' कहलाता है। रचना में लम्बे समासों का प्रयोग करना 'ओज' कहलाता है। यह गद्यरचना का प्राण माना जाता है तथा दाक्षिणात्य लेखक इसका प्रयोग आख्यायिका में किया करते हैं। यथार्थ या लौकिक वर्णनों का यथातथ प्रस्तुत

करना 'कान्ति' समझना चाहिए। एक वस्तु के धर्म (गुण या स्वरूप) को दूसरे में आरोपित करना 'समाधि' समझना चाहिए।

तत्र भूषणम्—

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥ १५१॥
(ना॰ शा॰ १७।५)

भूषण—अतएव जिन अलङ्कारों और गुणों को हमने पहिले बतलाया था उन्हीं अलङ्कारों [उपमा आदि] तथा गुणों [श्लेष, प्रसाद आदि] से युक्त अर्थ को 'भूषण' समझना चाहिए। यह शरीर को गहनों से सजाने पर होने वाली शोभा के समान अर्थ की विशेष शोभा बढ़ाता है।

अत्रोदाह्रियते—

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्॥ (काव्या॰ २।३६१)

उदाहरण—हे मुग्धे, यह कमल तुम्हारे मुख की शोभा का तिरस्कार कर रहा है क्योंकि जिनके पास कोश (कलियाँ, निधि) तथा दण्ड (नाल, दण्डसामर्थ्य) हों उनके लिए कौन कार्य अशक्य हो सकता है।

एवंविधं भूषणोदाहरणम्।

भूषण के इसी प्रकार उदाहरण हैं।

अक्षरसङ्घातः—

यत्राक्षरैः श्लेषैर्द्व्यर्थवाचिभिरर्थः कश्चिदुपवर्ण्यते सोऽक्षरसङ्घातः।

यथा—

अक्षरसंघात—जब किसी अर्थ को श्लेष युक्त वर्णों द्वारा बतलाया जाए तो उसे 'अक्षरसंघात' समझना चाहिए। जैसा कि कहा भी है:—

यत्रार्थं त्वक्षरैः श्लेषैश्चित्रार्थैरुपवर्ण्यते।
तमप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणलक्षितम्॥ १५२॥
(ना॰ शा॰ १७।६)

जब कोई विषय विचित्र अर्थों वाले श्लिष्ट अक्षरों के द्वारा बतलाया जाता है तो उसे भी 'अक्षरसंघात' समझना चाहिए।

यथा—गौरीकान्ता तवाप्यस्ति तवाप्यस्ति वृषे गतिः ।
कामं दातासि महत्त स्थाने हरसि सद्गुणैः ॥

उदाहरण —

तुम्हारी पत्नी भी गौरी (गौर वर्णवाली, पार्वती जी) है, तुम्हारी भी वृष (धर्म, वृषभ) में निष्ठा या स्नेह है, उत्सव के समय तुम भी काम [इच्छाओं के, कामदेव के] के दाता [देने वाले, लौटाने वाले] हैं अतएव अपने इन्हीं गुणों के कारण आप हमारे लिए हर [आकर्षण के स्थान, शिवजी] हो रहे हैं।

शोभा—

सिद्धैरर्थैः समं यत्र त्वसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ।
¹श्लिष्टा श्लक्ष्णा विचित्रार्था या सा शोभाऽभिधीयते ॥१५३॥
(ना० शा० १७।७)

शोभा—जब किसी अज्ञात अर्थ को ज्ञाततत्त्वों या अर्थों के द्वारा बतलाया जाता है तो इस प्रकार की श्लेष, लोच और विचित्रतापूर्ण रचना को '*शोभा*' कहा जाता है।

यथा—कामं जनयिता कृष्णो मालाभरणमाश्रितः ।
हरिवद् भायते तद्धि धम्मिलस्तबकैरयम् ॥

उदाहरण—काम को उत्पन्न करने वाला, कालाकलूटा यह अँधेरा आज [वनफूल की] मालाओं के आभरण से युक्त होने के कारण श्रीहरि [श्रीकृष्ण जी] के समान हो रहा है जो काम [प्रद्युम्न] के पिता तथा वनमाला को धारण कर श्री रुक्मिणी जी [लक्ष्मी जी] को प्राप्त करने के लिये युद्ध करने को जा रहे हों और जो काले केशों के गुच्छों से अलङ्कृत हों।

[संकेत—श्रीकृष्णजी के पक्ष में अर्थ करते समय सन्धि विच्छेद इस प्रकार होगा—

मा-लाभ-रणम्-आश्रितः अर्थात् मा = लक्ष्मी के, लाभ = प्राप्ति के लिए; रणम् आश्रितः = युद्ध करने के लिए उद्यत होने वाला]

---

१ यत्र श्लक्ष्णा विचित्रार्था, यत्र श्लिष्टा विचित्रार्था इति च नाट्यशास्त्रे पाठः।

उदाहरणम्—

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहृण यथा ॥ १५४ ॥

(ना० शा० १७।९)

उदाहरण—जब किसी अभिमत या इष्ट अर्थ का समानता प्रदर्शक वाक्यों के द्वारा समर्थन करते हुए प्रस्तुतीकरण हो तो उसे 'उदाहरण' समझना चाहिए। जैसे :—

यथा—अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनाऽर्केण का निशा शशिना विना ॥

अपने लोकोत्तरगुणशाली स्वामी का अनुसरण कर तुमने उचित ही किया है क्योंकि सूर्य के बिना दिन की क्या शोभा और चन्द्र से हीन रात्रि की ही क्या शोभा हो सकती है।

हेतु—

'यः प्रयोजन सामर्थ्याद्विशिष्टार्थप्रकाशकः ।
समासोक्तौ मनोग्राही स हेतु कथितो यथा ॥ १५५ ॥

(ना० शा० १७।१०)

हेतु—जब किसी अर्थ को किसी उद्देश्य की सिद्धि का ध्यान में रखते हुए संक्षेप मे, आकर्षक रूप मे तथा युक्ति पुरस्सर प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'हेतु' समझना चाहिए।

यथा—यदि हंस गता न ते नतभ्रू.
सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्या·
सकलं चौरगत त्वया गृहीतम् ॥

(विक्र० ४।३२)

उदाहरण—अरे हंस, यदि तूने मेरी बाँकी चितवनवाली प्रिया को नदी के तट पर नहीं देखा तो बता रे चोर, तूने उसकी मद से इठला कर चलने वाली यह सुन्दर चाल कहाँ से प्राप्त कर ली ?

१. यद् प्रयोजनमिति समासोक्तमिति च नाट्यशास्त्रसम्मत पाठ ।

संशय-

> अविज्ञातस्य तत्त्वार्थवाक्यस्य सविचारतः ।
> क्रियते यत् समापनं संशय सम्मतो यथा ॥ १५६ ॥

संशय—किसी अज्ञात तत्व या अपूर्ण बात की विचारपूर्वक या निश्चयपूर्वक समाप्ति [न] कर दी जाए तो उसे *'संशय'* समझना चाहिए।

यथा गौरीगृहे जीमूतवाहन —'स्वर्गस्त्री यदि तत् कृतार्थमभवत्' (नागा० १।१६) इत्यादि ।

जैसे—गौरीगृह नामक अङ्क में जीमूतवाहन—'यदि यह कोई दिव्य अगना है तो' [नागा० अङ्क १।१६] इत्यादि।

दृष्टान्त —

> सर्वस्य यन्मनोहारि पक्षसाधनहेतुना ।
> निदर्शनं यत् क्रियते दृष्टान्त स उदाहृतः ॥ १५७ ॥
> (ना० शा० १७।१२)

दृष्टान्त—यदि सभी के मनोनुकूल पक्ष को उदाहरण तथा कारण के साथ प्रस्तुत किया जाए तो इसे *'दृष्टान्त'* समझना चाहिए।

यथा वेणीसंहारे—

भीम —यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा । (वे० स० अं १) इति ।

यथा वा—

> काष्ठं तन्तु फलं वीणा सा वदेदप्यचेतना ।
> त्वं किमेभिश्चापलैर्मे न किञ्चिद्वदसि प्रिये ॥

जैसे वेणीसंहार में
भीम—क्योंकि वह दुर्योधन की पत्नी जो ठहरी।

तथा—

प्रिये, यदि लकड़ी, तार, फल या वीन जड होने पर भी जब कुछ कह देते हैं तो तुम चेतन और गतिशील होकर भी कुछ क्यों नहीं बोलती ?

प्राप्तिः—

दृष्ट्वैवावयवं किञ्चिद्भावो यत्रानुमीयते ।
प्राप्तिं नाम विजानीयाल्लक्षणं तद्यथोच्यते ॥ १५८ ॥
(ना० शा० १७।३२)

प्राप्ति—किसी [पदार्थ के] एक अंश को देखकर शेष भाग को अनुमान से समझ लेना '*प्राप्ति*' कहलाता है। जैसे '—

यथा—आक्षिपन्तीव चपलैर्द्रुमाः पल्लवपाणिभिः ।
मधुरैरन्यपुष्टानां व्याहरन्तीव च स्वनैः ॥

ये वृक्ष अपने पल्लवरूपी चञ्चल हाथों को उठाकर मानो आक्षेप कर रहे हैं तथा कोकिलाओं की मधुर ध्वनि के द्वारा अपनी बात कह रहे हैं।

अभिप्राय—

अभूतपूर्वो यो ह्यर्थः सादृश्यात् परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सो अभिप्राय इति स्मृतः ॥ १५९ ॥

अभिप्राय—जब समानता बतलाते हुए किसी अपूर्व वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि उसे सभी समझ लें तो उसे '*अभिप्राय*' समझना चाहिए। जैसे —

यथा—वापीं सृज सुधारश्मिं तल्लक्ष्मोत्पलकाननम् ।
स्नातस्तत्र विमोक्ष्यामि तापं किं मे जलार्द्रया ॥

यदि चन्द्र की किरणों की वापी और उसके कलङ्क को वापी में खिलने वाले नील कमलों में रखा जाए तो ऐसी वापिका में स्नान करने पर ही मेरा सन्ताप दूर हो सकता है, इन जल से भिगोए पत्रों को झलने से कुछ न होगा।

निदर्शनम्—

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परापेक्षाव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १६० ॥
(ना० शा० १७।१३)

निदर्शन—जब दूसरों के आक्षेप को हटाने के लिए प्रसिद्ध घटना या अर्थों का उल्लेख किया जाए तो उसे *'निदर्शन'* समझना चाहिए।

यथा—क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे बुधाः।

किं न वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥

जैसे :—

विद्वज्जन, शत्रुओं के नाश के लिए क्षत्रियोचित धर्मों का सिद्धान्ततः पालन आवश्यक नहीं है। क्या श्रीरामचन्द्रजी ने छिप कर बाण से बाली को *नहीं मारा*।

निरुक्तम्—

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये।

पदस्य वा तथाभूतं निरुक्तमिति निर्दिशेत् ॥ १६१ ॥

(ना० शा० १७।१४)

निरुक्त—अपने उद्दिष्ट अर्थ को सिद्ध करने के लिये किसी शब्द या वाक्य का *व्युत्पत्ति प्रदर्शनपूर्वक प्रयोग करना 'निरुक्त' समझना* चाहिए। जैसे :—

पदे यथा—

क्षत्रिय सम्मतो राजन् यो वै त्राणकरः सताम्।

क्षतात् त्रायत इत्येष क्षत्रियो हि निरुच्यते ॥

पद का उदाहरण :—

हे राजन्, जो सज्जनों का रक्षक हो उसे ही क्षत्रिय कहा जाता है क्योंकि क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति है कि जो क्षत से रक्षा करे वही 'क्षत्रिय'।

यथा (वा)

याति लाघवमर्थीति मिथ्या व्याचक्षिरे बुधाः।

समभ्यर्थेन लब्धेन यात्यसौ गौरवं त्वपि ॥

तथा (वाक्य का उदाहरण)—

जो याचना करे वह छोटा हो जाता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि माँगने पर जब इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाए तो फिर उसे गौरव भी मिल ही जाता है।

सिद्धि.—

बहूनां तु प्रधानानां नाम यत्रानुकर्ण्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं सा सिद्धिरिति गीयते ॥ १६२ ॥
(ना० शा० १७।१८)

सिद्धि—जहा अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक प्रसिद्ध नामों का आख्यान किया जाए तो उसे *'सिद्धि'* समझना चाहिए। जैसे —

यथा—यत्स्थैर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रम ।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ॥

हे राजन्, कूर्मराज की स्थिरता और शेषनाग का जो पराक्रम है ये दोनों ही पृथ्वी की रक्षा करने के कारण आप में एक साथ समाविष्ट हो गए हैं।

विशेषणम्—

सिद्धान् बहून् प्रधानार्थानुक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयुक्तं वचनं ज्ञेयं तद्धि विशेषणम् ॥ १६३ ॥
(ना० शा० १७।१६)

विशेषण—यदि अनेक प्रसिद्ध एवं साधारण अर्थों को बतलाते हुए बाद में (किसी की) विशेषताओं को दर्शाया जाए तो उसे 'विशेषण' समझना चाहिए। जैसे :—

यथा—तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रिय. ।
ह्रद पद्माकर किन्तु बुधस्त्वं स जडाशय ॥

यह तालाब अपने तृष्णापहारी [तृषा को दूर करने, इच्छा के पूरक] द्विजों के आवासस्थल [पक्षियों के या ब्राह्मणों के विश्राम-स्थल] तथा पद्माकर [कमलों के या पद्माया' = लक्ष्मी के स्थान] होने रूपी गुणों में आपकी समानता चाहे कर लेता हो किन्तु फिर भी दोनों में यही अन्तर है कि तुम बुध [देवस्वरूप, ज्ञानी] हो और यह जडाशय [जलाशय, मूर्ख] है।

गुणातिपात —

गुणाभिधानैर्विविधैर्विपरीतार्थयोजितैः ।
गुणातिपात स बुधैर्निष्ठुरालापवद् भवेत् ॥ १६४ ॥
(ना० शा० १७।१७)

यथा जानकीराघवे पञ्चाङ्के—राम

> जातस्य द्रुहिणान्वयादधिगतज्ञेयस्य लोकत्रयी—
> त्रासोत्पादि वपुर्धरस्य भवतः कोऽयं दशास्योचितः ।
> दूरस्थे मयि लक्ष्मणे प्रचलिते कुत्रापि शून्ये वने
> वैदेहीहरणे प्ररूढकपट-प्रौढक्रमो विक्रमः ॥

गुणातिपात—जब निष्ठुर शब्दों में विपरीत पदावली के द्वारा अनेक गुणों का उल्लेख किया जाए तो उसे '*गुणातिपात*' कहा जाता है। जैसे जानकीराघव के पञ्चाङ्क में—श्रीराम—हे रावण, तुमने ब्रह्मा के कुल में उत्पन्न होकर, सभी शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर तथा तीनों लोकों को अपनी शक्ति से कम्पित करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मेरी अनुपस्थिति में तथा लक्ष्मण के दूर वन में चले जाने पर अकेली सीता का हरण कर अपने कौन विशिष्ट पराक्रम को बतलाया।

यथा वा—

> रागैकाभिजनोऽधरः कचभरः कृष्णो विलोमालिकः
> वाचो नार्जवभूमयः कुचयुगं स्तब्धं दुराढ्यादपि ।
> एभिर्दुष्टतरैर्वृतासि यदि तत् को विस्मयः कल्पतां
> युक्तस्तेऽनपराधकारिणि मयि क्रूरोऽवहेलक्रमः ॥

अथवा—

हे सुन्दरि, तुम्हारे अधर राग के [रंग या स्नेह के] उत्पादक [स्रष्टा, उद्गमरूप] हैं, तुम्हारे केश काले घने घुंघराले [कुटिल] और बिखरे हुए हैं। तुम्हारी वाणी सदा वक्रता से युक्त [टेढ़ी] रहती है और तुम्हारे उरोज किसी कृपण धनाढ्य के समान बड़े कठोर हैं। ये सभी दुष्ट तुम्हें घेरे रहते हैं अतएव दुष्टसंगति के प्रभाव के कारण तुम निर्दयता से बिना किसी अपराध के भी कष्ट देने के लिए उपेक्षित समझ कर मुझ पर ध्यान न दो तो इसमें क्या आश्चर्य है।

अतिशय—

> बहून् गुणांश्चिन्तयित्वा सामान्यजनसम्भवान् ।
> विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥१६५॥
>
> (ना० शा० १७।२०)

अतिशय—जब साधारण मनुष्यों में विद्यमान रहनेवाले गुणों से

समानता बतला कर किसी एक विशेष या असाधारण गुण को बतलाया जाए तो वह '*अतिशय*' कहलाता है। जैसे '—

यथा—हरन्तु हृदय नाम लीला काम मृगीदृशाम्।
त्रासोत्कम्पकृतस्त्वेक कोऽप्याश्लेषमहोत्सव. ॥

मृग के समान नेत्रो वाली सुन्दरियो की सभी चेष्टाएँ चाहे मन को हरण कर लेती हों पर उस सुन्दरी का भय से कापते हुए एक आलिंगन मात्र मे तो अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

यथा च—

तामुद्दिश्य मृगीदृश तरुणिमस्फूर्जन्मनोज्ञाकृतिम्
जात्यैव तरणे जनेऽद्य विविधावस्थान्तर यास्यति।
दत्तेर्ष्याभ्युदयो रते स जनिताधैर्य सहाये मधौ
स्वस्मिन्नेव शर पतिष्यति निज शङ्के मनोजन्मन ॥ इति

अथवा और भी—

नवयौवन के कारण सुन्दरतम आकृति को धारण कर लेनेवाली उस मृगनयनी (बाला) को देखकर आज युवकों के मन मे अनेक दशाएँ उत्पन्न होंगी। उसे देखकर कामदेव अपना पत्नी रति से डाह करने लगेगा और अपने मित्र वसन्त की सहायता को न लेकर अधीरतावश अपने बाणों का लक्ष्य स्वय को ही बनाते हुए बाण चला देगा ऐसी मुझे सम्प्रति आशका हो रही है।

तुल्यतर्क —

रूपकैरुपमाभिश्च ह्यप्रत्यक्षस्य वस्तुतः।
तुल्यार्थेनेन संस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रदर्शितः ॥ १६६ ॥

(ना० शा० १७।१९)

तुल्यतर्क—किसी अप्रत्यक्ष विषय की तुल्यता प्रदर्शन के लिए जब उपमा या रूपक का सहारा लेकर वर्णन किया जाए तो उसे '*तुल्यतर्क*' समझना चाहिए। जैसे —

यथा—

विटपसुकुमारबाहु पल्लवपाणिस्तनुत्वमापन्ना।
कुसुमस्मित दधाना कान्तेवाभाति मे वल्ली ॥

यह लता अपनी टहनीरूपी बाहुओं, पल्लवरूपी हाथों और पुष्पों जैसी मुसकान को धारण करने के कारण मेरी प्रिया के समान लग रही है।

पदोच्चय —

बहूनान्तु प्रयुक्तानां पदानां बहुभिः पदैः।
उच्चयः सदृशार्थो यः स विज्ञेयः पदोच्चय ॥ १६७ ॥
(ना० शा० १७।२२)

पदोच्चय—जब अनेक पदों के द्वारा अनेक विषयों या वस्तुओं की समानता बतलाते हुए प्रयोग किया जाए तो उसे *'पदोच्चय'* समझना चाहिए।

यथा चैत्रावल्यङ्के राजा—

कुसुमसुकुमारमूर्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम्।
आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥

जैसे चैत्रावली नामक अङ्क में।

राजा—इसका शरीर फूलों जैसा कोमल है और इसका कटिप्रदेश अत्यन्त पतला है। इसलिए यह सुन्दरी कामदेव की एक ओर में रखी हुई चापयष्टि के समान प्रतीत हो रही है।

यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुदण्डं निजनखरशिखाकेसरं प्रान्तभृङ्ग
नीलाब्जश्रेणि भृङ्ग बलिविजयसरःप्रोत्थितं दैत्यशत्रोः।
पायाद् वः पादपद्मं यदुपरि विधिना न्यस्तमर्घ्याय गाङ्गं
तोयं मध्वेव चैतत्स्खलदलिविवरभ्राम्यदुष्णांशुबिम्बम् ॥

तथा—

दानवों के शत्रु भगवान् श्रीविष्णु का बलि के विजयरूपी सरोवर से निकला हुआ वह चरणकमल आपकी रक्षा करे जिसकी जंघा दण्डवत् (सीधी) ऊपर हो रही है, जिसकी नखकिरणों का शिखारूपी केसर से अग्रभाग व्याप्त हो रहा है और जिसका नीलकमल जैसा प्रान्तभाग भृङ्ग के समान प्रतीत हो रहा है, जिस पर श्री ब्रह्माजी द्वारा अर्घ्य के लिये चढ़ाया हुआ गंगाजल मधु जैसा है और जब वही इधर-उधर घूमता है तो उसमें मध्यवर्ती छिद्रों में घूमने वाले भौंरों सा सूर्य बिम्ब निकलता हुआ दिखाई दे रहा है।

दिष्टम्—

यथादेशं यथाकालं यथारूपञ्च वर्ण्यते ।
प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च तद्दिष्टमिति कीर्तितम् ॥ १६८ ॥
(ना० शा० १७।२१)

यथा सुग्रीवाङ्के—'मध्येतल्प सरलितभुजस्तम्भम्' इत्यादि ।

दिष्ट—जब किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु का अपने देश, काल और स्वरूप के अनुसार सही वर्णन किया जाए तो उसे 'दिष्ट' समझना चाहिए। जैसे सुग्रीवाङ्क में—'बिछौने के बीच अपनी भुजाओं को सीधी या घुमाती हुई' इत्यादि ।

यथा च—

दिक्षु दिक्षु मसीश्यामा ग्रीष्मच्छेदे पयोधरा ।
उत्तम्थुर्मैथिलीभर्तुरनलोद्धूमपल्लवा ॥

तथा—ग्रीष्मऋतु के अन्तिम भाग में प्रत्येक दिशा में स्याही जैसे काले बादल उठने लगे जो सीतापति श्रीराम को आग से उठे हुए धुएँ जैसे लग रहे थे।

उपदिष्टम्—

परिसंगृह्य शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
विद्वन्मनोहरं स्वन्तन्मुपदिष्टं तदुच्यते ॥ १६९ ॥
(ना० शा० १७।२४)

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्के—'शुश्रूषस्व गुरून्' (अभि० शा० ४।१७) इत्यादि ।

उपदिष्ट—शास्त्र या व्यवहार के आधार पर कहा जाने वाला विद्वदनुमोदित और परिणाम में सुख दायी कथन 'उपदिष्ट' कहलाता है। जैसे शाकुन्तल के चतुर्थाङ्क में—'तुम अपने पूज्य गुरुजन की सेवा करना' इत्यादि (कण्व का) कथन।

यथा वा—

सत्यमप्रमादशङ्काभिर्वाग्मिनोऽपि महात्मनः ।
यथेष्टार्पितमर्म्यां नाधिरोहति भारती ॥

तथा—

भय और प्रमाद की आशंका के कारण अच्छे वक्ता और विद्वान् पुरुष की वाणी भी यथार्थ कथन से विरत हो जाती है।

विचार —

युक्तिवाक्यैरनेकैश्च अप्रत्यक्षार्थसाधनः।
अनेकोपायसंयुक्तो विचार इति कीर्तितः ॥ १७० ॥
(ना० शा० १७।२३)

यथोत्तर (राम) चरिते—

विचार—अनेक युक्तियुक्त वाक्यों तथा अनेक उपायों के कथन द्वारा किसी अदृष्ट या अप्राप्य वस्तु की सिद्धि बतलाना *'विचार'* कहलाता है। जैसे उत्तररामचरित में—

यदृच्छा संवादः किमु गुणगणानामतिशयः
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः।
निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात् कोऽप्यविदितो
ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥ (उत्त० ५।१६)

मुझे इस [कुमार चन्द्रकेतु] के देखने पर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि क्या यह कोई आकस्मिक मिलन है या इसके इन अतिशय गुणों के कारण मन आकृष्ट हो रहा है या इससे कोई पूर्वजन्म का परिचय है या दुर्भाग्यवश न जाना गया कोई अन्य सम्बन्ध है जो मेरे हृदय में अनजाने आनन्द उत्पन्न कर रहा है।

विपर्यय —

विचारस्यान्यथाभावस्तथा दिष्टोपदिष्टयोः।
सन्देहात् कल्प्यते यत्र स विज्ञेयो विपर्ययः ॥ १७१ ॥
(ना० शा० १७।२६)

यथा सङ्केताङ्के—

विपर्यय—यदि कलाओं या सीखे हुए तथ्य के विपरीत परिणाम की सन्देहवश कल्पना की जाए तो उसे *'विपर्यय'* समझना चाहिए। जैसे संकेताङ्क में—

मम कण्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव ।
अतः स्वार्थे प्रयत्नोऽयं त्यज्यतां साहसं प्रिये ॥ (रत्ना० ३।१६)

राजा—हे प्रिये, जब तुम्हारे गले में पाश पड़ी हो तो मेरे प्राण गले तक आने लगते हैं। इसलिये तुम अपना यह (आत्मघात रूपी) साहस छोड़ दो क्योंकि मेरा उद्योग अपनी रक्षा करना ही है [जो तुम्हारी रक्षा करने से ही होगा]

भ्रंशः—

वाच्यमर्थं परित्यज्य दृप्तादिभिरनेकधा ।
अन्यस्मिन्नेव पतनादाशु भ्रंश उदाहृतः ॥ १७२ ॥

भ्रंश—जब किसी कथ्य अर्थ को दुर्भाग्य आदि कारणवश किसी दूसरे ही अर्थ मे लगा दिया जाए तो वह 'भ्रंश' कहलाता है। जैसे भानुमत्यंक में—

यथा भानुमत्यङ्के—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥
(वे० सं० २।५)

दुर्योधन—पाण्डुनन्दन अपने पराक्रम से भाई, बन्धु, पुत्र, मित्र तथा सेवक आदि के साथ सुयोधन का शीघ्र वध करेगा।

अनुनयः—

उभयोः प्रीतिजननोर्विरुद्धाभिनिवेशिनोः ।
अर्थप्रसाधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः ॥ १७३ ॥

अनुनय—एक दूसरे के विरुद्ध रहने वाले दोनों पक्षों को प्रसन्न कर अपना कार्य सिद्ध करनेवाला कथन 'अनुनय' कहलाता है।

यथा सङ्केताङ्के—'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष' (रत्ना० ३।१४) इत्यादि । यथा च—

एष बद्धाञ्जलिपुटो मौलिर्मे त्वत्पदानतः ।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति तुल्यमेवानुग प्रभु ॥

जैसे संकेतांक में—

राजा—देवि, मैं बिना किसी लज्जा के तुम्हारे चरणों पर लगी हुई महावर की लाली को तो अपने मस्तक से पोंछ रहा हूँ (पर मैं तुम्हारे चन्द्र जैसे मुख पर होनेवाली क्रोध की लालिमा भी हटाना चाहता हूँ यदि तुम मुझ पर थोड़ी दया दिखलाओ तो ?)

अथवा—

मैं अपने दोनों हाथ जोड़ कर तुम्हारे पैरों पर अपना सर झुका देता हू क्योंकि स्वामी की अपने सेवकों पर कृपा या नाराजी दोनों ही हो सकती है।

माला—

ईप्सितार्थस्य सिद्ध्यर्थं क्रियन्ते यत्र सूरिभिः।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिधीयते ॥ १७४ ॥
(ना० शा० १७।२७)

माला—अभीष्ट कार्य की पूर्ति के लिये जब अनेक उद्योग किये जायें तो उसे '*माला*' समझना चाहिए।

यथा सीतानिर्वासे—

तुल्यान्वयेत्यनुगुणेति गुणोन्नतेति
दुःखे सुखे च सुचिरं सहवासिनीति।
जानामि केवलमहं जनवादभीत्या
सीते त्यजामि भवतीं न तु भावदोषात् ॥ (कुन्द० १।१२)

जैसे *सीतानिर्वासन* नामक अङ्क में—

लक्ष्मण—हे पूज्य सीता जी, तुम मेरे ही वंश के समान (पवित्र एवं प्रसिद्ध) यश में उत्पन्न हो तथा हमारे ही समान गुणों से युक्त भी हो, हमारे सुख और दुःखों में चिरकाल से साथ रही हो पर फिर भी केवल तुम्हारा परित्याग लोकापवाद के भय के कारण हो रहा है इसमें आपके प्रति रहनेवाला दुर्भाव कारण नहीं है।

दाक्षिण्यम्—

यद्दृष्ट्या चेष्टया वाचा प्रसन्नवदनेन च।
परानुवृत्तिः क्रियते तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम् ॥ १७५ ॥
(ना० शा० १७।२८)

दाक्षिण्य—अपनी दृष्टि, चेष्टाएँ, वाणी और प्रसन्नमुख के द्वारा की गयी चाटुकारिता को '*दाक्षिण्य*' समझना चाहिए।

यथा कदलीगृहे राजा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गते च वदनं नीतं परां नम्रताम्' (रत्ना० २।२०) इत्यादि। यथा वा—

अपयान्त्यापि ते भीत्या दाक्षिण्यं नोज्झितं तया।
व्यावर्त्य यन्मुखं चक्षुस्त्रिभागो मयि पातितः॥

जैसे *कदलीगृह* नामक अंक में—

राजा—प्रियतमा के अनुकूल होने के कारण भ्रूकुटी के अकस्मात् चढ़ जाने पर भी इसका मुँह झुका हुआ है, केवल मुझे देख कर क्रोध के कारण मुसकुराना बन्द कर लिया है, कठोर शब्द नहीं कहे जा रहे हैं तथा क्रोध से आँखों के आंसू रुक जाने के कारण नेत्र खुल नहीं पा रहे हैं। इस प्रकार (इसका) मेरे प्रति कोप तो प्रकट हो रहा है पर (इसके द्वारा) सहज विनय का परित्याग नहीं दिखलाई दे रहा है।

तथा—

तुम्हारे भय से दूर चले जाने पर भी उसने अपना विनय बनाये रखा और केवल मुँह घुमाकर नेत्रों को तिरछा करते हुए मुझे देख भर लिया।

गर्हणम्—

यत्र सङ्कीर्तयेद्दोषं गुणश्च विनिपातयेत्।
भर्त्सनाद् बहुशो ज्ञेयं गर्हणं नाम सूरिभिः॥ १७६॥
(ना० शा० १७।२९)

गर्हण—जहा गुणों की भर्त्सना कर उन्हें गिराते हुए केवल दोषों का ही उल्लेख किया जाए तो उसे '*गर्हण*' समझना चाहिए।

यथाऽश्वत्थामाङ्के—

कृप.—धिक्सानुजं कुरुपतिं धिगजातशत्रुं
धिग्भूपतीन् विफलशस्त्रभृतो धिगस्मान्।
केशग्रहः खलु तदा द्रुपदात्मजाया
द्रोणस्य चाथ लिखितैरिव वीक्षितो यैः॥
(वे० सं० ३।१२)

जैसे *अश्वत्थामाङ्क* में—

कृपाचार्य—अपने भाइयों के साथ कौरवराज दुर्योधन को धिक्कार है और धिक्कार है युधिष्ठिर को तथा निष्प्रयोजन शस्त्र धारण करने वाले राजाओं एवं हम सभी को जिनने पूर्व में पाञ्चाली के और आज द्रोणाचार्य का केशग्रहण देखा।

अर्थापत्तिः—

अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्य्यसम्मिश्राऽसावर्थापत्तिरुच्यते ॥ १७७ ॥
(ना० शा० २७।३०)

अर्थापत्ति—जब माधुर्य से सम्मिश्रित वाक्यों के द्वारा किसी एक बात के कहने से किसी अर्थ की प्रतीति हो जाए तो उसे *'अर्थापत्ति'* समझना चाहिए।

यथा राघवाभ्युदये—

रामोऽसौ जगतीह विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जनाति तम्।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति—
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥

जैसे *राघवाभ्युदय*[1] में—

यह राम अपने पराक्रम तथा गुणों के कारण संसार में अतिशय प्रसिद्ध हो गया परन्तु यदि आप एक बाण के प्रहार से पङ्क्तिबद्ध सात *विशाल तालवृक्षों के छिद्रों से निकलते हुए सात स्वरों से* वायु द्वारा यशोगान किये जाने वाले उस (वीर श्रीराम) को नहीं जानते तो यह हमारा ही दुर्भाग्य है।

---

1. अर्थापत्ति के उदाहरण में दिये गये 'रामोऽसौ' इत्यादि पद्य को भोज ने अपने *'शृङ्गारप्रकाश'* में अर्थापत्ति के ही उदाहरण में उद्धृत किया है। भोज ने *इसे राघवाभ्युदय का पद्य न बतला कर राघवानन्द से उद्धृत किया* है। (शृं० प्र० ११।५३५) सदुक्तिकर्णामृत में यही श्लोक विशाखदत्त की रचना बतलायी गयी है [द्रष्टव्य—सदुक्तिकर्णामृत, सम्पा० रामावतारशर्मा० लाहौर संस्करण]। यह पद्य अति प्रसिद्ध है तथा काव्यप्रकाश (४।१०९) तथा साहित्यदर्पण आदि में उद्धृत भी है।

प्रसिद्धिः—

वाक्यैः सातिशयैर्युक्ताः प्रधानार्थप्रसाधकैः।
लोकप्रसिद्धैर्बह्वर्थैः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता॥ १७८॥
(ना० शा० १७।३१)

प्रसिद्धि—मुख्य उद्देश्य के प्रतिपादक अनेक लोकप्रसिद्ध तथ्यपूर्ण वाक्यों से युक्त रचना '*प्रसिद्धि*' कहलाती है।

यथा सम्पात्यङ्के माल्यवान्—

जातो मुनेर्विश्रवसः समस्त-
विद्यास्ववीती परमो विविक्तः।
निपात्यसे वत्स किमेभिरुर्मै-
स्तटद्रुमः सिन्धुजलैरिवार्थैः॥

जैसे—*सम्पाति अङ्क में*—

माल्यवान्—हे वत्स, तुम विश्रवस मुनि के पुत्र हो। तुमने सारी विद्याओं का विधिवत् अध्ययन किया है। अपनी इन्हीं विशेपताओं के कारण तुम सभी से अपनी विभिन्नता भी रखते हो। इतना सब होने पर भी तुम इन उग्र कार्यों को करते हुए अपने आपको उसी प्रकार गिरा रहे हो जैसे किनारे पर रहनेवाला वृक्ष नदी के प्रवाह के द्वारा स्वयं को गिरा लेता है।

पृच्छा—

यत्रान्वेपणमर्थानां वाक्यैरभ्यर्थनापरैः।
जिज्ञासुः पृच्छति परं सा पृच्छा त्वभिधीयते॥ १७९॥
(ना० शा० १७।३२)

पृच्छा—जब कोई जिज्ञासु-भाव से अपनी अभीष्ट वस्तु की तलाश करते हुए अनुनय-विनयपूर्वक कुछ पूछता हो तो उसे '*पृच्छा*' समझना चाहिए।

यथोन्मत्तमाधवे—

भवद्भिः सर्वाङ्गप्रकृतिरमणीया कुलवधू-
रिहस्थैर्दृष्टा वा विदितमथवाऽस्याः किमभवत्।

वयोऽवस्थां तस्याः शृणुत सुहृदो यत्र मदनः
प्रगल्भव्यापारश्चरति हृदि मुग्धश्च वपुषि ॥

(माल० मा० ९।२९)

जैसे उन्मत्त-माधव नामक अंक (मा० माध० अङ्क ६) में :—

माधव—क्या आपने सहज सलोने अङ्गवाली उस कुलीन सुन्दरी बाला को कहीं देखा है ? या आपको यह मालूम है कि उसकी क्या दशा हुई ? मैं आपको उसकी अवस्था और वय बतलाता हूँ, ज़रा ध्यान से सुनिये—जब काम अपने उत्कट व्यापारों के साथ चित्त में सचार करने लगता है तथा जिसके कारण शरीर के सारे हावभाव मनोहर बन जाते हों—बस उस सुन्दरी की यही अवस्था है।

अन्यस्त्वाह—

'यत्र भावरसोपेतमात्मात्मानमथवा परम् ।
पृच्छन्निवाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्युच्यते यथा ।'
समाश्वसिहि मे चेत त्यजताङ्गानि वेपितम् ।
सञ्जीवनीव सम्प्राप्ता सेयं वो हृदयङ्गमा ॥

दूसरे आचार्यों का मत है कि जब कोई व्यक्ति स्वय से या दूसरे से प्रश्न करते हुए किसी भावना एव रस से पूर्ण तथ्य को कहता हो तो उसे 'पृच्छा' समझना चाहिए। जैसे '—

(स्वय प्रश्न करते हुए तथ्य कथन करना)—

हे मन, अब तुम धीरज धरो और अपने कांपनेवाले अङ्गों को रोको। इस समय मेरी प्रियतमा आ गई है जो मेरे मन में बसी थी और जो मेरे प्राणों के लिये संजीवनी औषधि के समान है।

परे यथा—

बहुधा वार्यमाणापि त्वं तथानुगता सती ।
कथं रौद्ररसावर्तगर्तमग्र जहासि माम् ॥

तथा (दूसरों से प्रश्न करते हुए तथा कथन का उदाहरण)

हे सती, जब तुम अनेक बार मना करने पर भी मेरा [उचित रूप में] अनुसरण करती रही तो फिर आज इस भयकर जलावर्त के गड्ढे में मुझे अकेला क्यों छोड़ रही हो ?

सारूप्यम्—

अन्यच्चिन्तयतश्चान्यद्विरुद्धमुपतिष्ठते ।
सादृश्यात् क्षोभजननं सारूप्यमभिधीयते ॥ १८० ॥

सारूप्य—जब किसी सोची हुई बात के विरुद्ध पदार्थ समानता के कारण खड़ा होकर मानसिक क्षोभ उत्पन्न करने लगे तो उसे 'सारूप्य' समझना चाहिए।

यथा कैकयीभरते—'उत्सर्पति स्थिरतडिज्जलदः किमेष' इत्यादि ।

जैसे कैकयी-भरत नामक अङ्क में :—

क्या यही वह बादल है जो स्थिर बिजली को साथ लेकर ऊपर चढ़ रहा है।

अन्यस्त्वाह—

'दृष्टेनैकेन रूपेण वस्तुनोऽन्यत्र निश्चयः ।
भवेत्तुल्यगुणालम्बाद्यत्तत् सारूप्यमुच्यते ॥'

दूसरे आचार्यों का मत है कि :—

एक बार पूर्व में देखी गयी वस्तु की समानता के आधार पर अन्यत्र भी वैसी ही कल्पना कर लेना 'सारूप्य' समझना चाहिए।

यथा—

कृष्णसारस्य यच्छृङ्गं हृदयं तच्च कल्प्यताम् ।
उष्माकरस्य कालस्य यथाहः शर्वरी तथा ॥ इति ।

जैसे :—

जो मृग का सींग है उसे उसका हृदय समझो और जैसा ग्रीष्मकाल का दिन [कष्टकारक] होता है उसी प्रकार [यह] रात्रि भी जानो।

मनोरथः—

हृदयस्थस्य भावस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥ १८१ ॥
(ना० शा० १७।३८)

मनोरथ—जब मन की गुप्त बात को किसी दूसरे बहाने से बतलाया जाए तो उसे 'मनोरथ' समझना चाहिए।

यथा प्रस्थानाङ्के—'स्वपिति पुलिने शय्याशुभ्रे' इत्यादि ।

जैसे *प्रस्थानाङ्क* में—
वह शुभ्रवर्ण बालु की सेज पर सो रही है इत्यादि ।

लेशः—

यद्वाक्यं वाक्यकुशलैः सुश्लिष्टार्थं प्रयुज्यते ।
निपुणेनोद्घाट्यते यस्तु स लेश इति कीर्तितः ॥ १८२ ॥

(ना० शा० १७।३५)

लेश—चतुर वक्ता के द्वारा प्रयुक्त किसी श्लिष्ट वाक्य के आशय को जब अपने बुद्धिकौशल से प्रस्तुत किया जाए तो उसे '*लेश*' समझना चाहिए ।

यथा शाकुन्तले—

प्रियंवदा—जइ अज्ज तादो सण्णिहिदो भवे । (यद्यत्र तात' सन्निहितो भवेत्)

शकुन्तला—तदो किं भवे ? (तत किं भवेत् ?) इत्यादि ।

जैसे *शाकुन्तल* के प्रथमाङ्क[1] में—
प्रियवदा—यदि आज यहाँ पिताजी होते ।
शकुन्तला—तो क्या होता ? इत्यादि ।

सङ्क्षेपः—

परदोषैर्विचित्रार्थैः यत्रात्मा परिकीर्त्यते ।
सदृक्षानुभवे कैश्चित् स सङ्क्षेप इति स्मृतः ॥ १८३ ॥

(ना० शा० १७।३६)

संक्षेप—जब दूसरों के कष्टों या दोषों की समानता के कारण स्वयं भी वैसी ही विचित्रता का अनुभव करे तो '*संक्षेप*'[2] समझना चाहिए ।

---

१ लेश का यही उदाहरण शृङ्गारप्रकाश में भी मिलता है ।

२. भोज के अनुसार संक्षेप के स्थान पर 'सक्षोभ' प्राप्त होता है । पर वस्तुत इसे 'दोष' समझना चाहिये । सम्भवत यह लेखक-प्रमाद से संक्षेप हो गया होगा । सागरनन्दी ने नाट्यालङ्कारों में 'क्षोभ' को आगे लिखा है अतएव भरतोक्त 'दोष' का ही यहाँ ग्रहण हुए होना उचित होगा । भोज के अनुसार कथित 'क्षोभ' भी इसी लेखक प्रमाद का परिणाम प्रतीत होता है ।

यथा मायालक्षणाङ्के—

रावण —

साक्रुष्टा कृशिमानमेति मदनायासैर्वयं दुर्बलाः
सा पत्युर्विरहेण रोदिति वयं तस्याः कृते साश्रवः ।
सा दुःखेऽस्ति धनैर्विना वयममी तत्सङ्गमे दुःखिता,
सीतास्मासु तथाप्यहो न दयते तुल्यास्ववस्थास्वपि ॥

जैसे मायालक्षण नामक अङ्क में :—

रावण—वह रोते हुए [क्रुद्रन के कारण] दुबली होती जा रही है और हम कामासक्ति के कारण कमजोर हो रहे हैं। वह अपने स्वामी को पाने के लिए रो रही है और हम उसे पाने को आँसू बहा रहे हैं। वह स्वामी के बिना दुःखी हो रही है और हम उसका मिलन न पाकर दुःखी हैं। इस प्रकार समान दुःख रहने पर भी सीता हम पर क्यों नहीं पसीजती।

गुणकीर्तनम्—

लोकेगुणातिरिक्तानामर्थानां यत्र कीर्तनम् ।
अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं तदिष्टं गुणकीर्तनम् ॥ १८४ ॥

(ना शा० १७।३७)

गुणकीर्तन—जब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति या उद्देश्यसिद्धि के लिए संसार के गुणशाली पदार्थों का बखान किया जाए तो उसे 'गुणकीर्तन' समझना चाहिए।

अथायोध्याभरते—'भग्नं येन धनु' रित्यादि ।

जैसे अयोध्या-भरत नामक अङ्कमें :—जिसने धनुष तोड़ा तथा··· इत्यादि।

अनुक्तसिद्धिः—

प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।
वचनेन विनाऽनुक्तसिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥ १८५ ॥

(ना० शा० १७।४०)

यथा गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥ इति ।

अत्र पुन्नाम्नोर्नक्षत्रयोः ऋतुकालान्तरनिषेकप्रदाने पुमानपत्यं स्यादित्यागमार्थोऽकथितोऽपि सिद्धयतीत्यनुक्तसिद्धिः ।

अनुक्तसिद्धि—बिना कहे जहाँ [थोड़े से] आरम्भ करने मात्र से शेष बात का ज्ञान हो जाए तो उसे 'अनुक्तसिद्धि' समझना चाहिए ।

जैसे—गृहवृक्ष[1] वाटिका [नामक अङ्क] में—

प्रातःकाल [उष काल के समय तथा सूर्योदय के पूर्व] ये जो चन्द्रमा के पास दो नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं इन्हें तिष्य और पुनर्वसु कहते हैं ।

यहाँ 'पुरुषवाचक नक्षत्रों में ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाधान करने पर लड़का उत्पन्न होता है' इस शास्त्रीय तथ्य को बिना कहे सूचित किया गया अतः यह 'अनुक्तसिद्धि' का उदाहरण है ।

प्रियोक्तिः—

यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु प्रियोक्तिः साऽभिधीयते ॥ १८६ ॥
(ना० शा० १७।४१)

प्रियोक्ति—प्रसन्न चित्त से पूज्यजन का सम्मान करते हुए तथा बिना ऊपरी प्रसन्नता बतलाते हुए जब कहा जाए तो उसे 'प्रियोक्ति' समझना चाहिए ।

यथा नागानन्दे गौरी—

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ।
परितुष्टास्मि ते वत्स जीव जीमूतवाहन ॥ (नागा० ५।३४)

जैसे नागानन्द में—गौरी—तुमने अपना जीवन देकर भी संसार का उपकार किया अतः हे वत्स जीमूतवाहन, तुम जी उठो । मैं तुम से प्रसन्न हूँ ।

---

1. गृहवृक्षवाटिका = पुष्पदूषितक के द्वितीय अङ्क का नाम ।

यथा वा—

दधत्यानन्दकं देहं नितम्बञ्च सुदर्शनम्

कम्बुकण्ठि त्वया नूनमजितोऽपि जितो भवेत् ॥ इति ।

तथा—जिसकी गर्दन शङ्ख के समान है, जिसका शरीर आनन्दप्रद है तथा जिसके नितम्ब गोल एवं सुन्दर हैं उससे क्या नहीं जीता जा सकता है ?

अथवा जिसकी गर्दन शङ्ख, जिसका शरीर श्रीविष्णु की नन्दक नामक तलवार और जिसका नितम्ब सुदर्शन चक्र हो तो फिर निश्चय ही भगवान् विष्णु पर भी उसे विजय प्राप्त करने में कौन कठिनाई रहेगी ?

लक्षणान्यप्यलङ्काराः कार्त्स्न्येनैकत्र दुर्लभाः ।

एतेषामप्यसाकल्यं शोभां सृजति नाटके ॥ १८७ ॥

सभी लक्षण और (नाट्य के) अलंकार एक साथ एक रचना में मिलना कठिन है पर इनके यथोचित अंश की नाटक में योजना करने से भी (उसकी) शोभा बढ जाती है।

अङ्गानि सालङ्कृति लक्षणादि
कार्याणि कार्याणि हि नाटकेषु ।
अतोऽन्यथावृत्तिषु पण्डितेषु
न दण्डमाकर्षति शास्त्रकारः ॥ १८८ ॥

नाटक में लक्षणों तथा अलङ्कारों की अङ्गरूप में स्थापना अवश्य करनी चाहिए। यदि इन लक्षणों के विपरीत भी कोई रचना करे तो शास्त्रकार उस पर दंडा नहीं उठा सकता है या उसे दण्ड प्रदान करता है। [क्योंकि केवल नियम बतलाना ही शास्त्र का उद्देश्य है]

अथालङ्काराः—

लक्षणान्यभिधायालङ्कारा कथ्यन्ते । यदुक्तं—'सालङ्कारं तु नाटकम्' इति । यद्यप्युपमादय एव काव्यस्य शोभाऽनुबन्धिनोऽलङ्काराः कथितास्तथाप्येते नाट्यालङ्कारा नाट्य-शोभां जनयन्तोऽलङ्कारा इति व्यपदिश्यन्ते । के पुनस्ते । तद्यथा—आशीः, आक्रन्द, अभिमान, कपटः, याञ्चा, प्रवर्तनम्, स्पृहा, क्षोभ, अर्थविशेषणम्, प्रोत्साहनम्, नीति, आख्यानम्, विसर्पः, उल्लेख, उत्तेजनम्,

निवेदनं, परीवाद, उपपत्ति, परिहार, उद्यमः, आश्रय, युक्तिः, अनुवृत्ति, साहाय्यम्, अक्षमा, प्रहर्ष, पश्चात्ताप, आशंसा, अहङ्कार, अध्यवसाय, उत्कीर्तनं, गर्व, गुणानुवादश्च। अलङ्काराण्येतानि नाटकस्य।

तद्यथा—

नाट्यालङ्कार—लक्षणों के निरूपण के पश्चात् हम नाट्यालंकार बतला रहे हैं। जैसा कि कहा भी है कि 'नाटकों में नाट्यालंकारों का सन्निवेश रखा जाना चाहिए'। यद्यपि काव्य के शोभाधायक उपमा आदि अलंकारों का अन्यत्र वर्णन मिलता है परन्तु ये नाट्य शोभा के सवर्द्धक होने से नाट्यालङ्कार कहलाते हैं। ये कितने तथा कैसे हैं इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हम पहिले इनके नाम और बाद में स्वरूप बतलाएँगे। इनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) आशी, (२) आक्रन्द, (३) अभिमान, (४) कपट, (५) याच्ञा, (६) प्रवर्तन, (७) स्पृहा, (८) क्षोभ, (९) अर्थविशेषण, (१०) प्रोत्साहन, (११) नीति, (१२) आख्यान, (१३) विसर्प, (१४) उल्लेख, (१५) उत्तेजन, (१६) निवेदन, (१७) परिवाद, (१८) उपपत्ति, (१९) परिहार, (२०) उद्यम, (२१) आश्रय, (२२) युक्ति, (२३) अनुवृत्ति, (२४) साहाय्य, (२५) अक्षमा, (२६) प्रहर्ष, (२७) पश्चात्ताप, (२८) आशंसा, (२९) अहङ्कार, (३०) अध्यवसाय, (३१) उत्कीर्तन, (३२) गर्व तथा (३३) गुणानुवाद। ये ३३ नाट्यालंकार कहलाते हैं। इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं :—

आशीः—इष्टावधारणमाशीः। यथा—सीते, श्रेयसा वर्धस्व।

आशीः—उद्दिष्ट वस्तु का निश्चयपूर्वक कथन *'आशीः'* कहलाता है। जैसे :—'हे सीते तुम्हारा कल्याण हो'।

आक्रन्दः—शोकसमुत्थमुक्तधैर्यमाम्रेडितमयमवनीपातपूर्वकमाक्रन्दनमाक्रन्दः। यथा—वत्स तिष्ठेति शक्रो रामः।

---

१. भोज ने अपने ग्रन्थ में लक्षणों की दो तालिकाएँ दी हैं तथा इनकी ६४ कुल संख्या बतलाई है जिनमें नाट्यालंकार भी विद्यमान हैं। शाकुन्तल की राघवभट्ट व्याख्या (नि० सा० संस्करण पृष्ठ ९) से विदित होता है कि मातृगुप्त ने जिन्हें नाट्यविभूषण कहा था वे ही बाद में नाट्यालङ्कार के रूप में प्रचलित हो गए होंगे। सागरनन्दी ने ३३ नाट्यालङ्कार स्वतन्त्र माने हैं जो विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में भी इसी क्रम से प्राप्त होते हैं।

आक्रन्द—शोक के कारण रोना और धैर्य-हीन होकर बार-बार गिर कर पृथ्वी पर लोटने लगना 'आक्रन्द' समझना चाहिए। जैसे शक्ति नामक श्रक में—

श्रीराम—वत्स लक्ष्मण, जरा ठहरो।

अभिमानः—आरब्धात्यागः अभिमानः। यथा (वेण्याम्) दुर्योधनः—'मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते' (वे० सं० ५।३) इति।

अभिमान—एक बार स्वीकार किये हुए कार्य को न छोड़ना 'अभिमान' कहलाता है। जैसे [वेणीसंहार ५।३ में] दुर्योधन—माँ, ये दीनवचन तुम्हारे योग्य नहीं हैं''इत्यादि।

कपटः—रावणस्य कुलपतिवेषेण रामवञ्चनाय सीतापहारः कपटः।

कपट—श्रीराम को धोखा देने के लिए रावण का कुलपति-वेश धर सीता को हर ले जाना 'कपट' कहलाता है।

याच्ञा—प्रसिद्धैव। यथा—सीता (रामं प्रति) अणुमणस्स मं अणुगच्छन्तीं। [अनुमन्यस्व मामनुगच्छन्तीम्।]

याच्ञा—अनुनय करना 'याच्ञा' होती है। जैसे—सीता [राम के प्रति] तो आप मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिए।

प्रवर्तनम्—संशयव्युदासे प्रवृत्तिः प्रवर्तनम्। यथा शाकुन्तले दुष्यन्तः—आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। इत्यादि

(शाकु० १।२४)

प्रवर्तन—सन्देह को दूर करने के लिये किया जानेवाला कार्य 'प्रवर्तन' कहलाता है। जैसे—[अभि० शाकु० में] दुष्यन्त—तुम जिसे देखकर अग्नि की शंका करते थे वह तो स्पर्श के योग्य मणि है।

स्पृहा—अभीष्टार्थे प्रवर्तनं स्पृहा। यथा श्मशाने माधवः—'तत्पश्ये-यमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्।' (माल० माध० ५।९) इत्यादि।

स्पृहा—इष्टवस्तु को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ना 'स्पृहा' समझना चाहिए। जैसे श्मशानांक में :—माधव—कामदेव के मंगल-सदन के समान उनके मुँह को क्या मैं फिर देख पाऊँगा?

क्षोभः—अनिष्टदर्शनात्तारतम्यं क्षोभः। यथा रत्नावल्याम् वत्सराजः—(सागरिकां प्रति) वयस्य उत्क्षिप्यतामयं पाशः। (रत्ना० अ० ३)

क्षोभ—किसी आपत्ति को उपस्थित देख मन में चंचलता या

घबड़ाहट पैदा हो जाना 'क्षोभ' समझना चाहिए। जैसे रत्नावली(२ अङ्क) में वत्सराज—(सागरिका को देखकर) मित्र, तुम इसके बन्धनों को तो छोड़ो।

अर्थविशेषणम्—अर्थस्य विरूपतया प्रतिपन्नस्य पुनः पुनः शिरःकम्पहुङ्कारैर्विशेषणमर्थविशेषणम्। यथा कैकयीभरते—हनुमान्—'कैकेयीजननी न यस्य स कथं विघ्नं समाधास्यति।' इति।

अर्थविशेषण—किसी विचार या भाव को उल्टे रूप में (विपरीत रूप में) लेकर उसके अनुरूप कार्य देखते ही मस्तक हिला कर हुंकार करते हुए अनुमोदन करना *'अर्थविशेषण'* समझना चाहिए। जैसे *कैकेयीभरत नामक अंक में :—हनुमान—जिसकी माता कैकेयी जैसी न हो वह विघ्नों का निवारण कैसे कर लेगा ?*

प्रोत्साहनम्—कुतश्चित्कारणान्निवर्तमानस्य प्रवर्तनं प्रोत्साहनम्। *यथा* (विक्रमोर्वशीये) पुरूरवसम्—

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः।
सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमश्रूपहतं करोमि॥

(विक्र० ४।६२) इति (उक्तवन्तं) सङ्गममणिं त्यजन्तं (पुरूरवसं) प्रति आकाशवचनम् 'गृह्यतां सङ्गमनीयोऽयं मणि'रिति।

प्रोत्साहन—किसी कारणवश अपने लक्ष्य से हट जानेवाले पुरुष को फिर अपने कार्य में लगा देना *'प्रोत्साहन'* कहलाता है। जैसे पुरुरवा के द्वारा सगममणि को यह कह कर छोड़ देना—

जिस मणि को मेरी प्रिया की मन्दार के पुष्पों से सुवासित वेणी (चोटी) में *गूथना उचित था जब आज वही दिखाई नहीं दे रही है* तो मैं इस मणि को अपने आंसुओं से मैला करते हुए क्यों उठाऊं!

और तब आकाशवाणी द्वारा 'इसे ले लो, यह संगमनीय मणि है' कहना प्रोत्साहन कहलाता है।

नयः—नीतिर्नयः। यथा (शाकुन्तले) दुष्यन्त —विनीतवेषेण प्रवेशनीयानि तपोवनानि नाम। (शाकु० अ० १)

नीति—यथायोग्य व्यवहार करना *'नीति'* कहलाता है। जैसे :—[अभिज्ञान शाकुन्तल अं० १ में] दुष्यन्त—तपोवन में नम्रतापूर्वक प्रवेश करना चाहिए।

आख्यानम्—आख्यानमितिहास तस्य कार्यार्थं कीर्तनम् । यथा कीचकभीमे—द्रौपदी—धण्णा सा सीदा जा सत्तुअण णिज्जिअ एक्केण भत्तुणा आसासिदा । मम उण पचमत्तुणो भविअ वि एसा केसहदआणं अवत्था । [धन्या सा सीता या शत्रुजनं निर्जित्य एकेन भर्त्रा आश्वासिता । मम पुन पञ्चभर्तुर्भूत्वापि एषा केशहतकानामवस्था ।]

आख्यान—किसी कार्य या उद्देश्य की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास का कथन 'आख्यान' कहलाता है। जैसे *कीचकभीम* (नामक अङ्क) में :—द्रौपदी—सीता ही धन्य है जिसे उसके स्वामी ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर आश्वस्त किया। यहाँ तो पाँच पति होने पर भी इन अभागे केशों की यही अवस्था हो रही है।

विसर्पः—रभसोक्तमनिष्टफलं स्यात् विसर्पः । यथा दशरथाङ्के—

कञ्चुकी—

सामान्येन वरं दत्तं किं विशेषे मति स्थिता ।
सर्वथा नृपतेरेव घोर. शापो विजृम्भते ॥

विसर्प—शीघ्रतावश अनिष्टकारी बात का स्पष्टत कथन 'विसर्प' कहलाता है। जैसे दशरथाङ्क मे :—

कञ्चुकी—जब वरको साधारण रूप मे दिया गया था तो उससे आज विशेष कार्य करने की कल्पना क्यों की जा रही है ? निश्चय ही राजा को दिया हुआ घोर शाप आज किसी प्रकार प्रकट हो रहा है।

उल्लेखः—

कर्तव्योपदर्शनमुल्लेखः । यथा उन्मत्तचन्द्रगुप्ते—'लोको लोचननन्दनस्य रतये चन्द्रोदये सोत्सुक' अत्र कृतकोन्मादं चन्द्रगुप्त परित्यज्य कर्तव्यमाह—'भवत्वनेन जयशब्देन राजकुलगमन साधयामि।' इति ।

उल्लेख—कर्तव्य को बतलाना 'उल्लेख' कहलाता है। जैसे उन्मत्तचन्द्रगुप्त[1] (नामक अक) मे—ससार आज अपने नेत्रों के आनन्द के लिए चन्द्रोदय की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है।

---

1. उन्मत्तचन्द्रगुप्त—विशाखदत्त प्रणीत 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के पञ्चमाङ्क का नाम ।

यहाँ चन्द्रगुप्त ने बनावटी पागलपन को छोडकर कर्तव्य का निर्देश करते हुए कहा—तो मैं इसी विजय के प्रसग को लेकर राजमहल में जाकर अपना कार्य सिद्ध करूँ।

उत्तेजनम्—स्वकार्यसिद्धये परस्मिञ्छत्रुवधायान्तरेण प्रेरणावाक्यं यत्तदुत्तेजनम्। यथा कीचकभीमे—

द्रौपदी—सो वि कीचओ मं पिअत्ति आलवदि तुमं पि पिअत्ति आलवसि। ता ण जाणे मंदभाइणी कस्स प्पिआ भविस्सं। [सोऽपि कीचको मां प्रियेत्यालपति त्वमपि प्रियेत्यालपसि। तन्न जाने मन्दभागिनी कस्य प्रिया भविष्यामि।]

उत्तेजन—अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए शत्रुनाश की अस्पष्ट शब्दों में प्रेरणा देना 'उत्तेजन' कहलाता है। जैसे कीचकभीम में :—

द्रौपदी—यह कीचक भी मुझे प्रिया कहकर बुलाता है और आप भी मुझे प्रिया कहते हैं। पर मैं बेचारी दुर्भाग्य के कारण किसकी प्रिया रहूँगी यह खुद नहीं जानती!

निवेदनम्—कर्तव्यस्यावधारितस्य कथनं निवेदनम्। यथा राघवाभ्युदये सेत्वङ्के—

लक्ष्मण—आर्य, समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि। तत् किमेतत्?

निवेदन—निश्चित किये गए कार्य को करने के लिए कह देना 'निवेदन' कहलाता है। जैसे राघवाभ्युदय के सेतु नामक अक मे :—

लक्ष्मण—आर्य, आप इस समुद्र की प्रार्थना कर पार जाने के उत्सुक हो रहे। यह क्या बात है?

परीवादः—भर्त्सना परीवादः। यथा सुन्दराङ्के—दुर्योधन—धिक् सूत, किं कृतवानसि।

'वत्सस्य मे दुर्ललितस्य पाप' (वेणी स० ४।५) इत्यादि।

परीवाद—डांट डपट देना 'परीवाद' कहलाता है। जैसे 'सुन्दरांक' में :—दुर्योधन—धिक्कार है! अरे सारथी, तुमने यह क्या कर डाला। यह नीच मेरे द्वारा प्रेम से पाले हुए भाई के वध की चेष्टा कर रहा है, इत्यादि।

उपपत्तिः—धृतस्यास्त्रस्य निष्फलत्वाद् त्याग उपपत्तिः। यथाश्वत्थामाङ्के—कर्ण —अश्वत्थामा मया पृथ्वीराज्येऽभिषेक्तव्यस्तस्य

चाभावाद् वृथाशस्त्रग्रहणमिति शस्त्रपरित्यागं कृतवानाचार्यः। इत्यादिकम्। (वे० सं० ३)

उपपत्ति—धारण किये हुए शस्त्र-अस्त्र आदि को व्यर्थ मानकर छोड़ देना '*उपपत्ति*'[1] कहलाता है। जैसे *अश्वत्थामाङ्क* में :—

वर्ण—आचार्य की भावना यह थी कि मैं अश्वत्थामा को सम्पूर्ण भूमण्डल का स्वामी बना कर उसका राज्याभिषेक करूँगा परन्तु वैसा न बनने के कारण अपना शस्त्रग्रहण बेकार मानकर ही उनने शस्त्रों का त्याग कर डाला। इत्यादि।

परिहारः—उक्तस्य परिहरणं परिहारः। यथा तत्रैव—

अश्वत्थामा—दुःखितोऽहं ब्रवीमि न पुनर्वीरजनाधिक्षेपेण। इति। (वे० सं० ३)

परिहार—एकबार अपने द्वारा कहे गए शब्दों को अन्यथा कर देना "*परिहार*'[2] कहलाता है। जैसे इसी अङ्क में :—अश्वत्थामा—मैंने दुःख के कारण यह सब कहा। मैं किन्हीं वीरों पर आक्षेप करने के लिये यह नहीं कह रहा हूँ।

उद्यमः—दुष्करोऽध्यवसाय उद्यमः। यथा कुम्भे—रावण.— 'पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत्' इत्यादि।

उद्यम—किसी कठिन कार्य को करने के लिए प्रस्ताव करना '*उद्यम*' कहलाता है। जैसे *कुम्भअंक* मे :—रावण—अब शोक से अभिभूत होने के कारण मैं मृत्यु को ही देख लूँ!

आश्रयः—*गुणवद्ग्रहणमाश्रयः। यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के*—विभीषण —राममेवाश्रयिष्यामीति।

आश्रय—किसी शक्ति या गुणशाली पुरुष का सहारा प्राप्त करना '*आश्रय*' कहलाता है। जैसे *विभीषण निर्भत्सन* नामक अङ्क में :—विभीषण—अब तो मैं श्रीराम का ही आश्रय पाऊँगा।

---

१ उपपत्ति का यहाँ लक्षण नहीं दिया गया प्रतीत होता है किन्तु उदाहरण पर लक्षण-समन्वय जैसा अवश्य प्रतीत होता है। अन्यत्र उपपत्ति का लक्षण है-'उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये—अर्थात् अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कारण को प्रस्तुत करना 'उपपत्ति' कहलाती है। [सा० द० षष्ट परि० पृ० ३४२ लाहौर संस्करण]

२. परिहार का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही अधिक स्पष्ट नहीं दिये गये हैं।

युक्तिः—असूयया भाव्यस्यार्थस्य घटनावचनं युक्तिः । यथा भानुमत्यङ्के दुर्योधन—*अतएवास्याः प्रातरेव विविक्ताश्रयणमित्या-* द्युक्ति । (वे० सं० अ० २)

युक्ति—किसी घटना को जलन के कारण घटित रूप में बतला देना *'युक्ति'* कहलाता है । जैसे *भानुमत्यंक में :—*

दुर्योधन—इसी लिए यह प्रातःकाल एकान्त मे बैठी है । इत्यादि कथन ।

अनुवृत्तिः—आक्षेपेण चलितस्यानुगमनमनुवृत्तिः । यथा—सहदेवेनानुगम्यमानो भीम इत एवाभिवर्तते इति । (वे० सं० अ० १)

अनुवृत्ति—रूठकर या कुपित होकर जानेवाले पुरुष का अनुसरण करना *'अनुवृत्ति'* समझना चाहिए । जैसे *वेणीसंहार में*—सहदेव के साथ भीमसेन इधर ही आ रहे हैं इत्यादि (कथन अनुवृत्ति है) ।

साहाय्यम्—सङ्कटेऽनुगुणभाव साहाय्यम् । यथा कुलपतिवेष-धरस्य रावणस्य चित्रमायस्य राक्षसस्य मित्रवसुतापसरूपापत्ति । [१]

साहाय्य—सकट के समय सहायता करना *'साहाय्य'* कहलाता है । जैसे कुलपति का वेष धर रावण के सीताहरण के लिए चलने पर *चित्रमाय राक्षस का मित्रवसु नामक तपस्वी का रूप धारण कर लेना*[१] ।

अक्षमा—परस्य दर्पासहिष्णुताऽक्षमा । यथाश्वत्थामाङ्के–'कर्ण—द्रोणात्मज किमत्र क्रियते' इत्यादिकलहे अश्वत्थाम्न कर्णोत्तमाङ्गे पादप्रहारारम्भ ।

अक्षमा—दूसरे के तेज या घमड को सहन न करना *'अक्षमा'* समझना चाहिए । जैसे *अश्वत्थामाङ्क मे —*

कर्ण—द्रोणपुत्र, अब क्या किया जा सकता है । कह कर जब अश्वत्थामा से झगड़ा करता है तब अश्वत्थामा द्वारा कर्ण के सर पर लात मारने को उद्यत हो जाना ।

प्रहर्षः—मूढस्योद्बोधलब्धो हर्षः प्रहर्षः । यथा–

लक्ष्मण —अये उच्छ्वसितमार्येण इत्यादि ।

प्रहर्ष—मूर्च्छा के पश्चात् चेतनता प्राप्त कर लेनेपर होनेवाला

---

१. *यह कथा मायुराज के उदात्तराघव नाटक के द्वितीयाङ्क (कुलपत्यङ्क)* की है ।

आनन्द 'प्रहर्ष' कहलाता है। जैसे लक्ष्मण—अरे! पूज्य आर्य सांस लेने लगे।

पश्चात्तापः—मोहादवधीरितस्यार्थस्य पश्चात्परित्यागः पश्चात्तापः। यथानुतापाङ्के रामः—'किं देव्या न विचुम्बितोऽसि बहुशो मिथ्याप्रसुप्तस्य ते।' इत्यादि

पश्चात्ताप—पहिले अनजाने में ठुकरा दी जानेवाली वस्तु या व्यक्ति के विषय में बाद में पछताना 'पश्चात्ताप' समझना चाहिए। जैसे अनुतापाङ्क में :—

राम—क्या जब तुम बहाना बना कर सो जाते थे तब कई बार देवी ने पुत्रवत् तुम्हारा चुम्बन नहीं किया था। इत्यादि।

आशंसनम्—आशंसनमाशंसा। यथा मालतीमाधवे स्मशाने—माधवः—'तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्' (मा० माध० ५।९) इत्यादि।

आशंसा—किसी की आशा या अपेक्षा करना 'आशंसा' कहलाता है। जैसे स्मशानाङ्क में :—

माधव—तो कामदेव के मंगलसदन जैसे उस प्रिया के मुँह को मैं फिर कभी देख पाऊँगा!

अहङ्कारः—कार्ये क्षमत्वमहङ्कारः। यथा कीचकः—बाढं व्याहृता द्रौपदी प्रियेति।

अहङ्कार—किसी कार्य को ठीक से करने की पात्रता रखना 'अहङ्कार' कहलाता है। जैसे कीचकाङ्क में—

कीचक—हाँ, हाँ! मैंने ही द्रौपदी को प्रिया कहा है।

अध्यवसायः—अध्यवसायः स एव। यथा तत्रैव भीमः—'एतत् प्रियेति वचनं न ददामि तावत्।' इत्यादि।

अध्यवसाय—अध्यवसाय का उदाहरण भी इसी अंक में है—भीम—अच्छा अब इस प्रिया शब्द को मैं न बोलूँ इत्यादि।

उत्कीर्तनम्—कर्तव्यकार्योपक्षेप उत्कीर्तनम्। यथा प्रतिज्ञाभीमसहदेव—नेदमायुधागारम्। पाञ्चाल्याश्चतुःशालकमिदम्। भीमः—आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली। (वे० सं० १)

उत्कीर्तन—अपने उद्दिष्ट कार्य का संकेत या उसे आरम्भ करने का उद्योग करना *'उत्कीर्तन'* कहलाता है। जैसे *प्रतिज्ञाभीम* नामक अंक में—

सहदेव—आर्य, यह शस्त्रागार नहीं है। यह तो द्रौपदी का आराम भवन है।

भीम—हाँ हाँ, मुझे द्रौपदी से भी तो बात करना है।

गर्वः—वैशारद्यवचनं गर्वः। यथाऽश्वत्थामाङ्के अश्वत्थामा—'यो य शस्त्रं बिभर्ति' (वे० स० ३।३२) इत्यादि।

गर्व—अपनी चतुराई बतलाते हुए कथन करना *'गर्व'* समझना चाहिए। जैसे *अश्वत्थामाङ्क* में—अश्वत्थामा—पाण्डवों के सेना में जिसे अपनी भुजाओं पर गर्व हो या जो शस्त्र लिए हों। इत्यादि।

गुणानुवादः—दोषपरेण दर्पादवधीरितस्य व्याहारगुणस्य प्रतिपादनं गुणानुवादः। यथा रावणे विभीषणस्य वाक्यम्—

गुणानुवाद—दोष दृष्टि के कारण अहंकारवश उपेक्षित किये गए गुणों की फिर से स्थापना करना *'गुणानुवाद'* कहलाता है। जैसे रावण के प्रति विभीषण का निम्न कथन :—

भ्रष्ट• पदात् कृतजटाग्रहणस्तपस्वी रामो वनेऽस्ति भवता श्रुतमेतदेव।
नाकर्णितं हरधनुर्दलनं भृगोर्वा भङ्ग• कथं तव चरा न ययुर्विदेहान् ॥

आपने केवल यही सुना है कि राज्याभिषेक से हटाया गया जटाधारी तपस्वी राम वन में रहता है पर यह क्यों नहीं सुना कि उसी ने शिवजी के धनुष को तोड़ा था और परशुराम के गर्व को भग कर दिया था। क्या यह सब तुम्हारे गुप्तचर विदेह जाकर नहीं जान पाये थे?

रामस्य घातितवतो युधि ताडका तामारीचकेन शिशुता त्वयि युक्तमुक्ता।
तत्कोरकाण्डपतनव्रणगर्भमस्य दृष्टं त्वया न वदत कथमक्षि काणम् ॥

क्या मारीच ने आपको यह ठीक तरह से नहीं बतलाया कि युद्ध में जब राम ने ताडका का वध किया था तब वह बच्चा था। उस समय भी उनके तरकस से निकले हुए बाणों की चोट से अपनी आंख गँवा देने वाले मारीच के नेत्र में पड़े हुए गढे को आप क्यों नहीं देख रहे हैं?

चापस्य नन्दयसि दन्दुभिपूतिगन्धि कङ्कालचालनविधिं रघुनन्दनस्य ।
किं स्तौषि नातिविषमस्थितसप्ततालनिर्भेदलाघवमिषोर्महदेककस्य ॥

इत्याद्युदाहरणम् ।

तुम श्रीराम के धनुष की इसलिए प्रशंसा करते हो कि उसने दन्दुभि राक्षस के दुर्गन्धियुक्त कंकाल को उठा कर दूर फेंक दिया था, परन्तु उसी धनुष के द्वारा छोड़े गए एक ही बाण से हस्तलाघव के द्वारा टेढ़े मेढ़े स्थानों पर खड़े हुए सात ताल के वृक्षों को बींधने की प्रशंसा क्यों नहीं करते ? इत्यादि उदाहरण हैं।

एवमस्य नाटकस्य स्वकीयास्त्रयस्त्रिंशदलङ्काराः । अन्येषामङ्गान्येवालङ्कारत्वेनैतस्य कविभिः कार्याणि । तद्यथा—शिल्पकस्य उत्कण्ठादि-सप्तविंशत्यङ्गानि, भाणकस्य गेयपदादि दश । वीथिकाया उद्घात्यकादि त्रयोदश । भाणिकाया विन्यासादि सप्त । एवं सप्तपञ्चाशदप्यङ्गानि नाटकेऽलङ्कारत्वेन कार्याणि । उक्तान्येतानि च स्वस्थाने ।

इस प्रकार ये तैंतीस अलङ्कार नाटक के कहलाते हैं रूपकों के अंगभूत दूसरे अलंकारों को भी कवि गण इन अलकारों के अतिरिक्त या इन अलंकारों के साथ रख सकते हैं। जैसे :—शिल्पक के उत्कंठा आदि तेरह अगों को, भाण के गेयपद आदि दस अगों को, वीथी के उद्घात्यक आदि तेरह अगों को या भाणिका के विन्यास आदि सात अंगों को [रखा जाना चाहिए]। इस प्रकार कुल मिला कर सत्तावन अगों को नाटक में अलङ्कार के रूप मे रखा जा सकता है। शिल्पक आदि के अङ्गों के लक्षण यथावसर दिये जाएँगे।

अतएवोच्यते—

पञ्च पञ्च चतुःषष्टिश्चतुरष्टैकविंशतिः ।
षट्त्रिंशन्नवतिर्यत्र तदाहुर्नाटकं बुधाः ॥ १८९ ॥

इसीलिए कहा गया है कि—जिसमें पाच, पांच, चौंसठ चार, आठ, इक्कीस, छत्तीस तथा नब्बे अग हों उसे[1] ही 'नाटक' समझना चाहिए।

---

1. पाँच = अवस्थाएँ। पाच = अर्थ प्रकृति। चौंसठ = सन्ध्यङ्ग। चार = वृत्तियाँ। आठ—नायक गुण (तथा रस)। इक्कीस = सन्ध्यन्तर या

अथ रसा. कथ्यन्ते ।

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतमित्येवमष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १९० ॥

रसनिरूपण—अब हम रसों को बतलाएँगे। नाटक में आठ रस माने जाते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स तथा (८) अद्भुत।

चत्वार एव वा। यत.—शृङ्गारानुगुणो हास्य करुणो रौद्रकर्मज ।
अद्भुत कर्म वीरस्य बीभत्सस्य भयानक । इति ।

अथवा ये रस (मुख्यत) चार ही होते हैं। जैसा कि कहा भी है'—शृङ्गार का अनुगामी हास्य रस, रौद्ररस का फल या कार्य करुण रस, वीर रस का कार्य अद्भुतरस तथा बीभत्स का परिणाम भयानकरस हो जाता है। [अतएव मुख्य रस चार तथा उनके अनुगामी गौण रस भी चार होने से कुल आठ रस माने जाते हैं]।

विभावस्यानुभावस्य व्यभिचारिण एव च ।
संयोगादुन्मिषेद् भावः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥ १९१ ॥

जब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के पारस्परिक सयोग द्वारा स्थायी भाव विकास प्राप्त करे तो वही रस हो जाता है।

अथवा रसाश्च भावाश्चैतेऽन्योन्योपकारात् सहैभावेनैव प्रवर्तमाना. सिद्धिमधिरोहन्ति । यथा—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिरनयोः रसभावयोः ॥ १९२ ॥
(ना० शा० ६।३७)

अथवा रस और भाव परस्पर मिल कर एक दूसरे को पुष्ट करते हुए अपना निर्वाह करते हैं। जैसा कि कहा भी है'—

अन्तरसन्धियाँ। छत्तीस = लक्षण। तथा—नब्बे = नाट्यालङ्कार (३३), शिल्पकाङ्ग (२७), भाण के अंग (१०), वीथी के अग (१३) तथा नाटिका के अग (७) का सम्पूर्ण योग (यथा—३३ + २७ + १० + १३ + ७ = ९०)।

रस भाव से रहित तथा भाव रस से विहीन नहीं होता है तथा इन दोनों का निर्वाह परस्पर सहयोग के द्वारा ही होता है।

अन्नव्यञ्जनवत्। यथा भोक्तुरन्नं व्यञ्जनमुपकुरुते व्यञ्जनमन्नं ततो रसः स्यात्तथैव भावान् रसा रसाँश्च भावा उपकुर्युः। परस्परं सर्वदा सम्बद्धाः प्रेक्षकान् मनसि प्रमोदेनोपश्लिष्यन्तो रसा इति व्यदिश्यन्ते। अन्ये तु कार्यकारणत्वमनयोः सत्कार्यवादिदर्शनेनाङ्गीकुर्वन्ति। यत्र भावाः कार्यं रसाः कारणं द्वयमप्येततुल्यकालावस्थित्याऽन्योन्योपकारात् परस्परकृतां सिद्धिं साधयति।

उदाहरणार्थ यह पारस्परिक सहयोग पकाये हुए अन्न और व्यंजन [साग, चटनी] के जैसा समझना चाहिये। जैसे भोजन कर्त्ता को पकाया हुआ व्यञ्जन साग, चटनी आदि अन्न की और अन्न व्यञ्जन की आस्वादनीयता को परस्पर बढ़ाते हुए रसनीयता या उपभोग (को) सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार भाव रस को तथा रस भाव को पुष्ट करते हुए परस्पर सहयोग रखकर या सम्बद्ध होकर प्रेक्षकों के चित्त में आनन्द का संचार करवाते हुए रसत्व की स्थिति [भूमि] प्राप्त कर लेते हैं। अन्य विद्वान् सत्कार्यवाद[1] के सिद्धान्त के अनुसार रस और भाव का कार्य कारण भाव मानते हैं। इनके मतानुसार भाव कार्य तथा रस कारण है और ये दोनों एक समय में (तथा) एक साथ रहते हुए एक दूसरे का संवर्द्धन या पुष्टि करते हुए रसत्व की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। अब क्रमशः रसों का लक्षण बतलाते हैं।

तत्र शृङ्गारः—

उत्तमप्रकृतिप्रायः स स्त्रीपुरुषहेतुकः।
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधो मतः॥ १९३॥
स्थायीभावो रतिश्चास्य शुतं नेपथ्यमुज्ज्वलम्।
वापीवरगृहोद्यानगमनेष्टाङ्गनादयः॥ १९४॥

---

1. सत्कार्यवाद=सांख्यदर्शन सत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। इसकी आधारभूत कारिका निम्न है :—

असदकरणात् उपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ (सां० का०······)

एतस्य विभावाः रसोपादानहेतव इत्यर्थः। तस्य लोचनचातुर्य-भ्रूक्षेपप्रभृतयोऽभिनयाः अनुभावाः। अनुपश्चाद् भावयति प्रापयतीत्यर्थः। अस्मिन् व्यभिचारिणो भावाः व्याधिस्तम्भजडताप्रबोधोन्मादनिद्रानिर्वेद-ग्लानिचिन्तौत्सुक्यापस्मारशङ्काऽसूयाश्रमवैवर्ण्याश्रुप्रभृतयः। वृत्तिस्तु कैशिकी। करुणवद् विप्रलम्भः स्यादिति करुणे यावान् भावस्ता-वानित्यर्थः॥ १॥

शृङ्गाररस—उत्तम प्रकृति के पुरुष और स्त्रियों के पारस्परिक अनुराग के कारण 'शृङ्गार रस' उत्पन्न होता है। इसके दो प्रकार माने जाते हैं—संयोग [सम्भोग] शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार। इस रस का स्थायी भाव रति होता है और इसमें उज्ज्वल वेष भूषा रखी जाती है। इसके विभावों में वापी, भवन तथा उपवन में इष्ट ललनाओं के साथ विहार करना (आदि कार्य) होते हैं। ये रस के विभाव हैं अर्थात् रस के उपादान कारण हैं। इसके अनुभाव हैं—अवलोकन, चातुर्य, कटाक्षपात आदि का अभिनय करना। अनुभाव का अर्थ है जो अनु= अर्थात् बाद में भावयति=लाते या प्रस्तुत करते हों वे अनुभाव [कार्य] कहलाते हैं। इस रस के संचारी भावों में व्याधि, स्तम्भ, जडता, प्रबोध, उन्माद, निद्रा, निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, अपस्मार, शंका, असूया, श्रम, वैवर्ण्य तथा अश्रु आते हैं। इसमें कैशिकीवृत्ति होती है। 'विप्रलम्भ शृङ्गार करुण रस के समान होता है' इस नियम के अनुसार करुणरस में रहने वाले सभी सञ्चारीभावों को विप्रलम्भ शृङ्गार में भी रखा जा सकता है।

हास्यः—

सावहित्थैः मविकृतैर्नेपथ्यैर्व्यङ्गदर्शनैः।
असम्बद्धैस्तथालापैर्हासः स्यात् कुहकादिभिः॥१९५॥
स्वप्नालस्यावहित्थाः स्युस्तन्द्राद्या व्यभिचारिणः।
हासः स्थायी च भावोऽस्य षड्भेदा च प्रकीर्तिताः॥१९६॥

हास्य—अपने आकार को छिपाने, विकृत वाणी तथा वेष के प्रयोग, अङ्ग विकलता, असम्बद्ध वक्वास तथा कोग, गला आदि के गुदगुदाने (कुहक) से 'हास्य' रस उत्पन्न होता है। इस रस के संचारी भाव हैं:—स्वप्न, आलस्य, अवहित्था तथा तन्द्रा आदि।

इसका हास स्थायीभाव होता है जिसके [स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अतिहसित तथा अपहसित नामक] छः प्रकार होते हैं।

उत्तमस्य स्मितं विहसितम्। यथा—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः।
अलक्षदशनं धीरं स्मितमिच्छन्ति सूरयः ॥ १९७ ॥
(ना० शा० ६।५५)

उत्तम पुरुषों का गम्भीरता लिये हुए हँसना [मुसकुराना] 'स्मित' कहलाता है। जैसा कि कहा भी है :—

कुछ फूले हुए कपोल, सुन्दर कक्षों से युक्त अवलोकन तथा दांत न दिखलाई दें ऐसी मन्द और गंभीर मुसकान को 'स्मित' समझना चाहिए।

किञ्चिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितम्।

आकुञ्चितकपोलाक्षं सस्वनं निस्वनं तथा।
प्रस्तावोत्थं सानुरागमाहुर्विहसितं बुधाः ॥ १९८ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम्।
निकुञ्चिताङ्गशिरस्कं तच्चोपहसितं स्मृतम् ॥ १९९ ॥
(ना० शा० ६।५७–५८)

जिसमें दांतों का थोड़ा हिस्सा दिखलाई दे उसे 'हसित' समझना चाहिए।

जिसमें गाल और आंखें सिकुड़ जाएँ कभी मुँह से थोड़ी आवाज निकलती हो या कभी न निकले तो पारस्परिक संभाषण या स्नेह के अवसर पर होने वाले ऐसे हास को 'विहसित' समझना चाहिए।

जिसमें नाक के नथुने भर जाए, तिरछी दृष्टि से अवलोकन किया जाए और अंगों को सिकुड़ा कर सर को तिरछा करले तो ऐसे हास को 'उपहसित' समझना चाहिए।

अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चातिहसितं स्मृतम् ॥ २०० ॥
(ना० शा० ६।६०)

अनुचित या बेमौके ऐसे हँसना कि आँखों में आँसू आ जाए और

कन्धे और सिर हिलने लगे तो ऐसे हास को *'अतिहसित'* समझना चाहिए।

संरब्धसाश्रुनेत्रान्तं विक्रुष्टस्वरमुद्धतम्।
हस्तोपगूढपार्श्वं यच्चापहसितं विदुः ॥ २०१ ॥
(ना० शा० ६।५९)

आँखों के कोनों में आँसू आ जाएँ, जोरों को शब्द हों और दोनों हाथों से पसलियों को दबा कर हँसा जाए तो इस प्रकार का हास *'अपहसित'* समझना चाहिए।

करुणः—

इष्टनाशधनापायवधव्यसनताडनैः।
शापक्लेशोपघाताद्यैर्जायते करुणो रसः ॥ २०२ ॥
अश्रुनिश्वासवैवर्ण्यस्रस्ताङ्गत्वस्मृतिक्षयैः।
परिदेवितशोषाद्यैरभिनेयः स सूरिभिः ॥ २०३ ॥
स्वरभेदाश्रुनिर्वेदविषादावेगमृत्यवः।
मोहापस्मारजडता चिन्तौत्सुक्यश्च वेपथुः ॥ २०४ ॥
दैन्यं वैवर्ण्यमालस्यं व्याधिर्ग्लानिस्तथा श्रमः।
स्तम्भाद्याश्च चरा भावा स्थायी शोकोऽस्य च स्मृतः ॥२०५॥

करुण—प्रियजन के मरण, वैभव के अवसान, प्रियजन के वध, विपत्ति, ताडन, शाप, क्लेश, अग्नि आदि से जल जाना (उपघात) आदि विभावों के द्वारा *'करुणरस'* उत्पन्न होता है। इसका अभिनय आँसू गिराने, मुँह उतर जाने (वैवर्ण्य), अंगों में शिथिलता आ जाने, स्मृति के नाश हो जाने, रोने और मुँह के सूख जाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इस रस के सात्त्विक तथा सचारी भाव हैं—स्वरभङ्ग, अश्रु, निर्वेद, विषाद, आवेग, मृत्यु, मोह, अपस्मार, जडता, चिन्ता, औत्सुक्य, वेपथु, दैन्य, वैवर्ण्य, आलस्य, व्याधि, ग्लानि, श्रम तथा स्तम्भ (आदि)। करुणरस का स्थायी भाव 'शोक' होता है।

रौद्रः—

शस्त्रनागङ्गचेष्टाभिरुग्रकर्मक्रियात्मकः।
समुद्धतनरप्रायो रौद्रः सङ्ग्रामहेतुकः ॥ २०६ ॥

सर्वाधिक्षेपमात्सर्यैरधिक्षेपैश्चधर्षणैः ।
उपघातानृतालापवाक्पारुष्यादिभिर्भवेत् ॥ २०७ ॥
तस्य दन्तोष्ठसन्दंशभुजास्फोटनपाटनैः ।
शस्त्रघातशिरोबाहुकबन्धस्कन्धवर्तनैः ॥ २०८ ॥
ताडनैः पीडनैश्छेदैर्भेदैः शोणितकर्षणैः ।
भ्रुकुटीहस्तनिष्पेषैः कार्याभिनयनक्रिया ॥ २०९ ॥
उग्रतामर्षरोमाञ्चवेपथुस्वेदचापलाः ।
मोहावेगादयश्चात्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।
क्रोधः स्थायी च भावोऽस्य दृष्टिश्चालोहिता भवेत् ॥२१०॥

रौद्र—जिसमे मूलतः युद्ध कारण हो और उद्धत प्रकृति के व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले शस्त्र क्षेप, कठोर शब्द और अंगों की उद्धत चेष्टाओं से निर्दय या भयंकर कार्य किये जाएँ तो 'रौद्ररस' उत्पन्न हो जाता है। इसकी उत्पत्ति सभी व्यक्तियों को तिरस्कृत करने, द्वेष करने तथा उनसे लड़ने, उन पर चोट करने, झूठ बात कहने, मारने की धमकी देने आदि कार्यों से होती है। इसका अभिनय अपने ही दाँतों से ओठों को काटने, भुजाओं को ठोंकने, चीर फाड़ करने, शस्त्र प्रहार करने, मस्तक, भुजा, कबन्ध और कन्धों को हिलाने, मारने, पीटने, काटने, टुकड़े कर डालने, खून निकालने, भौंहें चढ़ालेने, हाथ मलने आदि अनुभावों [क्रियाओं] के द्वारा किया जाता है। इसमें होने वाले संचारी भाव हैं—उग्रता, अमर्ष, रोमाञ्च, वेपथु, स्वेद, चपलता, मोह तथा आवेग। क्रोध इसका स्थायीभाव होता है तथा इसके आश्रित की आँखें लाल रहती हैं।

वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीरः उत्साहस्थायिभावजः ।
विभावास्तस्य विनयप्रतापबलविक्रमाः ॥ २११ ॥
गुर्वाराधनसद्वृत्तिधर्मसम्पदशक्तिभिः ।
अभिनेयः स च त्यागवैशारद्यादिभिस्तथा ॥ २१२ ॥
आक्षेप शुचितात्यागशौर्यधैर्यादिभिर्भवेत् ।

स्मृतिर्गर्वोऽपि रोमाञ्चामर्षसंहर्षबुद्धयः ।
धृतिरित्यादयो ज्ञेया भावाश्च व्यभिचारिणः ॥ २१३ ॥

वीर—उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में स्थित उत्साह नामक स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाले रस को '*वीररस*' समझना चाहिए। इसके विभावों में—विनय, प्रताप, बल तथा शौर्य (विक्रम) रहते हैं। इस रस का *अभिनय पूज्य गुरुजन की सेवा शुश्रूषा या आज्ञावर्तिता, सच्चरित्रता*-पूर्ण जीवन, धर्म लाभ, शक्ति प्रदर्शन, त्याग, चातुर्य, आक्षेप करना, पवित्रता, निस्वार्थ भाव, शौर्य तथा धैर्य आदि के प्रदर्शन के द्वारा किया जाता है। वीर रस के सचारी भाव हैं—स्मृति, गर्व, रोमाञ्च, हर्ष, मति [बुद्धि] तथा धृति आदि।

भयानकः—

उच्चैर्भैरवसम्बाधरक्षः प्रेतादिदर्शनैः ।
शून्यागारमहारण्यवधबन्धनवीक्षणैः ॥ २१४ ॥
श्रासायासकृतोद्वेगशिवोलूकरुतादिभिः ।
विभावैर्जायते स्त्रीणां नीचानाञ्च भयानकः ॥ २१५ ॥
तं सर्वाङ्गाक्षिभेदाद्यैस्तालुकण्ठविशोषणैः ।
हृत्पाणिचरणोत्कम्पैरुरुस्तम्भैश्च दर्शयेत् ॥ २१६ ॥
वैवर्ण्यं दैन्यमालस्यं त्रासापस्मारमृत्यवः ।
वेपथुस्वेदरोमाञ्च स्वरभेदास्तथैव च ॥ २१७ ॥
तद्गतावेगशङ्काद्या भावा स्युर्व्यभिचारिणः ।
भयञ्च स्थायिभावोऽस्य सूरिभिः समुदाहृतः ॥ २१८ ॥

भयानक—स्त्रियों और भीरु प्रकृति के छोटे मनुष्यों में दैत्य, राक्षस या भूतप्रेतों की डरावनी आवाजों के सुनने, दैत्य भूत आदि के दिखाई पड़ने, सुनसान मकानों या वनों में जाने, अपने इष्ट पुरुष के वध या बन्धन को देख लेने, त्रास और श्रम (आयास) में होने वाली घबड़ाहट और स्यार या उल्लू की चीत्कारों को सुनने के कारण '*भयानकरस*' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय हाथ पैर आदि शरीर के सभी भागों को कपाने, आँखों को (इधर-उधर) घुमाने, कंठ और तालु

के सूखने, हाथ, पैर तथा दिल के धड़कने और पैरों के जकड़ जाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। भयानक रस के संचारी भाव हैं—वेपथु, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, आवेग तथा शंका। भयानकरस का *'भय'* स्थायी भाव माना जाता है।

यथा—

पूजा नान्यकृतां विधातुममिना मूर्ध्नो निजान् कृन्तति
काकुत्स्यपरो मयि त्रिनयनस्याग्रेऽधिजग्मुर्गणाः।
ते नन्दिप्रमुखाः प्रकम्पितवपुः स्वेदच्छटाम्भोधरा
शुष्कौष्ठा भयनिश्चयोत्प्लुतदृशः स्तम्भव्यवस्थानुहुः॥

उदाहरण :—

हे काकुत्स्थ वंश में उत्पन्न नामसमक राम, सुन। जब मैं भगवान शिवजी की आज तक न की गयी पूजा को करने की ठान कर तलवार से अपने ही मस्तकों को काटने लगा तो शिवजी के नन्दी आदि गणों के शरीर कांपने लगे, उनके शरीर पसीने से लथपथ होकर बादलों के समान दिखाई पड़ने लगे, ओंठ सूख गए, डर से उनकी निगाह ऊपर चारों ओर उठने लगी और वे वहीं खड़े होकर जड़वत् स्थित हो गए।

बीभत्सः—

जुगुप्सा स्थायिभावो यो बीभत्सोऽवीरसंश्रयः।
निकृतोत्पूतिमांसाददर्शनश्रुतकीर्तनैः ॥ २१९ ॥
दुर्गन्धप्रयतानिष्टैर्निमित्तैर्जायते हि सः।
तस्य सर्वाङ्गसङ्कोचष्ठीवनास्यनिकुञ्चनैः ॥ २२० ॥
नासाप्रच्छादनाव्यक्तपादपाताक्षिघूर्णनैः।
हृल्लेखोद्वेजनाद्यैश्च तज्ज्ञैरभिनयो मतः ॥ २२१ ॥
अपस्मारश्च मोहश्च मरणं व्याधिरेव च।
तथावेगादयश्चास्य भावास्युर्व्यभिचारिणः ॥ २२२ ॥

बीभत्स—जुगुप्सा स्थायी भाव वाला 'बीभत्सरस' भीरु स्वभाव के

मनुष्यों में रखा जाता है [अवहित्थ]। इसकी उत्पत्ति गन्दे और दुर्गन्धि से भरे मांस के खाने वाले किसी मृत देह को देखने, सूँघने, दुर्गन्धि या अपवित्रता से पूर्ण रहने वाले पदार्थ या पुरुषों के दिखाई देने, सुनने या उनके वर्णन करने आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय (अपने) सभी अंगों के सिकुड़ाने, थूकने, मुँह फेर लेने, नाक ढकने, आवेग में अनजाने ही पैरों के पटकने, आँखों के टेढ़ा करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसके संचारी भाव हैं—अपस्मार, मोह, भय, व्याधि तथा आवेग आदि।

अद्भुतः—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावप्रभव उच्यते।
प्रासादोद्यानशैलादिवनैर्दिव्यदर्शनैः ॥ २२३ ॥
सभाविमानमायेन्द्रजालशिल्पादिदर्शनैः।
इष्टप्राप्तिकलाभिश्च विभावैस्तस्य सम्भवः ॥ २२४ ॥
दन्तलोचनविस्तारस्पन्दनानिमिषादिभिः।
रोमाञ्चस्वेदहर्षोक्तिसाधुवादैश्च कम्पयेत् ॥ २२५ ॥
जृम्भाश्रुस्वेदरोमाञ्चगद्गदालापसम्भ्रमाः।
जडतामरणाद्याश्च भावास्त्वस्य व्यभिचारिणः ॥ २२६ ॥

अद्भुत—विस्मय नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होने वाले रस का नाम 'अद्भुत' रस है। इसकी उत्पत्ति किसी बड़े महल, विशाल उद्यान या पर्वत की सैर करने, दिव्य पुरुष, इन्द्रजाल आदि के दिखाई पड़ने, अद्भुत गुफाओं, आश्चर्यजनक कला, इन्द्रजाल, अद्भुत शिल्परचना के अवलोकन तथा अभीष्ट वस्तु के प्राप्त होने आदि विभावों के द्वारा होती है। इसका अभिनय दाँत के खोल देने, आँखों के फैलाने, आँखों को एकटक टिकाते हुए पलकहीन दृष्टि से देखने तथा रोमाञ्च, स्वेद और हर्षजन्य साधुवाद करते हुए साधुवाद देने आदि [अनुभावों] के द्वारा करना चाहिए। इसके संचारी भाव हैं—जम्भाई, आँसू, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद आलाप, सम्भ्रम, जड़ता तथा मरण आदि।

---

१ अवहित्थ = ... इति ... । (द्रष्टव्य—अभिनवभारती टीका सहित नाट्यशास्त्र T. S. S. Ed. Vol I. पृ. १२७)

बहुतरसमवाये एक एव रसः स्थायी । अन्ये तदुपकारागता व्यभिचारिणो भवन्ति । तत्र च—

यदि अनेक रसों का समुदाय हो तो उसमें एक रस ही मुख्य या स्थायी होता है तथा शेष रस उसके सहायक हो जाने के कारण सचारी रस कहलाते हैं। इनमें भी—

आक्षिप्य सव्याजमतिप्रसक्तं रसं रसज्ञः पुनराददीत ।
न चातिगाढं च न चातिमन्दं सन्दीपनं ह्यमिदं रसानाम् ॥२२७॥

किसी कारण वश रोके या बन्द किये गए रस को कलाकार या विद्वान् फिर से ला सकता है। ये रस न अधिक गहरे और न उथले रहने चाहिये। रसों को फिर उद्दीप्त या प्रस्तुत करने की यही उचित विधि है।

एषु च रसेषु शृङ्गारकारुण्यहासा मृदव' भारतीकैशिकीवैदर्भीरीतिभाज, । रौद्रबीभत्सभयानका' दीप्ता भारत्यारभटीविषयाः गौडरीतिभाज' । मध्यमौ वीराद्भुतौ भारतीसात्वतीविषयौ पाञ्चालरीतिभाजाविति ।

इन रसों मे शृङ्गार, करुण तथा हास्य मृदुरस कहलाते हैं तथा इन रसों मे भारती तथा कैशिकी वृत्ति को तथा वैदर्भी रीति को रखा जाता है। रौद्र, बीभत्स और भयानक दीप्तरस कह लाते हैं। इन रसों में भारती तथा आरभटी वृत्तियों और गौडी रीति को रखा जाता है। वीर तथा अद्भुतरसों को मध्यमरस कहा जाता है। इन रसों में भारती तथा सात्वती वृत्तियाँ और पाञ्चाली रीति को रखा जाता है।

अथ विभावा अनुभावाश्च भावा कथ्यन्ते ।

भाव आदि का निरूपण—अब हम भावों, विभावों और अनुभावों का वर्णन करते हैं—

वागङ्गसत्वभिनयैराहार्य्याभिनयैरपि ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥ २२८ ॥
(ना० शा० ७।२)

जो वाणी, अङ्ग, सत्व और आहार्य अभिनय के द्वारा कवि के आन्तरिक आशय को प्रकट करता हो उसे '*भाव*' समझना चाहिए।

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ २२९ ॥
(ना० शा० ७।७)

जो विचार या आशय हृदय को छूने वाले हों और जिससे रस उत्पन्न हो जाए उन्हें भाव समझना चाहिए। ये भाव सूखी लकड़ियों में आग के समान शीघ्र व्यापने वाले होते हैं।

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स भावः कथ्यते स्थायी शेषास्तु व्यभिचारिणः ॥ २३० ॥

अनेक सचारी भावों के इकट्ठे होने पर जिस भाव का स्वरूप विस्तृत या पुष्ट होता हो उसे स्थायी भाव तथा शेष (अप्रधान) भावों को व्यभिचारी भाव समझना चाहिए।

सत्वभेदाः भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः ।
भावयन्ति रसान् यस्मात्तस्माद् भावा प्रकीर्तिताः ॥ २३१ ॥

ये मानसिक भावों के प्रकार [सत्वभेदा] हैं जो सहज रूप में शरीर में विद्यमान रहते हैं। जब ये रसों का भावन या आस्वादन करवाने में सहायक होते हैं तो उन्हें 'भाव' कहा जाता है।

तत्र स्थायिन एते—

हासो रतिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २३२ ॥

इन भावों में निम्न स्थायीभाव हैं—(१) हास, (२) रति, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा तथा (८) विस्मय।

विभाव्यन्तेऽधिगम्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
एभिरर्था यतस्तस्माद् विभावाः समुदाहृताः ॥ २३३ ॥

वाचिक या आङ्गिक अभिनयों के द्वारा बतलाए जाने वाले सकेतों या भावों को जो ठीक तरह से अभिव्यक्ति करते हैं अतएव [विशेष रूप से अभिव्यक्त करवाने के कारण] ये 'विभाव' कहलाते हैं।

वागङ्गाभिनयैरेभिर्यस्मिन्नर्थोऽनुबद्ध्यते ।
सर्वाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ २३४ ॥
(ना० शा० ७।५)

वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थों को जो याद में संवेद्य बनाते हैं तथा जो अपने स्वरूप, अंग और उपाङ्गों से युक्त रहते हैं उन्हें 'अनुभाव' समझना चाहिए।

अन्यस्त्वाह—रसोपादानहेतुर्विभावः, रसाभिव्यञ्जकोऽनुभावः, रसप्रापयिता भावः, भावोपकारिणः चराः सात्त्विकाश्च भावा भवेयुरिति। चरा भावास्त्रयस्त्रिंशत् कथ्यन्ते। यथा—

कुछ आचार्यों का मत है कि विभाव रस के उपादान कारण होते हैं। रस को अभिव्यक्त करने का कार्य 'अनुभाव' [तथा] रसत्व की भूमि तक ले जाने [पहुँचाने] का कार्य भाव करते हैं और भाव की सहायता कर उन्हें गतिशील रखने वाले संचारी भाव और सात्त्विक [भाव] होते हैं।

निर्वेदग्लानिशङ्काश्च तथासूयामदश्रमाः।
आलस्यश्चैव दैन्यश्च चिन्ता मोहस्स्मृतिर्मतिः॥ २३५॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता धृतिः।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च॥ २३६॥
त्रासोऽमर्षः प्रबोधश्च अवहित्थं तथोग्रता।
वितर्को व्याधिरुन्मादो मरणं शौचमेव च॥
त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः॥ २३७॥

संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है। इनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) मति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) धृति, (१९) गर्व, (२०) विषाद, (२१) औत्सुक्य, (२२) निद्रा, (२३) अपस्मार, (२४) त्रास, (२५) अमर्ष, (२६) प्रबोध, (२७) अवहित्थ, (२८) उग्रता, (२९) वितर्क, (३०) व्याधि, (३१) उन्माद, (३२) मरण तथा (३३) शौच ये तैंतीस संचारी भाव हैं। अब हम इनके लक्षण बतलाते हैं।

तत्र निर्वेदः—व्याधिदारिद्र्यनिन्दाक्रोशादिभिर्विभावैर्जायते। स चाभिनेयः सम्प्रधारणनिश्वासध्यानादिभिरनुभावैः। तद्यथा—

निर्वेद—लम्बी बीमारी, निर्धनता, निन्दा तथा आक्रोश [अभियोग लगाना, दोषारोपण करना] आदि विभावों से *'निर्वेद'* उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सावधानी से विचार करना, लंबी उसासें लेना तथा ध्यानकरना आदि अनुभावों से करना चाहिए। जैसे निम्न उदाहरण में—

दृष्टा सीतेति जल्पन्तं हनुमन्तं रघूद्वहः ।
नाचंश्चिचे सनिश्वासमधिचिक्षेप कैकयीम् ॥

'मैं सीता को देख आया' कहने वाले श्री हनुमान् की बातों को सुनकर भी हृदय से अनुमोदन न करते हुए श्रीराम विचारों में डूब कर सिर्फ कैकेयी का ध्यान कर लंबी सांस लेने लगे।

इति निर्वेदः शोकमुपकुरुते । एवमन्येऽपि ।

(प्रस्तुत उदाहरण में) निर्वेद (भाव) शोक [करुण के स्थायी भाव] का सहायक भाव हो रहा है। दूसरे अन्य सचारी भाव भी इसी प्रकार स्थायी भावों की सहायता करते हुए उन्हें पुष्ट करते हैं।

ग्लानि — सन्तापव्याधिक्षुन्नियमादिभिः ग्लानिर्जायते । तस्यां तानववैवर्ण्यमन्दतादिरनुभावाः । तद्यथा—

ग्लानि—सताप, व्याधि, क्षुधा और परिमित आहार के नियम आदि विभावों से *'ग्लानि'* उत्पन्न होती है। इसमें दुबलापन हो जाना, मुँह उतर जाना, जड़ हो जाना या ढीलापन आ जाना अनुभाव रहते हैं। जैसे :—

उदश्वाति नवाम्भोधे सीतादुःखाग्नितापितः ।
जग्राह ग्लानिमिक्ष्वाकुः कृष्णपक्षेन्दुबिम्बवत् ॥

सीता की विरहाग्नि से सन्तप्त श्रीराम ने जब आकाश में काले बादलों को उठते देखा तो वे कृष्णपक्ष के चन्द्रबिम्ब के समान एकदम म्लान मुख हो गए।

शङ्का—शङ्का स्त्रीनीचविषया पापापराधाचरणैः जायते । तामभिनयेद्दिशावलोकरुकम्पादिभिः । शृङ्गारे एतामुत्तमोऽप्यवलम्बते इति केचित् । तद्यथा—राजा विदूषकमवदत्—

शङ्का—स्त्री और नीच जाति या नीच प्रकृति के मनुष्यों में 'शङ्का' देखी जाती है तथा इसकी उत्पत्ति पाप या अनुचित आचरण करने आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय चारों ओर देखने, कांपने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि शृङ्गाररस में उत्तम पात्र में भी शङ्का को रखा जा सकता है। जैसे राजा की विदूषक के प्रति निम्न उक्ति में [उत्तम पात्र तथा शृङ्गाररस होने से 'शङ्का' की योजना उचित रूप में रखी गयी है]—

शङ्के भानुमती क्रुद्धा मामनामन्त्र्य यद्गता।
इन्दुमत्या गुणालाप कृतो मौर्ख्यान्मया हि स ॥

जब मैंने अज्ञानवश इन्दुमती के गुणों का वर्णन किया था तभी बिना पूछे ही भानुमती रूठकर चली गयी ऐसी मुझे आशंका हो रही है।

असूया—परैश्वर्यापराधाद्यैरसूया। तां गुणापह्नुतिविद्वेष-निन्दादिभिर्निर्दिशेत्।

असूया—दूसरों के वैभव या सम्पत्ति को देख कर या किसी अपराध के करने आदि विभावों से 'असूया' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय दूसरों के गुणों को दबाने, द्वेष या निन्दा करने आदि अनुभावों से करना चाहिए।

मदः—मद. मद्यपानेन। तमुत्तम स्वापेन, मध्यमो गीतहासैरधमश्चाप्रियालापरोदनैः।

मद—मद्यपान से 'मद' उत्पन्न होता है। इसको उत्तमपात्र निद्रा लेते हुए, मध्यमपात्र गीत और हास्य के द्वारा और अधमपात्र गाली, बकवास और रुदन के द्वारा अभिनीत करे।

श्रमः—

श्रमोऽध्वनेयात्रा.। त स्वयगात्रमर्दनादिभिः। तद्यथा—

श्रम—लम्बी यात्रा या मेहनत करने से 'श्रम' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अपने शरीर को स्वयं दबाने आदि अनुभवों के द्वारा किया जाता है। जैसे—

कठोरगर्भपीडार्ता रथं सन्त्यज्य मैथिली।
सौमित्रिन्यस्तहस्ताऽव्जा ययौ गङ्गावगाहने ॥

पूर्ण गर्भ के कारण खिन्न सीता जी रथ को छोड श्री लक्ष्मण के हाथ का सहारा लेकर गंगा को पार करने के लिए आगे बढ़ी।

आलस्यम्—

आलस्यं स्त्रीनीचविषयं खेदव्याधिश्रमशोकादिभिर्जायते। तदाहारत्यागारब्धत्यागै।

आलस्य—स्त्री और नीच प्रकृति के मनुष्य में 'आलस्य' देखा जाता है। इसकी उत्पत्ति थकावट, बीमारी, परिश्रम करने और शोक करने आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय भोजन न करने और आरम्भ किये हुए कार्य को छोड देने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

दैन्यम्—

दैन्यं विरहदौर्गत्यपराभवमनस्तापै। तमचेष्टागात्रसंस्कारवर्जनै।

दैन्य—विरह, दुर्गति, अपमान तथा मानसिक संताप से 'दैन्य' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय निश्चेष्ट पड कर, शरीर की सफाई न रखने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे —

तद्यथा—

दुःशासनकराकृष्टकेशोन्मुक्तविभूषणा।
दुनोति भीममात्मानमपि कृष्णा दिने दिने॥

दुःशासन के हाथों से खींचे गये अपने केशों को न संवारती हुई द्रौपदी दिन रात भीम को और स्वयं को कोसते हुए दुःखी रहने लगी।

चिन्ता—

चिन्ता ऐश्वर्यप्रियजनापायै। तां ध्यानाधोमुखतानिःश्वाससन्तापै।

तद्यथा—

चिन्ता—अपनी सम्पत्ति की या किसी प्रिय जन की हानि जैसे विभावों से '*चिन्ता*' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय ध्यान धरने, मुँह झुका लेने, ऊँची सासें लेने और कुढ़न [सन्ताप] आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। जैसे —

अस्वर्णद्रोणगाङ्गेयसिन्धुराज रणाङ्गणम्।
दृष्ट्वा दुर्योधनश्चिन्तो निःश्वसन् दीर्घमाविशत्॥

दुर्योधन ने कर्ण, द्रोण, भीष्म और जयद्रथ से हीन युद्धभूमि देखकर ऊची सास ली और (फिर) किसी गहरी चिन्ता मे डूब गया ।

मोहः—

मोहः व्यसनावेगवैरानुस्मरणादिभि । तमध पातनिश्चैतन्यघूर्णनादिभि । तद्यथा—

मोह—आनेवाली विपत्ति, आवेग और शत्रु के स्मरण आदि विभावों से 'मोह' की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय नीचे गिर जाने, बेहोश हो जाने, चक्कर खा कर गिरने आदि अनुभावों से करना चाहिए। जैसे —

शक्त्या हत दशास्येन लक्ष्मण वीक्ष्य राघव ।
पपातावेगवान् भूमौ शालीवाशनिना हत ॥

रावण के द्वारा फेंकी गयी शक्ति की चोट खा कर गिरे हुए लक्ष्मण को देख कर श्रीराम वज्राहत वृक्ष के समान वेग से पृथ्वी पर गिर पडे।

स्मृतिः—

स्मृतिः स्वास्थ्येन । ता भ्रूक्षेपशिर कम्पादिभि ।

स्मृति—ठीक से या स्वस्थचित्त हो बैठने से 'स्मृति' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय आखों को इधर-उधर घुमाने और सर को हिलाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

मतिः—

मतिः शास्त्रावबोधेन । ता तत्त्वोपदेशेन ।

मति—शास्त्र-परिशीलन या तत्त्वज्ञान से 'मति' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय तत्त्वज्ञान या सत्य के उपदेश देने आदि अनुभावों से किया जाए।

व्रीडा—व्रीडा प्रतिज्ञाभङ्गपापाचरणगुर्वतिक्रमै । ता वैलक्ष्यनखनिस्तोद-भूलेखनादिभि । तद्यथा—

व्रीडा—अपनी प्रतिज्ञा के भग हो जाने, पापाचरण तथा पूज्यजन की आज्ञाओं को न मानने से *'व्रीडा'* उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सर झुका कर लजाने, नखों के कुरेदने या अँगुलियाँ दबाने तथा भूमि को कुरेदने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। जैसे:—

वत्स दग्धा न सीताग्नौ रक्षा · · · स्वम् ।
रज्जेहास्तिहि मद्भ्रातु क्षमस्वार्ये सुदुर्नयम् ॥

हे वत्स, सीता आग में नहीं जली और लज्ज··· यह कथन मेरे भाई के लिए लज्जा की बात है। इस दुर्व्यवहारमय अपराध को हे देवि तुम क्षमा कर दो।

चपलता—

चपलताऽमर्षप्रद्वेषेर्ष्यादिभिः। सा ताडनसम्भ्रमान्यतोगमनादिभिः।

चपलता—क्रोध, द्वेष और डाह के कारण 'चपलता' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय किसी को पीटने, घबराने दूसरी ओर चलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

हर्षः—

हर्षः मनोरथावाप्ति-तोषादिभिः। तं नेत्रवक्त्रप्रसादपुलकगद्गदालापैः।

हर्ष—अपनी कामनाओं के पूर्ण हो जाने तथा सन्तोष प्राप्त हो जाने के कारण '*हर्ष*' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय आँख और मुँह को खिलाते हुए, रोमाञ्च या रुक रुक कर अस्पष्ट संभाषण के द्वारा किया जाए।

आवेगः—

आवेगः वह्निमरुद्वृष्टिक्षोभगजादिसम्भ्रमानिष्टदर्शनश्रवणैः। तं सहसोत्थानशस्त्रादानदिशावलोकनैः। तद्यथा—

आवेग—आग लग जाने, तूफान उठने, बरसात के लगातार होने, विघ्न उत्पन्न हो जाने, हाथी के छूट कर भागने और किसी अनिष्टकारी वस्तु को देखने या उसके आने की खबर लग जाने आदि से '*आवेग*' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय एकदम उठ कर भागने, शस्त्र उठाने, चारों ओर देखने आदि अनुभावों से करना चाहिए। जैसे—

पितुर्वधे पतित्वाग्रे रक्षेत्युद्वाचि सारथौ।
अश्वत्थामासिमादाय दिक्षु दिक्षु दृशं ददौ ॥

पिता द्रोणाचार्य के वध हो जाने पर जब उनका सारथी बचाओ बचाओ करते हुए अश्वत्थामा के सामने गिर गया तो उसने जल्दी से अपनी तलवार खींच ली और चारों ओर (घबरा कर) देखने लगा।

जडता—

जडता इष्टानिष्टाप्त्याम् , तां तूष्णीम्भावेन ।

जडता—इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति के होने से 'जडता' उत्पन्न हो जाती है। इसका अभिनय बिना किसी चेष्टा को करते हुए चुपचाप हो जाने आदि अनुभाव के द्वारा किया जाता है।

धृतिः—

धृतिः सुखदुःखेषु समत्वेन, तामचापलत्वादिभिः ।

धृति—सुख और दुःख की दशा में समभाव रखना 'धृति' कहलाता है। इसका अभिनय स्थिर रहने, चपलता न करने आदि के द्वारा किया जाए।

गर्वः—

गर्वः यौवनैश्वर्यविद्यादिभिर्मध्यमानां, तमाधर्षणावज्ञानादिभिः ।

गर्व—यौवन, सम्पत्ति तथा विद्या आदि रहने के कारण मध्यमपात्रों में 'गर्व' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय दूसरे का अपमान करने, घृणा करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

विषादः—

विषादः विपद्योगकर्तव्यानिस्तरादिभिः, तं सहायान्वेषणशून्यता-भावनोद्वेगात्मनिन्दादिभिः । तद्यथा—

विषाद—किसी आपत्ति के आ जाने तथा अपना कर्तव्य ठीक से न करने आदि विभावों से 'विषाद' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सहायक ढूंढने, शून्यता का अनुभव करने, घबराने तथा स्वयं की निन्दा करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

गच्छन्त्यां निशि नायाति मारुतौ द्रोणभूभृतः ।

सौमित्रिजीवनानास्थो विषसाद रघूद्वहः ॥

द्रोणाचल पर्वत से औषध लेकर रात्रि में हनुमान के न लौटने पर श्रीराम लक्ष्मण के जीवन की आशा छोड़ कर खिन्न हो बैठ गए।

औत्सुक्यम्—

औत्सुक्यमिष्टवियोगस्मरणादिभिः, तं दीर्घनिश्वासनिद्राच्छेद-चिन्तादिभिः । तद्यथा—

औत्सुक्य—प्रियजन से दूर हो जाने या उनकी स्मृति आ जाने पर *'औत्सुक्य'* भाव उत्पन्न होता है। इसका अभिनय जोरों से सांस लेने, जाग उठने तथा चिन्ता करते हुए किया जाए। जैसे :—

सीताया विरहे रामो निद्रां भेजे न रात्रिषु।

लक्ष्मणास्यो रुद्धपुटस्खलद्बाष्पविलोचनः॥

सीता के विरह में श्रीराम को रात्रियों में नींद नहीं आती थी वे केवल लक्ष्मण की ओर निहारते हुए उसांसे लेते और आँखों से आँसू बहाते रहते थे।

निद्रा—

निद्रा दौर्बल्यालस्यविपच्चिन्ताभिः, तं मुखगौरवजृम्भास्वप्नायितैः।

निद्रा—दुर्बलता, आलस्य, आपत्ति की चिन्ता से *'निद्रा'* उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सर भारी हो जाने, जंभाई लेने और नींद में बकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

तद्यथा—

भीमो निद्रां गतो हन्मि कीचक त्वां क्षणादिति।

स्वप्नायितेन कृष्णाया पाणिरेवाग्रमक्षिपत्॥

'अभी भीमसेन सो रहे हैं। अरे कीचक, मैं तुझे मार डालूँगी' इस प्रकार नींद में बड़बड़ाने वाली द्रौपदी ने अपना हाथ आगे बढ़ाकर पृथ्वी पर पटक दिया।

अपस्मारः—

अपस्मारः परक्षोभसत्त्वदोषादिभिः, तं स्वेदस्तम्भश्वासकम्पैः।

अपस्मार—अतिशय विघ्नों के या किसी स्वयं के दोष से हो जाने के कारण *'अपस्मार'* उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय पसीना आ जाने, जड़वत् हो जाने, जमीन पर गिर जाने, जोरों से सांसें लेने तथा कांपने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

प्रबोधः—

प्रबोधः दुःस्वप्ननिद्राच्छेदवधादिभिः, तं चमत्कारशय्यापरित्यागेन।

प्रबोध—किसी अनिष्टकारी स्वप्न (दुःस्वप्न) के दिखाई देने, नींद टूट जाने या वध हो जाने आदि के कारण *'प्रबोध'* उत्पन्न होता

है। इसका अभिनय आश्चर्य प्रकट करने, अपना बिस्तर छोड़ने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अमर्षः—

अमर्षः विद्यैश्वर्यवतामाक्षेपेण, तं शिरःकम्पोत्साहस्वेदध्यानादिभिः।

अमर्ष—विद्याशाली तथा धनवान् पुरुषों को चुनौती देने से 'अमर्ष' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय मस्तक को हिलाने, उत्साह बढ़ाने, पसीने से (शरीर के) तर हो जाने, बार बार याद करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अवहित्थम्—

अवहित्थं—लज्जाभयादिभिः, तदात्मगुप्त्या। तद्यथा—

अवहित्थ—लज्जा और भय आदि के कारण 'अवहित्थ' उत्पन्न हो जाता है। इसे अपने आन्तरिकभाव को छिपाने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए। जैसे:—

धृतराष्ट्रे समायाति दुःशासनवधाकुले।
जुगोपात्मानमुत्सङ्गे रथस्यैव सुयोधनः॥

दुःशासन का वध सुन कर घबराये हुवे धृतराष्ट्र को आते देख कर दुर्योधन ने लज्जा के कारण स्वयं को अपने रथ के बीच ही छिपा लिया।

उग्रता—उग्रता वाक्पारुष्यापराधादैः, तां ताडनवधबन्धनभर्त्सनैः।

उग्रता—तीखे वचनों के बोलने तथा अपराध करने आदि के कारण 'उग्रता' उत्पन्न होती है। उसका अभिनय पीटने, हत्या करने, कैद करने तथा डांटने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

व्याधिः—

व्याधिर्धातुक्षोभेन शोकेन वा, तमङ्गविक्षेपादिभिः।

व्याधि—शरीर मे विद्यमान धातुओं में विकार आ जाने या शोक आदि के कारण 'व्याधि' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय हाथ-पैर आदि को पटकने आदि के द्वारा किया जाए।

उन्मादः—

उन्मादः इष्टवियोगादिभिः, तमचेतनमुधाभ्रमणैः। तद्यथा—

उन्माद—अपने इष्ट जन के वियोग आदि के कारण '*उन्माद*' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय बेहोश होने, व्यर्थ के चक्कर लगाने आदि अनुभावों से किया जाता है। जैसे :—

इय सा सेयमित्येव जल्पंस्तुल्येषु वस्तुषु।

उन्मत्त इव काकुत्स्थः सीता मृगाति कानने॥

वन में सीता की याद में श्रीराम उसी के समान किसी भी वस्तु को देख कर पागल के समान 'यही सीता है, यही यह है' चिल्ला उठते और पागल होकर उसे ढूँढ़ने लगते थे।

मरणम्—मरणं व्याध्यभिघाताभ्यां, तद्धिक्काश्वासप्रमीलास्कन्धभङ्गदाहफेनवान्तिभिः।

मरण—बीमारी या किसी सांघातिक चोट के लगने से '*मरण*' हो जाता है। इसका अभिनय हिचकी लेने, सांस लेने, शक्तिहीन हो जाने, कंधों के ढीला करने या टूट जाने, ज्वर से अधिक संताप अनुभव करने, मुँह में फेन आ जाने तथा उल्टी करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

त्रासः—

त्रासः भयात् पृथग् उद्वेगस्वरूपः सत्त्वाशनिरवादिभिः, तं कम्पस्तम्भसर्वाङ्गपिण्डनगद्गदोक्तिभिः।

त्रास—केवल घबराहट के कारण '*त्रास*' उत्पन्न होता है अतएव इसे '*भय*' नामक स्थायी-भाव से भिन्न समझना चाहिए। यह किसी खूंखार जंगली जानवर को देखने, बिजली के कड़कने आदि के कारण उत्पन्न होता है। इसका अभिनय काँपने, जड़वत् खड़े हो जाने, सारे अंगों को (कपाने या) सिकुड़ा लेने, मुंह से टूटे हुए शब्दों को निकालने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

वितर्कः—वितर्कः सन्देहेन, तं प्रश्नविचारभ्रूक्षेपशिरःकम्पैः।

वितर्क—सन्देह के कारण '*वितर्क*' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय प्रश्न करने, विचार करने, भौंहों को घुमाने, सिर को कपाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

प्रबोधः—

नींद टूट जानत्तमानां श्रुतिशब्दविवेकैः, तद्मदशमन्यादिभिः।

शौच—वेद तथा शास्त्रों के ज्ञान के कारण उत्तमपात्रों में 'शौच' की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय शम, दम, सत्य आदि को प्रदर्शित करते हुए किया जाता है। जैसे—

जनकः—

दान्तोऽहं गुरुणा हरेण विहिता राज्येऽपि लोके दया
नैवान्तःपुरयोषितामनुनयालापेऽपि सत्यं क्षतम्।
सम्प्राप्तोऽस्मि वने स्थितं प्रियसुहृद्वाल्मीकिपूर्वाश्रिते
सीताया न भवन्त्युदन्त इति मे हा धिङ् मनस्ताम्यति ॥

जनक—भगवान शंकर के समान गुरु से मैंने संयम की शिक्षा प्राप्त की, अपनी प्रजा और सम्पूर्ण भूमितल पर सदा दया-भाव रखा और रनवास की स्त्रियों के साथ परिहास में भी असत्य बात नहीं कही। आज मैं उस वन में आया हूँ जहाँ मेरे प्रिय मित्र वाल्मीकि ऋषि रहते हैं। (इतना होने पर भी) अपनी पुत्री सीता के किसी समाचार के न मिलने से मेरा मन सन्तप्त हो रहा है अतएव मुझे धिक्कार है।

इत्युक्ता व्यभिचारिणो भावा। सात्त्विका अष्टौ कथ्यन्ते।

सात्त्विक भाव—इस प्रकार संचारीभावों के लक्षण बतलाए गए। अब आठ सात्त्विकभावों के लक्षण बतलाए जा रहे हैं।

सत्त्वं नाम प्रकाशको गुण तेन निर्वृत्ताः सात्त्विकाः। ते च—

सत्त्व[1] का अर्थ है वह गुण जिसमें प्रकाश हो। इस गुण से युक्त रहने वाले भावों को 'सात्त्विक' भाव कहा जाता है।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३८ ॥

इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभेद, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु तथा (८) प्रलय।

---

१. सत्त्व—यहाँ सांख्यदर्शन के सत्त्व गुण के लक्षण का सागरनन्दी ने अनुसरण किया है। अभिनवगुप्तपाद ने सत्त्व की व्याख्या की है—'सत्त्वञ्च मनःसमाधानजम' (ना० शा० G. O. S Ed Vol III. पृ० १५०) अर्थात् मानसिक स्थिरता या किसी भावावेश में देर तक लीन रहना 'सत्त्व' है।

तत्र स्तम्भः—

स्तम्भः हर्षव्याधिमदत्रासरोषशोकादिभि. । स्तब्धनिश्चेष्टगात्रत्व-शून्यादिभिस्त निर्दिशेत् । तद्यथा—

स्तम्भ—हर्ष, रोग, मद, त्रास, रोष तथा शोक आदि के कारण *'स्तम्भ'* उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्तब्ध रहना, शरीर की निश्चेष्टता या शून्य हो जाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

विकासि कमलं दृष्ट्वा पम्पासरसि राघव ।
स्मरन् सीतामुखश्चासीदामृष्टमकलक्रिय. ॥

पम्पा सरोवर में खिले हुए कमलों को देख कर सीता के मुख का स्मरण करते हुए श्रीराम अपने सारे काम भूल कर वहीं खड़े हो गए।

यथा च हर्षे—

जयति विहितभूभृद्व्यायतैकातपत्र-
प्रतिधृतघनजालोच्चालवृष्टिर्मुरारि. ।
प्रतिभयसमलम्बद्धष्टगोपीसहस्र-
स्तनतटपरिरम्भानन्दजस्तम्भगात्रः ॥

हर्ष के द्वारा स्तम्भ का उदाहरण :—

उन भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो जो गोवर्द्धन पर्वत का छत्र ऊपर फैला कर मेघों की घनघोर वृष्टि से गोकुल की रक्षा कर रहे हैं और वर्षा के भय से त्रस्त सोलह हजार गोपियों के उरोज तटों के आलिंगन से प्राप्त आह्लाद के कारण जिनका शरीर निश्चेष्ट हो रहा है।

स्वेदः—

स्वेदो घर्मः, स च लज्जाश्रमक्रोधसम्बाधे । तं व्यजनादिकसम्मा-र्जनशीतेच्छाभि ।

स्वेद—शरीर से पसीना निकलना 'स्वेद' कहलाता है। यह लज्जा, (अधिक) परिश्रम, क्रोध या भीड़ भाड़ के कारण उत्पन्न होता है। इसका अभिनय पंखा झलने, सर पोंछने, शीतवात सेवन की अपेक्षा प्रकट करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

रोमाञ्चः—

'इष्टस्पर्शसहर्षाद्यैः क्रोधशीतभयैरपि ।

तं गात्राणां कण्टकैः'

रोमाञ्च—प्रियजन के स्पर्श हो जाने, प्रसन्नता आदि होने तथा क्रोध, शीत या भय के कारण (शरीर में) 'रोमाञ्च' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय शरीर पर रोंगटे खड़े होने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

स्वरभेदः—

स्वरभेदः भयक्रोधमदहर्षशोकैः, तं गद्गदालापेन ।

स्वरभेद—भय, क्रोध, मद, आनन्द तथा दुःख के कारण 'स्वरभेद' (स्वरभङ्ग) उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय गद्गदवाणी से सम्भाषण करने आदि के द्वारा किया जाए।

वेपथुः—

वेपथुः रोषत्रासजराप्रियाभिनवसङ्गमैः, तं हरणैरङ्गानाम् ।

तद्यथा—

वेपथु—क्रोध, त्रास, बुढ़ापा तथा प्रिय के प्रथम स्पर्श या मिलन के कारण 'वेपथु' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय शरीर के भागों को हिलाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

कण्टकैः पद्मनालैश्च किं बाले पुलकैर्वृता ।

कम्पसे कदलीबालमम्भोदानिलनोलिता ॥

हे बाले, तुम कमल नाल के कंटकों जैसे इन रोमाञ्चों से पूर्ण अपना शरीर रखते हुए मेघ के पवन से कंपित कदली लता के समान क्यों काँपने लगी हो।

वैवर्ण्यम्—

वैवर्ण्यं शीततापभयक्रोधशोकैः, तन्मुखच्छायाविपर्ययेण । तद्यथा—

वैवर्ण्य—शीत, संताप भय, क्रोध तथा शोक के कारण *'वैवर्ण्य'* उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय मुँह का रंग उड़ जाना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए। जैसे :—

अनसूयाकृतोऽप्यासीन्न हारी तिलकाङ्कुरः ।

सीताया विरहे भर्तुर्वैवर्ण्यकलुषे मुखे ॥

सीता के विरह के कारण शोभाहीन हो जाने वाले श्रीराम के ललाट पर अनसूया जी के द्वारा किया हुआ चन्दन-तिलक सुन्दर नहीं दिखाई देता था।

अश्रु—

अश्रु धूमाञ्जनामर्षहर्षानिमेषदर्शनशोकैः, तं लोचनयोर्मार्जनादिभिः ।

तद्यथा—

अश्रु—धुआँ लग जाने, काजल लगाने, क्रोध करने, पलक न गिरने, एक टक देखने तथा शोक के कारण आँखों में 'अश्रु' उत्पन्न हो जाते हैं। इसका अभिनय आँखों को पोंछने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए। जैसे :—

पाण्डुराक्षिपुटप्रान्ता पक्ष्माण्यश्रुबिन्दुभिः ।

जटिलान्यहरत् कृष्णा दुःशासनपराभवे ॥

दुःशासन के द्वारा अपमान किये जाने पर द्रौपदी के नेत्रों के पट आँसुओं से सफेद और बरौनियाँ मोटी बूँदों से जटिल दिखाई पड़ने लगीं।

हर्षे यथा—

आनन्दजन्य अश्रु का (निम्न) उदाहरण :—

विशल्योल्लसितप्राणमालिङ्ग्योरसि लक्ष्मणम् ।

रामो बाष्पतरत्तारचक्षुः प्रैक्षत मारुतिम् ॥

लगी हुई शक्ति को हृदय से खींच कर निकालने के पश्चात् आराम से साँस लेते हुए श्रीलक्ष्मण को आलिङ्गन करते हुए श्रीराम ने हनुमान् को अपनी गीली आँखों से निहारा।

प्रलयः—

प्रलयोऽभिघातादेः, तं महीपातेन ।

प्रलय—चोट आदि लग जाने के कारण 'प्रलय' (उत्पन्न) होता है। इसका अभिनय पृथ्वी पर गिरने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए

एकोनपञ्चाशदमी हि भावाः
स्थिराश्चराः सत्त्वसमुद्भवाश्च ।
योज्यास्तथा वस्तुषु लक्षणज्ञै-
र्यथा स्वरूपामुपयान्ति शोभाम् ॥ २६३ ॥

इन उनचास स्थायी, संचारी और सात्त्विकभावों की नाटकीय कथा वस्तु में औचित्यपूर्ण संयोजना की जाने पर ये अपने स्वरूप के अनुरूप शोभा को प्राप्त करते हैं।

स्थायिनामेव भावानामुपकाराय सर्वदा ।
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥ २४० ॥

एवमेव स्थायिनां रसानामुपकाराय ये रसा• प्रवर्तन्ते उपकृत्य च निवर्तन्ते ते व्यभिचारिणो मन्तव्या• ।

सात्त्विक और संचारी भावों को गतिशील रखना सदा स्थायीभाव की पुष्टि के लिये ही रखा जाता है अर्थात् जो भाव रस या स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए ही उत्पन्न होते हों तथा पुष्ट करने के पश्चात् समाप्त हो जाते या चले जाते हों उन्हें संचारीभाव समझना चाहिए।

अथ रूपकाणामारम्भकालः कथ्यते—

रूपकों के प्रयोग के समय—अब रूपकों [के आरम्भ करने आदि अनेक कार्यों] के लिए उपयुक्त समय का वर्णन करते हैं।

रूपकेष्वेव सर्वेषु कालो वाच्यः प्रवृत्तये ।
शरत् सङ्ग्रामविषये विवाहे ग्रीष्ममाधवौ ॥ २४१ ॥

रूपकों में रहने वाली घटना तथा कार्यों को समय के अनुरूप समय में रखा जाता है [ऐसा करने पर ये अधिक प्रभावशालिता और उपयुक्तता धारण कर लेते हैं। ऐसे समय इस प्रकार समझना चाहिए।]
संग्राम के लिये शरद् ऋतु तथा विवाह के लिये ग्रीष्म और वसन्त ऋतु उपयुक्त होती है।

प्रभातमपि कालस्य सामान्यात् कश्चिदिच्छति ।
एष क्षणः सहस्रांशोरुदयेन प्रशस्यते ॥ २४२ ॥

सामान्यतः सभी कार्यों के लिये प्रातःकाल को कुछ विद्वान् उपयुक्त मानते हैं क्योंकि यह समय सूर्योदय के कारण प्रशस्त माना जाता है।

देवार्चनोत्सवः स्वप्नो विहारः केलिकानने।
परावस्कन्दनत्राणं क्षणाः कन्यान्ववेक्षणे ॥ २४३ ॥

कन्या को देखने के उपयुक्त अवसर हैं—(उसका) किसी देवता का पूजन के लिये निकलना, उत्सव के बीच, स्वप्न में या उपवन में घूमना या किसी के द्वारा बलात् हरण या आक्रमण के समय उसकी रक्षा करने के अवसर पर।

अनुरागपयोराशिकल्लोलोल्लासहेतवः ।
अमी क्षणाः प्रशस्यन्ते यूनः कन्यान्ववेक्षणे ॥ २४४ ॥

किसी युवक को प्रथम बार कन्या के देखने और प्रणय-समुद्र के कल्लोलों को उल्लसित करने में कारणीभूत होने के लिये उपर्युक्त अवसर ही उपयुक्त तथा उत्तम माने गये हैं।

उत्तमाः संस्कृतं नित्यं दिव्या वेश्याः कुमारिकाः ।
पठेयुः कर्हिचित् सर्वाः शौरसेनीं निरन्तरम् ॥ २४५ ॥

भाषा-विधान—उत्तम तथा दिव्य पात्रों के सदा संस्कृत भाषा में संवाद रखे जाते हैं। वेश्या तथा कुमारिकाओं के भी कभी कभी संस्कृत भाषा में संवाद रखे जाँय तथा वेश्या, कुमारिका-आदि स्त्री-पात्रों के संवाद सामान्यतः शौरसेनी में सदा रहने चाहिए।

नृपोऽपि कार्यतः कोऽपि सेवकस्य वरायितः ।
शौरसेनीमथ प्राच्यामावन्तीं कर्हिचित् पठेत् ॥ २४६ ॥

यदि किसी परिस्थिति या कार्यवश राजा जैसे उत्तमपात्र को सेवक आदि की दशा में रहना पड़े तो उसके संवाद सौरसेनी, प्राच्या या अवन्ती प्राकृत में रखे जाँय।

एतमेव वणिक्श्रेष्ठिशालकाश्च विदूषकाः ।
शकारबहला पाठ्या शकारस्य प्रयोक्तृभिः ॥ २४७ ॥
चेटवामनरक्षांसि मागधीं तत्परेऽधमाः ।
पाठ्या वनौकसां भाषाऽऽभीरटक्कैः स्वदेशजा ॥ २४८ ॥

ये ही भाषाएँ वणिक्, श्रेष्ठी, बालक तथा विदूषक की रहनी चाहिए। शकार की भाषा में शकार वर्ण की बहुलता रखी जाए। चेट, वामन, राक्षस आदि अधम पात्रों के संवाद मागधी भाषा में रहने चाहिए। वन में रहने वाली जातियों की, आभीर तथा टक्क जाति के पात्रों के अपनी सहज देशी भाषा में संवाद रखे जाए।

सट्टके स्त्रीप्रधानत्वाद् रूपकस्यानुरोधतः ।
नृपः स्त्रीवत् पठेदेषः पाठस्य नियतो विधिः ॥ २४९ ॥

सट्टक में नाटिका के समान स्त्री पात्रों की बहुलता रहने तथा नाट्य शास्त्रीय लक्षण के अनुसार व्यवहार करने के कारण राजा (जैसे नायक तथा उत्तम पात्र) की भी स्त्री पात्र के समान प्राकृतभाषा ही रखी जाए। क्योंकि भाषा का यही विधान आचार्यों द्वारा मान्य है।

नाटकादिषु कीर्त्यन्ते संज्ञा नियमपूर्वकम् ॥
पूर्वरङ्गो भवेत्तेषामादौ देवार्चनाविधिः ।
तद्विधाता स विज्ञेयः सूत्रधारश्च सूत्रभृत् ॥ २५० ॥
अनुष्ठानं प्रयोगस्य सूत्रमाहुः सबीजकम् ।
तत्सहायस्तु विज्ञेयः पारिपार्श्वकसंज्ञकः ॥ २५१ ॥

नाटकीय पात्रों के नाम तथा कार्य—अब हम नाटकादि (में रहने वाले उपकारण, पात्र आदि) की पारिभाषिक संज्ञाओं का स्वरूप बतलाते हैं —

अङ्कों के आरंभ में सर्वप्रथम पूर्वरंग किया जाता है तथा पूर्वरंग के आरंभ में देवताओं का पूजन-अर्चन किया जाए। इस धार्मिक पूजन आदि का अनुष्ठाता पुरुष *'सूत्रधार'* कहलाता है; क्योंकि वह सारे नाटकीय 'सूत्र' को अपने हाथ में रखता है। बीज से युक्त नाट्य-प्रयोग को 'सूत्र' कहा जाता है। सूत्रधार का सहायक *'पारिपार्श्विक'* कहलाता है।

तस्मिन् रङ्गाद् बहिर्भूते संविधायार्चनाविधिम् ।
ततस्तद्वेषमापन्नः काव्यप्रस्थापको विशेत् ॥ २५२ ॥
स नटो भाव आख्यातस्तस्यार्येति कुटुम्बिनी ।
नाटकादिकमेतत्तु रूपकं समुदाहृतम् ॥ २५३ ॥
हरतालादिसामग्री मषी सैव तु वर्णिका ।
भूमिका स्थानमाख्यातं पात्राणां रङ्गचारिणाम् ॥ २५४ ॥

ये विशन्ति च काव्यार्थं निष्क्रामन्ति च रङ्गतः ।
ते सर्वे पात्रसंज्ञाभिर्व्यपदेश्याः प्रयोक्तृभिः ॥ २५५ ॥

जब यह सूत्रधार देवताओं की रंगमञ्च पर पूजन-विधि सम्पन्न करने के पश्चात् चला जाता है तब उसी के समान वेश धारी (स्थापक नामक) अन्य पात्र रंगमञ्च पर प्रवेश कर प्रस्तुत काव्य की स्थापना करता है। नट को भाव शब्द से तथा उसकी भार्या को आर्या या कुटुम्बिनी शब्द से परस्पर सम्बोधित किया जाता है। नाटक आदि दृश्य काव्य के भेद *'रूपक'* कहलाते हैं। हरताल, स्याही आदि [नेपथ्य रचना या रंग-सज्जा के उपकरण] रंग वर्णिका कहलाते हैं। रंगमञ्च पर अभिनयार्थ अवतरित होने वाले पात्रों का अपने स्थानों के अनुसार वेष धारण करना *'भूमिका'* कहलाता है। जो अभिनय करने के लिये रंगमञ्च पर अवतरित होते हैं तथा अपना कार्य पूर्ण हो जाने के पश्चात् रंगमञ्च से प्रस्थान कर जाते हैं वे सभी व्यक्ति *'पात्र'* कहलाते हैं

नाटकादि(दौ)विनिष्पत्ति(त्ते)फलयोगस्य भाजनम् ।
नायकः कथितः सद्भिस्तस्य भार्या च नायिका ॥ २५६ ॥

नाटक के फल का एक मात्र उपभोग करने वाला पात्र *'नायक'* कहलाता है तथा इसकी भार्या *'नायिका'* होती।

आख्यानमितिवृत्तं स्यादितिहासः स एव च ।
नाटकादिकथासूत्रप्रयोगाणां प्रपञ्चकः ॥ २५७ ॥

नाटक की कथावस्तु को 'इतिवृत्त' कहा जाता है यही इतिहास भी कहलाता है तथा नाटक के कथासूत्र तथा प्रयोग का यही विस्तार करता है।

आभिमुख्ये प्रविष्टाभिर्नटीभिर्यत् प्रगीयते ।
पुण्यार्थं नाटकार्थं वा तत् सङ्गीतकमिष्यते ॥ २५८ ॥

नाटक के आरम्भ में रंगमञ्च पर आकर किसी धार्मिक विधि की पूर्ति या नाटक के अंग के रूप में नटियों के द्वारा जो गायन किया जाता है उसे *'संगीतक'* समझना चाहिए।

वीणावेणुमृदङ्गश्च कांस्यं भाण्डमुदाहृतम् ।
भाण्डवाद्यैः कृतं त्वेभिरातोद्यं वाद्यमुच्यते ॥ २५९ ॥

लासकः नर्तकः प्रोक्तो नटः शैलूष एव च।
स्त्रीजीवी भरतसुतो रङ्गाचार्यो महानटः॥ २६०॥

अस्यैव कीर्त्यते भार्या लासिका नर्तकी नटी।
सैव रङ्गमुपारूढा वक्तव्या रङ्गनायिका॥ २६१॥

रङ्गस्तु नृत्य संस्थानं गोष्ठी परिषदुच्यते।
सामाजिकाः पारिषदाः सभ्याश्च प्रेक्षका मताः॥ २६२॥

रङ्गेषु पुष्पप्रकरः कृतः स्वस्त्ययनं भवेत्।
चन्द्रोदयो वितानन्तु पटी जवनिका स्मृता॥ २६३॥

अन्तर्यवनिकामाहुर्नेपथ्यस्थानवर्तिनीम्।
नृत्ये पादस्य विन्यासश्चारी सैवाभिधीयते॥ २६४॥

वीणा, बाँसुरी (वेणु) मृदंग, झाँझ (कांस्य) आदि को *'भाण्ड'* (वाद्यवृन्द) कहा जाता है। इन वाद्यों के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला संयुक्त वादन 'आतोद्य' (विधान) कहलाता है। नृत्य करने वाला पात्र 'नर्तक' तथा अभिनय करने वाला पात्र 'शैलूष' कहलाता है। जो स्त्रियों की भूमिका लेता हो उसे *'भरतसुत'* [अथवा जो अपनी जीविका अपनी भार्या के नृत्य से होने वाली आय से चलाता हो उसे *'भरतसुत'* कहते हैं]। ख्यातिप्राप्त और उत्तम अभिनेता को महानट या रंगाचार्य कहा जाता है। इस महानट या रंगाचार्य की भार्या को लासिका, नर्तकी या नटी कहते हैं। यह जब रंगमञ्च पर अवतरित होती है तो इसे *'रंगनायिका'* [*रंगमञ्च पर सर्वप्रथम अवतीर्ण होने* वाली नर्तकी] कहते हैं। जिस स्थान पर नाट्य प्रयोग खेला जाता है उस परिष्कृत वेदिका को *'रंगमंच'* कहते हैं। जहाँ सभी दर्शक बैठते हैं उस स्थान को 'परिषद्' तथा परिषद् में आसीन मनुष्यों को सामाजिक, पारिषद, सभ्य या प्रेक्षक कहा जाता है। रंगमंच की छत को 'चन्द्रोदय' तथा पर्दों को [कनात को] 'जवनिका' कहा जाता है। नेपथ्य-गृह (के द्वार) पर लगाया जाने वाला पर्दा 'अन्तर्जवनिका' कहलाता है। नृत्य आदि में पैरों को नियमित प्रकार से पृथ्वी पर रखते हुए चलना *'चारी'* कहलाता है।

सोमसूर्यान्वयभुवो नरेन्द्रा नायकाः स्मृताः ।
महाराजाश्च देवाश्च वाच्या भट्टारकाश्च ते ॥ २६६ ॥
तेषां भार्या महादेवी देवी च महिषी च सा ।
युवराजो भवेत् पुत्रः कुमारो भर्तृदारकः ॥
सुता सङ्कीर्त्यते तेषां कविभिर्भर्तृदारिका ।
अपत्यकृतिका या च कृत्रिमातनया भवेत् ॥ १६७ ॥
आवुकश्च पिता तात आवुत्तो भगिनीपतिः ।
अम्बा माताऽज्जुका श्वश्रूरत्तिका भगिनी स्मृता ॥ २६८ ॥

सम्बोधन—सूर्य या चन्द्र वंश में उत्पन्न होने वाले राजा को ... का नायक रखा जाता है। इन्हें महाराज, देव या भट्टारक शब्द से सम्बोधित किया जाता है। राजा की भार्या को महादेवी, देवी, महिषी शब्द से सम्बोधित किया जाता है। महाराजा के पुत्र को युवराज या भर्तृदारक शब्द से तथा राजकुमारी को भर्तृदारिका शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यदि राजकुमारी औरस पुत्री न होकर बेटी बनायी गयी हो तो *'अपत्यकृतिका'* कहलाती है। पिता को तात या आवुक शब्द से सम्बोधन दिया जाता है तथा बहिन के स्वामी (जीजा) को *'आवुत्त'* शब्द से सम्बोधित किया जाता है। माता को *'अम्बा'* शब्द से, सास को *'अज्जुका'* शब्द से तथा बड़ी बहिन को *'अत्तिका'* शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

ज्येष्ठो भ्राता भवेदार्यः आर्या तस्यैव वल्लभा ।
जातापत्यो च वत्सः स्यात् सचिवोऽमात्य एव च ॥ २६९ ॥
वयस्यकः चाटुपटुः स एव च विदूषकः ।
अन्तःपुरचरो राज्ञां नर्मामात्यः प्रकीर्तितः ॥ २७० ॥
वेश्यां प्रति सखा रा(भ्र)ज्ञो विट इत्यभिधीयते ।
तद्वृत्ताचार्यकं प्राप्तः पीठमर्दः प्रकीर्तितः ॥ २७१ ॥

बड़े भाई को *'आर्य'* शब्द से तथा भाभी को *'आर्या'* और (इनके तथा अपने) बच्चों को *'वत्स'* शब्द से सम्बोधित किया जाता है। (राजा के द्वारा) मन्त्री को *'अमात्य'* शब्द से, मित्र को *'वयस्य'* शब्द से सम्बोधित किया जाता है। विदूषक राजा को और राजा विदूषक को *'वयस्य'* शब्द से

लामकः त करते हैं, क्योंकि यह राजा का चाटुकार और रनिवास मे ...चित होता है। वेश्या के साथ किये जाने वाले व्यवहारों का ज्ञाता मान राजा का मित्र 'विट' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। ...ी को कला या शिल्प का शिक्षण देने वाला 'पीठमर्द' कहलाता है (7)।

कर्तव्या दत्तनामानः क्ष्मावतीनां प्रयोक्तृभिः।
सेनापतिः प्रतीहार दण्डपाशिक रक्षिणः ॥ २७२ ॥
तद्धितापत्यनिर्हितैः प्रत्ययैर्ब्राह्मणादयः।
राज्ञो विदूषकामात्यसूतकञ्चुकिनस्तथा ॥ २७३ ॥
लतापुष्पक्रियादेशनाच्याख्यो दासिकाजनः।
दासा अपि तथा कार्या मृगपक्ष्यादिकाह्वयाः।
यथा कुरङ्गकुम्भीरकलहंसोत्पलादयः ॥ २७४ ॥

पात्रों का नाम विधान—राजाधिकृत सेनापति, द्वारपाल, बधिक (दण्डपाशिक) तथा अग रक्षकों के नामों के अन्त मे 'दत्त' शब्द रखा जाए। राजा, विदूषक, अमात्य, बन्दीजन तथा ब्राह्मण आदि के नाम अपत्यार्थक प्रत्ययों के अनुसार रखे जाते हैं। दासियों के नाम किसी लता, पुष्प या उन्हीं के देश, व्यवसाय या कार्य के अनुरूप रखा जाए। दासों के नाम मृग या पक्षियों के नाम पर रखे जाए। जैसे :—कुरगक, कुम्भीरक, कलहसक, उत्पलक आदि।

उत्पादित-कथायोगे रूपके पृथिवीपतिः।
आर्यकः पालकश्चेति नाम्नोदार्यः सुदर्शनः ॥ २७५ ॥
अस्य भार्या शशिकला चन्द्रलेखेन्दुमत्यपि।
सुकुमारोचिताह्वाना विधातव्यवगाः प्रयोक्तृभिः ॥ २७६ ॥
सखीजनस्तथैवास्याः प्रियम्वदादिनामभिः।
वैभ्राजनन्दनादीनां नामभिः केलिकाननम् ॥ २७७ ॥

जिस रूपक मे उत्पाद्य कथावस्तु हो उसमे राजा का नाम आर्यक, पालक या सुदर्शन जेसा रखा जाता है। इस राजा की भार्या के नाम शशिकला, इन्दुमती जैसे सुकुमारता से पूर्ण अर्थ वाले रखे जाते हैं। रानी की परिचारिकाओं [तथा सखियों] के प्रियम्वदा आदि नाम रहते हैं। इनके विहार के लिए निर्मित उपवनों के वैभ्राज या नन्दन नाम रखे जाएँ।

फलजातिगुणाचारैः कपिचण्डालराक्षसाः ।
चौरा द्यूतकरा शिल्पि–नापिकारोहकादयः ॥ २७८ ॥
उग्रनाम्ना गृहीतव्या मुण्डव्रतनिषेविणः ।
अघोर–भैरवाचार्य–कपाल–शिखरादयः ॥ २७९ ॥
धार्मिकाः श्रीगुरुस्कन्ददासादिकसमाह्वयाः ।
नन्द्युत्तरपदा वाच्या क्षपणा भिक्षुकादयः ॥ २८० ॥
वस्वुत्तरपदा विप्रा आचार्या नाट्यदेशकाः ।
दत्तदासभवैः सर्वैरुत्तरस्थैर्वणिग्जनः ॥ २८१ ॥
सेना लेखा पताका च दत्तेरयुत्तरवर्तिनी ।
सर्वेण सन्नियोक्तव्यं वेश्यानां नाम पेशलम् ॥ २८२ ॥
रामिलकामिलाह्वाना नागराः परिकीर्तिताः ।

वानर, चाण्डाल या राक्षस पात्र के नामों में अन्त में फल, जाति, गुण या आचार का उल्लेख रहना चाहिए। चोर, बढ़ई, नाविक या सूत (रथचालक) पात्रों के नाम उग्रतापूर्ण रहने चाहिए। शैव मत के सन्यासी पात्रों के नाम अघोर, भैरवाचार्य, कपाल या शिखर आदि रखे जाते हैं। धार्मिक पात्रों के नाम श्रीगुरु, स्कन्ददास आदि रहने चाहिए। क्षपणक तथा भिक्षुओं के नामों में 'नन्दी' शब्द को अन्त में रखा जाए। ब्राह्मण या नाट्यकला के शिक्षक पात्रों के नामों में 'वसु' शब्द को अन्त में रखा जाना चाहिए। वैश्य पात्रों के नामों में 'दत्त' या 'दास' शब्द को अन्त में जोड़ा जाए। वेश्याओं के नामों के अन्त में सेना, पताका, लेखा आदि कोमलतापूर्ण तथा सुन्दर शब्दों को रखा जाए। तथा व्यवहार किया जाए। नगर के शिष्टजन के रामिल या कामिल जैसे नाम रहने चाहिए।

वारयोषिज्जनस्याख्या भृत्यैरुक्ता तथाज्जुका ।
सर्वेदयाभिधातव्या सैव (वासिनीति) नागरैः ॥ २८३ ॥
रह्वे सम्बोधनाकारे राजा सूते वदेत्सदा ।
आर्येति च स चाप्यास्मन्नायुष्मन्निति सम्मतः ॥ २८४ ॥
महादेवी परीवारसमाह्वाने समुत्सुका ।
हञ्जे चेटीं प्रति प्राह हलाह्वाश्च सखीं प्रति ॥ २८५ ॥

हण्डे नीचस्तु नीचेषु सौम्येति प्रियकारिणी ।
भद्रमारिष हंहो हे भो भद्रमुखकादयः ॥ २८६ ॥

अयि अङ्ग ननु प्रायो जाल्ममूढेति भर्त्सने ।
अपेहीत्यपमानेषु धिक्पापे प्रयाहि च ॥ २८७ ॥

त्रिस्पर्धायामरेऽरे च क्रोधोक्तौ स्मृतमाः पदम् ।
अथ किं स्वीक्रियालापे अये स्यादवधारणे ॥ २८८ ॥

शान्तं स्मृतमसम्भाव्यं साम्प्रतं युक्तमिष्यते ।
यत्सत्यमात्मसम्भाव्यं वीजमेवानुभूयते ॥ २८९ ॥

ही चित्रे स्मृतमां ज्ञाने हुँ क्रोधेष्वहहार्तिषु ।
हन्त हर्षेऽनुकम्पायामत्यर्थेऽति हि भोः पदम् ॥ २९० ॥

हापदं खेदवाची स्याद् हाधिक् हा कष्टमेव च ।
दिष्टयेत्यानन्दने दिष्ट्या वर्धतिरुत्सवे तथा ॥ २९१ ॥

पात्रों की सम्बोधनविधि–वेश्या मालकिन को सेवक *'अज्जुका'* शब्द से सम्बोधित करें। नागरकजन वेश्या को *'वासु'* शब्द से सम्बोधित करें। राजा अपने सारथि को *'आर्य'* शब्द से तथा सारथि राजा को *'आयुष्मन्'* शब्द से सम्बोधित करते हैं। महारानी अपनी दासियों को 'हञ्जे' और सखियों को 'हला' शब्द से सम्बोधित करें। नीच जाति की दासी को 'हण्डे' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। किन्हीं प्रिय या कृपापात्र मनुष्यों को 'सौम्य' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए तथा भद्र, मारिष, हंहो, हे, भो या भद्रमुख शब्दों द्वारा भी सम्बोधित किया जाए। सामान्यतः पात्रों को अयि, अङ्ग ननु आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। (किसी को) डाटने के अवसर पर जाल्म या मूढ़ शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अपमान करने के अवसर पर अपापेधिक् या प्रयाहि शब्द का (अनुचित कार्य करने वाले पुरुष के प्रति) सम्बोधन रखा जाता है। स्पर्धा के समय अरे या रे रे शब्दों से सम्बोधन किया जाए तथा क्रोधावेश में कथन के अवसर पर 'आः' शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी तथ्य या कथन को स्वीकार करने के अवसर पर 'अथ किम्' तथा बहुतों में से एक का निश्चय करने के अवसर पर

'अये' शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी अशोभन या अमंगलकारी घटना के अवसर पर 'शान्त' शब्द का तथा उपयुक्त कार्य के अवसर पर 'साम्प्रतम्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यदि किसी के द्वारा स्वयं किसी मूल बात का अनुभव किया जाता हो तो ऐसे अवसर पर 'यत् सत्यम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। किसी आश्चर्यकारी कार्य या घटना के घटित होने पर 'ही' या 'चित्र' शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी बात को समझने के अवसर पर 'आँ' शब्द का, क्रोध के अवसर पर 'हुँ' शब्द का और पीड़ा के समय 'अहह' शब्द का प्रयोग किया जाए। आनन्द के अवसर पर 'हन्त' शब्द का, अनुकम्पा के समय 'अपि, ही तथा भो' शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। कष्ट या खेद में हा, हा धिक् या हा कष्टम् शब्द का, आनन्द के समय दिष्ट्या शब्द का और शुभ या मंगल अवसर में 'दिष्ट्या वर्धते' शब्द का प्रयोग किया जाए।

> साधयामीति गत्यर्थे मृतौ न भवसीति च।
> निःपूर्वं पततिर्थेन वर्द्धयामि महीमिति ॥ २९२ ॥
> प्राकृते हा धिगित्यर्थे हद्धि वीप्सापदान्विता।
> अम्मोम्मेहे द्वयमिदं विस्मयद्योतनानिधौ ॥ २९३ ॥
> अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तौ अविदाविद भोः पदम्।
> शकारस्यैव भाषायां वाम्न बालाजने पदम् ॥ २९४ ॥
> अस्यैव खलु वाक्येषु पर्यायैर्वस्तुकीर्तनम्।
> यथाम्बुभिर्जलैस्तोयैः स्नातोऽहं प्राह राष्ट्रियः ॥ २९५ ॥
> हैः स्मृतः क्रोधविषये दुःखानुभवपर्वणि।

प्रस्थान करने के अवसर पर 'साधयामि' शब्द का तथा मरण की सभावना या अवस्था होने पर 'न भवसि' शब्द का प्रयोग किया जाए। मरण के अर्थ में निपतति या 'वर्द्धयामि महीम्' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। प्राकृत भाषा में हाधिक शब्द को 'हद्धि' शब्द में दुहराते हुए रखा जाए। आश्चर्य प्रकट करने के अवसर पर अम्मो या अम्महे शब्दों का प्रयोग किया जाए। किसी न देखी या सुनी गयी बात को सुनने पर या ऐसे किसी व्यक्ति के देखने पर अविदा, अविद भो' जैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किसी तरुणी या बाला को

शकार (पात्र) 'वासु' शब्द से सम्बोधित करता है। राष्ट्रिय शकार के वाक्यों में अनेक पर्यायवाची शब्दों का एक साथ प्रयोग रखा जाता है। जैसे मैंने अबु से, तोय से और जल से स्नान किया है। क्रोध या किसी कष्टपूर्ण अवस्था या किसी वेदना के अनुभव की दशा में 'ई' शब्द का प्रयोग रखा जाता है।

ऊढायां देवि दयिते पुमानाह प्रियां प्रति ॥ २९६ ॥
आर्यपुत्र च जीवेश नाथ साप्याह वल्लभम्।
अपूर्वां प्रत्याह तरुणो महाभागे वरोरु च ॥ २९७ ॥
सा चाह तं महाभाग–सुभगेत्यादिभिः पदैः।
आर्येति नृपतिर्विप्रं तमायुष्मन्निति द्विजः ॥ २९८ ॥
भगवन्नाह राजा तं राजन्निति तपोधनः।
भदन्त क्षपणे भिक्षौ धर्मोपासक तौ नृपम् ॥ २९९ ॥

पति विवाहिता भार्या को देवि या दयिते शब्द से सम्बोधित करे और वह भी अपने स्वामी को आर्यपुत्र, जीवेश या नाथ शब्द से सम्बोधित करती है। किसी तरुण को अपूर्व या अपरिचित कन्या को प्रथम बार देखने पर उसे महाभागे या वरोरु शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए तथा ऐसी कन्या भी उस युवक को महाभाग या सुभग शब्दों से संबोधित करे। ब्राह्मण को राजा आर्य शब्द से तथा ब्राह्मण राजा को आयुष्मन् शब्द से सम्बोधित करे। राजा (किसी भी) तपस्वी को भगवन् शब्द से और तपस्वी को राजा राजन् शब्द से सम्बोधित करे। क्षपणक या भिक्षु को राजा 'भदन्त' शब्द से और वे भी राजा को धर्मोपासक शब्द से सम्बोधित करें।

परिक्रम्यादयः शब्दा ल्यबन्ता नाट्यसूत्र(च)काः।
दिशन्ति नाट्यपात्राणां ततः कार्यं यथागतम् ॥ ३०० ॥
सक्रोध–साश्रु–सत्राम–सोत्कम्प–सदयादिकः।
संनिधेयक्रियाजातं विशिनष्टि गणो ह्ययम् ॥ ३०१ ॥
स्वगतमात्मगतञ्चैव स्वयं त्रिपताकपाणिना।
यः पठेत्तत्र संयोज्यं द्वयमेतद् प्रयोक्तृभिः ॥ ३०२ ॥

नश्रावयिन्नैकमन्योन्यं द्वाभ्यां यत् खलु पठ्यते ।
जनान्तिकं तत् कर्तव्यं त्रिपताकैस्पाणिना ॥ ३०३ ॥
अपवारितकं तच्च परिवर्तकमुच्यते ।
स्वरूपादन्यरूपत्वमन्यरूपात् स्वरूपता ॥ ३०४ ॥

अभिनय तथा अन्य नाट्यक्रिया के सूचक शब्द तथा उनकी प्रयोगविधि—नाटक में ल्यप् प्रत्ययान्त परिक्रम्य आदि शब्दों के प्रयोग अभिनेताओं के उन कार्यों का संकेत करते हैं जो नाटक में प्रस्तुत किये जाने वाले हों। इसी प्रकार मञ्च पर बतलायी जाने वाली विविध अभिनय क्रियाओं को सक्रोध, सासु, सत्रास सोत्कम्प तथा सदय शब्दों में प्रयुक्त किये जाने पर ये अपने अर्थों के अनुसार निर्दिष्ट या संकेतित कार्य करते हैं। यदि नाटक में स्वगत या आत्मगत शब्द का प्रयोग करते हुए संवाद रखे गए हों तो उन्हें 'त्रिपताक' मुद्रा में हाथ को रखते हुए प्रस्तुत किया जाए तथा यदि दो पात्र एक दूसरे को न सुनाते हुए सम्भाषण करें तब भी 'त्रिपताक' मुद्रा में हाथ रहना चाहिए तथा ऐसी स्थिति में 'जनान्तिक' शब्द का प्रयोग रखा जाना चाहिए। जनान्तिक' का दूसरा नाम अपवारितक भी है। किसी दूसरे पात्र के अनुसार स्वयं के या स्वयं को देखकर दूसरे पात्र के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन को भी 'परिवर्तक' कहा जाता है।

स्तोकस्तोकपदारब्धं समासमसमासि वा ।
चूर्णकं न्यायविन्यस्तं वदनकं तदुच्यते ॥ ३०५ ॥
सम्प्रधार्य स्वयं पूर्वं यत् किञ्चिदभिधीयते ।
प्रकाशं तत्र कर्तव्यं यथा प्रस्तारवर्तिना ॥ ३०६ ॥

अल्पसमासवाले पदों से निर्मित गद्यरचना को जिसमें या तो समास न हों या छोटे समास हों—एक निश्चित क्रम में रखा जाए तो 'चूर्णक' नामक गद्य रचना का एक प्रकार बन जाता है। चूर्णक का दूसरा नाम वदनक भी प्रसिद्ध है। किसी सन्दर्भ विशेष में जब सोच विचार के बाद किसी बात को पात्र प्रकट रूप में कहता हो तो ऐसे अवसर पर 'प्रकाशम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

गद्येनोत्कलिकामात्रा युद्धाडम्बरकीर्तने ।
या वलीनां पाठोऽयं प्रायः सद्भिर्निरूप्यते ॥ ३०७ ॥

युद्ध तथा जनसम्मर्द या मनुष्यो की भीड भाड का अपनी स्थिति के अनुसार वर्णन करने मे 'उत्कलिकाप्राय' गद्यरचना का प्रयोग किया जाए। प्राय अनुभवी लेखक इसे वली के नाम से अपनी रचना मे रखा करते हैं।

अवकाशागतं वाक्यमावकाशिकमुच्यते ।
न विशेत् पात्रमपरं कार्यं स्यात्तेन तद्यथा ॥ ३०८ ॥
स्वल्पं कार्यमभिप्रेतं वक्तुं पात्रेण किं फलम् ।
आकाशवाङ्नेपथ्योक्तिलेखान् तत्रावकाशयेत् ॥ ३०९ ॥

आकस्मिक रूप में या अतर्कित अवस्था मे जिन शब्दों या वाक्यो का प्रयोग किया जाए उन्हें 'आवकाशिक' कहा जाता है। इस समय किसी (नवीन) पात्र का प्रवेश नहीं होता। इसका कारण यह है कि थोडे से उद्दिष्ट कार्य को बतलाने के लिए एक पात्र को मञ्च पर भेजना बेकार रहता है। इस प्रकार के कार्यों को आकाशवाणी, नेपथ्यकथन या पत्र के द्वारा सरलता से (नाटकादि मे) रख दिया जाए।

अभिनयो व्यञ्जकः सत्त्ववाङ्नेपथ्याङ्गकैः सह ।
आभिमुख्यं नयत्यर्थं द्रष्टुः कविरचः स्थितम् ॥ ३१० ॥

कवि के आशय को दर्शकों के सम्मुख अपनी सात्त्विक, वाचिक, आहार्य तथा आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा ले जाने के कारण [या प्रस्तुत करने के कारण] इसे '*अभिनय*' समझा जाता है।

रामरावणभूयिष्ठसत्त्वाना रूपचेष्टिते ।
अनुकारैः स्मृतं नाट्यं तद्विधैन व्यवस्थितम् ॥ ३११ ॥
ताण्डवं नाम पुरुषैः रङ्गे यदभिनृत्यते ।
यच्चष्टाभिस्तथा स्त्रीभिस्तल्लास्यमभिधीयते ॥ ३१२ ॥
पुस्तन्तु रथवर्मादि वस्त्रचर्मादिनिर्मितम् ।
रङ्गेषु यत् प्रयोगार्थं क्रियते भरतात्मजैः ॥ ३१३ ॥
पारितोषिकमित्याहुर्यत् सभ्यैर्नृत्यदर्शनात् ।
दीयते परितोषेण वहुपाठकनामवत् ॥ ३१४ ॥

राम और रावण के रूप और चेष्टाओं की पात्रों के द्वारा की गयी

अनुकृति का नाम 'नाट्य' है। नृत्य दो प्रकार का होता है—[ताण्डव तथा लास्य] पुरुषों के द्वारा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया गया नृत्य 'ताण्डव' तथा आठ स्त्रियों के द्वारा सामूहिक रूप में प्रस्तुत किया गया नृत्य 'लास्य' कहलाता है। नटों के उपयोग के लिए वस्त्र या चमड़े (आदि) से बनाए गए रथ, कवच आदि उपकरणों को 'पुस्त' कहते हैं। अभिनेताओं के रंगमञ्च पर प्रस्तुत किये गए नृत्य या अभिनय आदि से सन्तुष्ट होने पर दर्शक आदि के द्वारा दिया जाने वाला पुरस्कार 'पारितोषिक' कहलाता है। इसका यह नाम बहुपाठक के समान है।

अथ नायिकानां स्वभावजाः सप्त गुणाः बोद्धव्याः। ते च नामतः कथ्यन्ते—

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं धैर्यमेव च।
प्रागल्भ्यमथ चौदार्यं गुणाः स्युः सप्त योषिताम् ॥ ३१५ ॥

(ना० शा० २३।२४)

नायिकाओं के सहज गुण—अब हम नायिकाओं में रहने वाले सात सहज गुण बतलाते हैं। इनके नाम हैं—(१) शोभा, (२) कान्ति, (३) दीप्ति, (४) माधुर्य, (५) धैर्य, (६) प्रागल्भ्य तथा (७) औदार्य। ये सात स्त्रियों के स्वाभाविक धर्म होते हैं।

तत्र शोभा—रूपयौवनलावण्यैः केवलैरेव तनोरलङ्करणं शोभा। तद्यथा—

तन्व्याः सद्भाव-सौन्दर्यस्वादुसन्नद्धयौवनम्।
एतल्लावण्यपङ्कार्द्रं वपुर्मण्डनमण्डनम् ॥
लक्षणानि समर्थानि रूपसिद्धौ मृगीदृशः।
सृष्टा धात्राप्यहो लब्धमगाधं पाणिनेर्यशः ॥
सृजत्येनत् क्रियाधिस्यं तन्व्या वपुषि यौवनम्।
अन्यथाप्युन्मिपन्त्येते लावण्यामृतबिन्दवः ॥

शोभा—रूप, यौवन या लावण्य के कारण शरीर का सहज शोभित होना 'शोभा' कहलाता है। जैसे :—यौवन और सहज सौन्दर्य से इस

सुन्दरी का शरीर व्याप्त है और सलोनेपन से सना होकर तो मानो यह शोभा को भी सुशोभित कर रहा है।

इस मृग-नयनी के सौन्दर्य को संवारने के लिए विधाता ने सक्षम लक्षणों का निर्माण करते हुए महर्षि पाणिनि के अगाध यश को जीतने में सफलता प्राप्त कर ली।[1]

इस कृशाङ्गी के शरीर में यौवन की सर्जना करने पर भी क्या अधिक बन पड़ा? क्योंकि बिना वैसा किये ही सलोनेपन के अमृतकण तो चारों ओर प्रसृत हो ही चुके थे।

कान्ति—शोभैवानङ्गविकारापन्ना कान्तिः। तद्यथा—

सत्यश्चित्रकरः कामो यश्चित्रमिव निर्मलम्।
उन्मीलयति कन्याना सौन्दर्यतिलकं वपु ॥
अपाङ्गपथिकं चक्षु. स्मितज्योत्स्नार्द्रमाननम्।
वाचोऽब्धिवीचिकुटिला हरन्त्यद्य मृगीदृश. ॥

कान्ति—जब यही शोभा प्रणय से या काम से आविद्ध हो जाए तो 'कान्ति' हो जाती है। जैसे :—

सचमुच कामदेव ऐसा चित्रकार है जो कन्याओं में सौन्दर्यराशि का अन्तिम स्पर्श करते हुए अपने चित्र में और अधिक उभार ला देता है।

इस मृगनयनी ने जब अपने नयनों की नोकों को घुमाया, अपने मुँह से मुसकान की चाँदनी को बिखेरा और सागर की लहरों के समान *कुटिल वाणी का प्रयोग किया था ये सभी बातें अब मन को हर रही हैं।*

दीप्तिः—कान्तिरेव विशेषमङ्गानां सम्पादयन्ती दीप्तिः। तद्यथा—

वर्धेते न भरौ तन्व्या' पयोधरकिशोरकौ।
पुष्यतो रवलीपाकपाण्डिमाडम्बराणि च ॥
अहो दुष्कृतमेतस्य मध्यभागस्य सुभ्रुव.।
वलिसङ्गेऽपि दारिद्र्यं धत्ते कृशिमलक्षणम् ॥

---

1. यहाँ आशय यह है कि पाणिनि ने अपने लक्षणों (सूत्रों) से रूपसिद्धि (शब्द से रूप का निर्माण) की पर विधाता ने लक्षणसम्पन्न उस सुन्दरी को निर्माण कर (रूपसिद्धि के ही द्वारा, पाणिनि के यश को फीका कर डाला।

प्रत्यहं वृद्धिमायान्ती श्रोणिः क्लिश्नाति शिल्पिनम् ॥

अभीक्ष्णं रशनादामदैर्घ्यकृत्यै मृगीदृशः ॥

कृष्णात्मानोऽलकास्तन्व्या अर्द्धेन्दुतुलितेऽलिके ।

क्रियन्ते कुटिलाः सख्या लक्ष्म्येवाल्पकुलोद्भवाः ॥

दीप्ति—कान्ति के द्वारा ही जब शरीर के अवयवों में और अधिक विशेषताएँ पैदा हो जाएँ तो 'दीप्ति' समझना चाहिए। जैसे :—

इस कृशाङ्गी युवती के दोनों उरोज-किशोर केवल बढ़ ही नहीं रहे हैं, वे तो (इसके अतिरिक्त) लवलीलता के परिपक्व फल के अपनी समान गौरवर्ण कान्ति भी बढ़ाते जा रहे हैं।

सुन्दर बरौनियों वाली सुन्दरी की कमर की दशा कितनी विपत्ति में आगयी कि यह अब त्रिवली का स्पर्श भी अपने दुबलेपन के कारण नहीं सह पाती है।

इस सुन्दरी मृगनयनी के प्रतिदिन विस्तीर्ण होने वाले श्रोणिभाग ने करधनी के निर्माता को प्रति दिन डोरी बढ़ाने के प्रयास द्वारा बड़ा कष्ट पहुँचाया है।

इस कृशाङ्गी सुन्दरी के निसर्गतः काले केश अर्ध-चन्द्र के समान ललाट पर दिखाई दे रहे हैं, जिन्हें सखियों ने घुंघराले बनाते हुए उस लक्ष्मी के समान कर दिया है—जो नीच कुल के मनुष्य के समीप जाकर (उसे) कुटिल कर देती हो।

माधुर्यम्—कोपहर्षाद्यवस्थासु सर्वास्वपि न विकारस्पर्शो माधुर्यम्। तद्यथा—

न कोपे निष्ठुरा वाचो नानन्दे तरलं मनः ।

क्षोणी क्वापि स्थितिरियं जगद्वशीकरणौषधिः ॥

माधुर्य—क्रोध, हर्ष तथा प्रसन्नता की दशा में किसी भी विपरीत भाव या विकार का न दिखाई देना 'माधुर्य' समझना चाहिए। जैसे :—

क्रोध की दशा में रूखे शब्द न बोलना और आनन्द के अवसरों पर मन को स्थिर रखना ये दोनों गुण स्त्रियों के लिये सारे संसार को वश में रखने के लिये चमत्कारी औषधि के समान अपूर्वशक्ति रखते हैं।

धैर्यम्—

कालोचितव्यवहरणम्—धैर्यम् । तद्यथा—

प्रागल्भ्यं रजनो प्रातर्गुप्तिस्थ्यानपुरस्थिना ।

न मुञ्चन्त्यबला लज्जा प्रियोत्कण्ठाब्धिचन्द्रिकाम् ॥

प्रात प्रत्युद्गमैर्गच्छन्नाद्वार चानुयात्रया ।

आराधित. प्रियस्तन्व्या न स्यात्स्यत्यन्यतश्चिरम् ॥

धैर्य—समय के अनुरूप व्यवहार करना 'धैर्य' कहलाता है। जैसे—

रात्रि मे अपनी प्रगल्भता, प्रात काल गोपनीयता और सायंकाल सेवार्थ आगे बढ जाने की तत्परता बतलाते हुए प्रियतम के उत्कंठा रूपी सागर की चन्द्रिका सदृश रहने वाली लज्जा को कभी स्त्री नहीं त्यागतीं।

जब वह कृशाङ्गी स्वामी के आने पर अगवानी, जाने पर दरवाजे तक चलकर छोडना आदि करते हुए सदा शुश्रूषा बुद्धि रखती हो तो फिर उसका स्वामी दूसरे स्थानों पर अधिक कैसे ठहर सकता है।

प्रागल्भ्यम्—प्रयोगेष्वमूढता प्रागल्भ्यं । तद्यथा—

चुम्बिते चुम्बितै श्लिष्टे समाश्लिष्टै. क्षते क्षतै ।

अनुकृत्यैव तन्वङ्ग्यो दासीकुर्वन्ति वल्लभम् ॥

विश्रम्भन्ते रतौ कान्ते मौग्ध्यमन्यत्र बिभ्रति ।

कामस्य विनयस्याज्ञां नातिक्रामन्ति योषित ॥

प्रागल्भ्य—आनन्द के उपभोग में दक्षता रखना 'प्रागल्भ्य' समझना चाहिए। जैसे —

चुबन को चुबन से आलिंगन को आलिंगन से और नखक्षत आदि का इन्हीं के द्वारा प्रत्युत्तर देते हुए रमणियाँ (अपने) प्रियतम को अपना दास बना लेती हैं।

वे प्रणयानन्द के क्षणों मे अपना बहुत हौंसला दिखलाती हैं और दूसरे समय भोली बनी रहती हैं। इस प्रकार अपने आचरण द्वारा वे न तो काम का और न विनय का ही अतिक्रमण करती हैं।

औदार्यम्—सर्वास्ववस्थानु प्रियस्य न प्रश्रयखण्डनमौदार्यम् । तद्यथा—

द्वितीयावस्था में—कृशोदरी युवती को अपनी सौत के पता लगने या वैसे चिन्ह ज्ञात होने पर सारे शरीर में ईर्ष्या के कारण आग लग जाती है। तब यह बिना किसी कारण ही क्रोध के आवेग में आकर चचल लता के समान अपनी भौंहों को चढ़ाते हुए देखने लगती है। अपने स्वामी को इस दशा में यह राजा के समान आदेश देने लगती है और गुरु के समान अनुशासन करती है। प्रेम से खिंचे प्रिय की डाँटने या उपालम्भ देने के समय यह नायिका कोई परवाह नहीं करती।

राजा की चित्तवृत्ति के समान इसके प्रेम के किसी एक उपाय से अनुकूल रहने की आशा नहीं रहती, क्योंकि यह बड़ी कठिनाई से रीझ पाती है पर इसका सदा प्रसन्न रखना बड़ा कठिन होता है।

यह अपनी इष्ट वस्तुओं को पाने पर भी प्रसन्न नहीं होती और दुष्ट स्वामी के लिए की गई सेवा के समान बडे कष्टों के उपरान्त थोड़ा अनुकूल फल दे पाती है।

यह श्रीकृष्ण की लीला के समान सदा गृह कार्य में विना रोकथाम के लीन रहती है [लीलापक्ष में-अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण के पौत्र) को ग्रहण करने में लगी रहती है] यथेष्टाचार के उत्साह को बढ़ाती है [लीलापक्ष में-प्रद्युम्न जी (जो कामदेव के अवतार थे) के उत्साह या कार्य की सवर्द्धिका रहती है] और उत्सवों में सम्मिलित होने की सदा आकांक्षा लिये होती है [लीलापक्ष में—उद्धव जी के प्रति सदा स्नेहपूर्ण रहती है]।

तृतीये—

कण्ठग्रहं न यात्येव भर्तुः क्रुद्धापि यत्नतः।
कङ्कणश्रेणिकेवासौ दोषमेवावलम्बते ॥ ३२४ ॥
उन्मत्तेव प्रमत्तेव प्रहृष्टेवातुरेव च।
न शक्योपासितुं रामा प्रौढं यौवनमाश्रिता ॥ ३२५ ॥
सुखदुःखप्रदायिन्यस्तृतीये यौवने स्थिताः।
जायन्ते गहना रामाः संसारस्येव रीतयः ॥ ३२६ ॥

तृतीय अवस्था में—क्रुद्ध हो जाने पर अपने प्रिय को यत्न करने पर भी गले नहीं लगने देती और कंकणमाला के समान सदा दोषों को लेकर बैठी रहती है [जैसे कंकणमाला की भुजाओं की ओर बढ़ने की रुचि होती है वैसे ही यह केवल अपने स्वामी के अपराधों पर ही

निगाह जमाये रहती है] यौवन में प्रौढ़ता आने पर युवती स्त्री नशे में चूर होने वाले पागल के समान कभी प्रसन्न और कभी अप्रसन्न होकर रहती है और प्रिय के द्वारा किये गए अनुकूलता के सारे उपायों को व्यर्थ कर डालती है। इस प्रकार युवती स्त्री संसार के सुख और दुःखों को अनुभव करवाते हुए संसार की रीतियों के समान बड़ी गहनता धारण कर लेती है।

चतुर्थ—

आश्लेषे सर्वदा पत्युः सतृष्णेवान्तरात्मना।
अर्धनारीश्वरतनौ गौरीवृत्तं समीहते॥ ३२७॥
सम्भोगायोग्यकालेषु सार्द्धं कान्तेन कामिनी।
वापीसौधे गृहोद्याने यात्रासङ्गेन तिष्ठति॥ ३२८॥
अन्यच्छायावलोकेऽपि परालापे मनागपि।
पत्यौ क्रुध्यत्यनर्थादौ स्वयञ्चापि निमज्जति॥ ३२९॥
अपरोपगमारम्भमुन्नाटयति वल्लभम्।
दरिद्रजरतीवार्तां शिशिरे सायमातपम्॥ ३३०॥
पत्युः शय्यापराशृत्ति वियोगमिव मन्यते।
देवागारप्रयाणञ्च प्रवासमिव पश्यति॥ ३३१॥
अतिस्नेहस्य निस्स्यन्दादतिप्रेम्णः प्रवृत्तिभिः।
छायेवानुचरेत् कान्तं यान्तं तिष्ठन्तमङ्गना॥ ३३२॥
मौग्ध्यविश्वासकार्कश्यरतिलौल्येऽर्थितोत्तराः।
चतुर्यौवनजन्मानो धर्माः स्फूर्जन्ति योषिताम्॥ ३३३॥

चतुर्थ अवस्था में—अपने प्रिय के साथ सदा रहने की चाह रखते हुए अर्धनारीश्वर शिव के साथ पार्वती के समान अर्धभाग की स्वामिनी बनकर रहना पसन्द करती है। मिलन के लिये अनुपयुक्त या अतिरिक्त समय में भी यह अपने प्रिय के साथ किसी स्नानागार या वापिका के पास या उद्यानों में सैर करती है तथा उत्सव आदि में भाग लेते हुए घूमती है। किसी दूसरी युवती की छाया देखकर या उससे किसी प्रकार के वार्तालाप हो जाने पर अपने पति पर मक्षा चढ़ती है। इस

कारण कभी-कभी बड़ा संकट आ जाता है या फिर यह स्वयं भी कभी इसी वृत्ति के कारण संकट में फँस जाती है।

किसी रमणी के पास जाने या किसी कार्य के सम्पन्न होने के बिना ही यह अपने स्वामी पर अधिकार जमाती है और उसे कसकर वैसे ही थाम रखती है जैसे बूढ़ी शिशिरऋतु रात्रि के आरंभ में सूर्य को रोकती हो।

तब अपने स्वामी के करवट बदलकर सो जाने को यह वियोग मानने लगती है और किसी मन्दिर में दर्शनार्थ अपने स्वामी के जाने को परदेश जाना समझने लगती है।

स्वामी के प्रति प्रेम के आधिक्य और अतिशय आकृष्ट रहने के कारण यह सदा आने-जाने और बैठने पर भी छाया के समान अपने प्रिय का अनुसरण करती रहती है।

यौवन की चतुर्थ दशा में भोलापन, विश्राम, कृशता, रति के लिये अकुलाहट (रति लौल्य) और प्रिय की चाह में सहज रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार यौवन की चारों अवस्थाओं में ये लक्षण प्रकट होकर उनके स्वरूपों को स्वयं प्रकट कर देते हैं।

इति स्वभावगुणविकल्पा लास्यद्योतिनो बोद्धव्याः।

स्त्रियों की इन अवस्थाओं में रहने वाले गुण या प्रकारों को लास्य के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए।

मानः—अथ स्त्रीणां मानो भवति। ईर्ष्याभिजनः क्रोधो मानः। स चतुर्विधः। मुग्धः, मनाङ्मुग्धः, समृद्धः, अतिसमृद्धश्चेति।

मान—इन अवस्थाओं में युवतियाँ मान धारण करती हैं। ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाले क्रोध को 'मान' कहते हैं। मान के चार प्रकार माने गए हैं। यथा—(१) मुग्ध, (२) मनाङ्मुग्ध, (३) समृद्ध और (४) अतिसमृद्ध।

तत्र मुग्धः—[illegible]नाक्रवचनमनुत्ववर्जित मुग्ध अप्रगल्भाया स्यात्। यथा—

मुग्ध—अब 'मुग्ध' मान का लक्षण बतलाते हैं। यह भेद मुग्ध मान कहलाता है क्योंकि इसमें न तो क्रोध ही किया जाता है और न ही जले कटे शब्दों का प्रयोग ही होता है और न दोषों को

ढूंढ़ने की प्रवृत्ति होती है। प्राय: मुग्धमान अप्रगल्भा युवती में पाया जाता है। जैसे :—

> प्रिये नवे सागसि मानिनी नवा
>
> न जानती कोपविभावनाक्रमम् ।
>
> तदाननं वीक्ष्य तटस्थनिष्पतत्-
>
> विलोचनाम्भः प्रसराऽऽवतिष्ठते ॥ २३४ ॥

अपने नवविवाहित पति के द्वारा अपराध होने के कारण ईर्ष्यावश थोड़ी जलकर भी वह बाला अपने स्वामी का मुँह जोहने लगती है। वह क्रोध को प्रकट करने के रास्तों को न जानने और नया अनुभव रहने के कारण जड़वत् खड़ी होकर केवल अपनी आँखों से बड़े-बड़े आँसू गिराती है।

मनाङ्मुग्धः—यत्र विभावना केवलमस्ति न वक्रवचनं प्रमुत्वञ्च स मनाङ्मुग्धः। यथा—

मनाङ्मुग्ध (मान)—जब अपराधी स्वामी पर क्रोध तो उमड़े पर उसे प्रकट करने के लिए न तीखे शब्द कहे जाएँ और न ही अभिमान या उद्दण्डता बतलायी जाए तो *'मनाङ्मुग्ध'* मान कहलाता है।जैसे:—

> प्राप्ते सागसि वल्लभेऽन्यवलितं प्रश्नोद्धुरे प्रोल्लसत्-
>
> क्रोधाडम्बरसंवराम्बरहृतावुत्ताण्डवभ्रूलतम् ।
>
> पादाब्जप्रणतिप्रकाशिनि मुहुस्तन्व्याः सखीजल्पिते
>
> साध्वीवर्त्मनि नेत्रमुज्झति रुषा सार्धं घनाश्रुच्छटाः ॥

जब अपराधी पति आया तो उसे देखकर वह मुड़कर खड़ी हो गयी, जब उसने हठपूर्वक पूछना शुरू किया तो क्रोध के प्रकट होने पर (उसने) दबा लिया, जब वह आँचल खींचने लगा तो उसकी भौंहें क्रोध से चढ़ गयीं और लता के समान लहराने लगीं और अन्त में प्रियतम के चरणों पर गिर जाने पर उसने सखियों के द्वारा उपदिष्ट पातिव्रत धर्म का अनुसरण करते हुए अपने आँखों से आँसुओं की घनी धारा बहाते हुए क्रोध को छोड़ दिया।

समृद्धः—समृद्धः विभावनावक्रवचनयुतः न परं प्रभुत्वेन। यथा–'कान्ते नाथे'त्यादि (पृ० १०२)। यथा च—

समृद्ध (मान)—जब बिना किसी प्रकार का अभिमान बतलाए ही क्रोध किया जाए और तीखे शब्दों का भी प्रयोग किया जाए तो उसे 'समृद्ध' मान समझना चाहिए। जैसे :—

प्रिये, स्वामिन् इत्यादि पद्य [पृष्ठ १०३]। तथा—

> धिग्धिक् सुदूरमपसर्प न दृश्यसे त्वं
> किं किं नतो क्रुपसि मे चरणं करेण।
> इत्युल्लसत्पुलकजालकमुद्वहन्त्या
> मानः कृतोऽपि न धृतोऽपि चिरायतेव ॥

हाय! हाय! दूर हट जाइये आप, आँसुओं के भर जाने से मेरी आँखें आपको देख नहीं पा रही हैं और आप मेरे पैरों पर झुककर उन्हें सहलाते हुए क्यों खींच रहे हैं? ऐसा कहते हुए उस नायिका ने क्रोधावेश में रोमाञ्च के साथ मान तो धर लिया पर थोड़े ही क्षणों के बाद वह चला गया।

अतिसमृद्धः—यत्र विभावना वक्रवचन प्रभुत्वमिति त्रयमस्ति सोऽतिसमृद्धः। यथा—

अतिसमृद्ध (मान)—जब क्रोधावेश, आक्षेप भरी वचनावली और अभिमान को बतलाना ये तीनों कार्य या स्थितियाँ दिखाई दें तो उसे '*अतिसमृद्ध*' मान समझना चाहिए। जैसे :—

> संवृतस्खलितो विलक्षितमुखः पादप्रणामं गतो
> मूल्यद्भ्रूलतया प्रिय प्रतिहतः पद्भ्यां स्रजा संयत।
> सख्या मोचित एव निर्गमपरः क्वायं शठो गच्छती—
> त्यालिङ्ग्यातिभरं रुषेव विधृतस्तन्व्या पतद्बाष्पया ॥

जब अपराधी प्रियतम लज्जा से मुँह झुकाकर चरणों में गिर पड़ा तो नायिका ने क्रोधावेश में अपनी भौंहों को लता के समान कपाते हुए उसे एक लात टिका दी और माला से बाँध दिया। जब इस नायिका की एक सखी ने आकर नायक का बन्धन छोड़ डाला और नायक जाने को उद्यत होने लगा तो कृशांगी नायिका ने क्रोध में भरकर आँसू गिराते हुए उसे जोरों से पकड़ लिया और बोली—'यह मुँआ अब कहाँ जाएगा?

अत्रार्थे मुनेर्भरतस्य वचनं यथा—

विभावनावक्रवचःप्रभुत्वेष्वग्र्ये मनाङ्मुग्धमथ द्वयोश्च ।
समृद्धमेषु त्रिषु मानमासा स्त्रीणा मुनिश्चातिसमृद्धमाह ॥

मान के लक्षणों के विषय मे भरतमुनि का भी[1] ऐसा ही मत है। वे कहते हैं कि मनाङ्मुग्ध मान मे केवल विभावना, समृद्ध मान में विभावना और वक्रवचन तथा अतिसमृद्धमान मे विभावना, वक्रवचन और प्रभुत्व इन तीनो को प्रस्तुत करना चाहिए।

विभावनायामग्र्यायां सत्यां मनाङ्मुग्धम्, विभावना-वक्रवचसोः समृद्धं, विभावनावक्रवचःप्रभुत्वेषु एषु त्रिषु सत्स्वतिसमृद्धमानमुक्तवानित्यर्थः। विभावना कोपाभिव्यञ्जनम्, वक्र-वचनमाक्षेपकारि, प्रभुत्वं मालाहारलतादिबन्धनप्रदानं प्रियस्येत्येष मानक्रमः।

अर्थात् केवल विभावना को प्रस्तुत किया जाए तो 'मनाङ्मुग्ध' विभावना और वक्रवचन के होने पर समृद्ध तथा विभावना, वक्रवचन और प्रभुत्व तीनों के रहने पर 'अतिसमृद्धमान' होता है। विभावना का अर्थ है—कोप का प्रदर्शन करना। वक्रवचन का अर्थ है—आक्षेपपूर्ण या तीखे वचनों का प्रयोग। प्रभुत्व का अर्थ है—प्रेमाभिमान के कारण प्रिय को माला, हार, लता आदि से बाँध देना। इस प्रकार हमने क्रमशः मान के स्वरूप बतलाए।

अथ नायिकानायकयोः प्रथमदर्शनासादितमन्मथोन्माथयोर्दशावस्थाः भवन्ति। तत् परिज्ञानमपि नाटके लास्याधिकारिकत्वात् सार्थकम्। यथा—अभिलाषचिन्तानुस्मरणगुणकथोद्वेगविलापातङ्कोन्मादजडतामरणादीनि इति। तद्यथा—

स्मरदशाएँ—नायक और नायिका के एक बार परस्पर दर्शन हो जाने पर प्रेम का सचार होने के अवसर पर (काम की) दस अवस्थाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ भी लास्य से सम्बन्धित होने के कारण (नाटक आदि मे) उपयोगी होती हैं। इन दशाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३)

1. उक्त विवरण वर्तमान नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं है। सम्भवतः यह द्वादशसाहस्री संहिता से लिया गया हो।

अनुस्मरण, (४) गुणकथा, (५) उद्वेग, (६) विलाप, (७) आतंक, (८) उन्माद, (९) जड़ता तथा (१०) मरण। जैसे कहा भी है कि :—

> दृष्टे यवीयसि हृदि प्रमदाजनस्य
> प्रत्यग्रयौवनसुधाजलधौतशुभ्रे ।
> रागं निवेशयति वस्त्र इव क्षणेन
> निर्णेजकः कुसुमचापधराभिधानः ॥

नवयौवन के अमृत से प्रक्षालित होने के कारण युवती के निर्मल हृदय में नवयुवक को प्रथम बार देख लेने पर ही पुष्पों के बाण धारण करने वाले काम रूपी रंगरेज ने रागरस का इस प्रकार संचार कर डाला जैसे किसी धुले हुए वस्त्र को लाल रंग में डुबो दिया गया हो।

अभिलापः—यूनश्चक्षुषा पीतं रूपं युवतेः सङ्गमायाभिलापं जनयति। तेन स्त्र्यसौ स्विद्यति, पुलकमावहति, शून्यदृष्टिः, पार्श्वमागतां सखीमपि न पश्यति, पृच्छ्यमाना नोत्तरं प्रयच्छति, चरणकमलकोट्या भुवमालिखति, लज्जया मन्दमन्दं चित्तगतमावेदयति। तद्यथा—

अभिलाप—किसी सुन्दर युवक का सौन्दर्य प्रथम बार बाला द्वारा देखे जाने पर उसके हृदय में 'अभिलाप' उत्पन्न कर देता है। इस दशा में नायिका का शरीर स्वेदपूर्ण हो जाता है, वह रोमाञ्चित हो जाती है, तब वह इतनी तन्मय हो जाती है कि समीप आने वाली सखी को भी नहीं देख पाती, पूछने पर ठीक से उत्तर नहीं देती लज्जावश भूमि को कुरेदते हुए अपने मन की बात धीरे-धीरे खोलती है। जैसे निम्न उदाहरण में—

> बालाभिलापमधिगम्य तत प्रियस्य
> नैवेक्षतेऽभिमुखमागतमालिवर्गम् ।
> व्रीडाधिरूढवदनेन्दुरुदीर्णमन्द-
> मन्दाक्षरं वदति चित्तगतं सखीषु ॥

यह बाला अपने प्रिय की चाह लिए हुए होने के कारण सामने आ जाने वाली सखियों को भी नहीं देख पा रही है। यह केवल लजाते हुए मुखचन्द्र से मन्द स्वर में थोड़े से शब्दों के द्वारा अपनी मनोगत दशा सखियों को बतला रही है।

चिन्ता—अथ चिन्तामापद्यते। किं तेन तस्मिन् क्षणे यथैव मया दृष्टोऽसौ तथा दृष्टाऽहमपि न वा मन्दभागिनी दृष्टास्मीति सखीभिः पुनरुक्तमिममेव वृत्तान्तमावर्तयति। अनुरागप्रत्याकलनकलानिमित्तमवस्था-सूचकमनेकार्थगर्भितञ्च मन्मथलेखं प्रस्थापयति। तद्यथा—

चिन्ता—इसके पश्चात् उसे '*चिन्ता*' होती है। तब वह सोचती है कि जब मैंने उसे देखा था तब उसको भी मुझे देखकर मन में ऐसी ही बातें उठी थीं या नहीं ? या उसने मुझ मन्दभागिनी को देखा भी था ? इस अवस्था में नायिका अपने प्रति रहने वाले नायक के अनुराग का अन्दाज लगाने [तथा अपना अनुराग व्यक्त करने] के लिये विचारों और अपनी अवस्थाओं के सूचक प्रेमपत्र को कलापूर्ण प्रकार से विनयपूर्वक भेजती है। (जैसा कि निम्न उदाहरणों में स्पष्ट है)।

चिन्तां ततः श्रयति किं समये तदानीं
दृष्टास्मि तेन स यथैव मयापि दृष्टः।
तस्यापि किं स्मरशिखी परिवर्द्धितार्ति-
र्जागर्ति चेतसि यथैव मम प्रदीप्तः॥

नायिका को चिन्ता हो रही है कि जब मैंने उस (युवक) को देखा तभी उसने भी मुझे देखा था नहीं ? और उसके अन्तस् में भी क्या दाहक कामाग्नि पीडा को बढ़ाते हुए भड़की है जैसे मेरे अन्तस् में जल रही है !

पत्रे केतकसम्भवे मृगमदन्यस्ताक्षरं तन्तुभि-
र्मञ्जिष्ठैः परिवेष्टितं मलयजैरार्द्रैर्घनं मुद्रितम्।
विन्यस्तस्तनमुद्रमङ्कितबहिर्नाम प्रियस्योद्वहत्
तन्वी मन्मथलेखशिल्पचनिदं कुर्याद्दशादेशकम्॥

तब वह कृशाङ्गी ऐसा प्रेमपत्र भेजे जिसमें उसकी मानसिक दशा को कलापूर्ण पद्धति से प्रस्तुत किया गया हो, जो केतकपत्र पर कस्तूरी से कुरेद कर लिखा गया हो और ऊपर से रेशमी धागे से लपेट दिया गया हो, जिसके ऊपर नायिका द्वारा मलयचन्दन से लेप किये गए अपने उरोज की मुद्रा अङ्कित करते हुए ऊपरी भाग पर प्रियतम का सुन्दरतापूर्ण नाम लिखा गया हो।

अनुस्मरणम्—प्रियस्यानुभूतरूपस्मरणादनुस्मरणमुपजायते। यत्र सकलविषयव्यावृत्ति, करणीयेष्वनादरः इतिकर्तव्यमूढञ्च हृदयमुत्पद्यते।

तद्यथा—

अनुस्मरण—अपने प्रिय के अनुभूत स्वरूप की याद करने से '*अनुस्मरण*' दशा उत्पन्न होती है। इस दशा में सभी सांसारिक सुखों से विरक्ति तथा आवश्यक या दैनिक कार्यकलापों के प्रति उत्साहहीनता रहती है तथा हृदय कि कर्तव्यविमूढ हो जाता है। जैसे :—

> शयनमशनं यानं स्थानं सखीवचनश्रुतिं
> न खलु कुरुते सेवाकाले गुरोरपि सम्भ्रमम्।
> सकलविषयव्यावृत्तात्मा घनश्वसितोद्गमा
> स्मरति सततं तन्वेवैकं स्मरज्वरयामिनी॥

सांसारिक वस्तुओं से दूर हटकर उस नायिका का मन सदा उसी का विचार करता रहता है। उसे ज्वर आगया है और इस स्मरज्वर के कारण वह जोरों से उसासें भरने लगती है, सोने, चलने, खाने और बैठने का ध्यान नहीं रखती है, सखियों की बातें नहीं सुनती और यथासमय पूज्यजन की आदरपूर्वक शुश्रूषा भी नहीं कर पाती।

गुणकथा—प्रियस्यानन्यव्यापारतया सखीसमक्षं गुणानां कीर्तनं गुणकथा। तद्यथा—

गुणकथा—सभी काम छोड़कर सखियों के आगे अपने प्रिय के गुणों का बखान करते रहना '*गुणकथा*' कहलाता है। जैसे :—

> सख्य किमन्यदधिकं कथयामि युष्मा-
> स्वेतत् समर्थयत तत्परिग्रहेण।
> निर्वर्ण्यते खलु मुधैव कुरङ्गलक्ष्म्या
> लक्ष्मीवतो गुणकथासु क एष तस्य॥

सखियों, मैं तुम्हें इससे भी अधिक क्या बतलाऊं! तुम सच मानो कि आज कुछ लोग मृग से लाञ्छित चन्द्र की शोभा की व्यर्थ ही प्रशंसा करते हैं। पर प्रिय की शोभा के आगे यह बेचारा अपनी लाञ्छित शोभा को लेकर कब तक टिक पाएगा?

उद्वेगः—बहुभिरपि यत्नैरनासाद्यमाने तत्सङ्गमसुखे उद्वेगः। चन्द्रचन्दनसुधामन्दिरारविन्दप्रभृतिषु सुन्दरेष्वपि वस्तुषु प्रद्वेष. सर्वतो हृदयस्याधृतिरवस्थानञ्च। तद्यथा—

उद्वेग—अतिशय प्रयत्न के पश्चात् जब प्रिय का मिलन न हो तो 'उद्वेग' होता है। इस दशा मे चन्द्र, चन्दन, उत्तम सदन (सुधामन्दिर) तथा कमल आदि की सुन्दरता भी नहीं सुहाती और मन मे अतिशय अस्थिरता और घबराहट बनी रहती है। जैसे :—

> सुधावेश्म द्वेष्टि स्फुरितकमला द्वेष्टि नलिनीं
> सखीन्यस्तां भूषा क्षिपति न विनोदेषु रमते।
> घनारूढोद्वेगा क्वचिदपि न धत्ते धृतिमसौ
> प्रियालोके यत्न' कृतमथ तस्मै स्पृहयति॥

अब यह बाला विशालभवन और विकसित कमल या कमलिनी देखकर डाह करने लगती है, सखियों के द्वारा आभूषण पहिनाये जाने पर उन्हें दूर पटक देती है और मनोविनोद के लिए किये गये परिहासो से प्रसन्न नहीं होती। वह किसी भी पदार्थ को देख या पाकर धैर्य नहीं रख पाती है और सदा यही चाहती रहती है कि मैं जो प्रिय के देखने या आने पर न कर पायी उसे ही अब अवश्य करूँगी!

विप्रलापः—प्रियस्य प्रथमदर्शनोपनतलज्जयाऽपरिचित इत्यविश्वासविषयत्वात्तत्काल इदं न कृतमिदं न कृतमित्यनुतापाद् विप्रलापः। तद्यथा—

वि(प्र)लाप—जब नायिका नायक को प्रथम बार देखकर लज्जावश या परि॰य न होने से विश्वास न करते हुए जो बातें न की जा सकी हों आदि की बार बार याद आने से हृदय से सन्तप्त होती है उसे 'विप्रलाप' समझना चाहिए। जैसे :—

> धिक् चित्त किं खलु तदा भवतास्मि रुद्धा .
> दृष्टो मया स सुभगश्चिरकालमासीत्।
> हा! वञ्चितास्मि रिपुणा गृहसंस्थितेन
> प्रौढाचिराफलमिति श्रूयते विलापम्॥

अरे मेरे मन, तूने मुझे उस समय क्यों रोक दिया जब मैं उस सुन्दर प्रिय को निहार रही थी। हाय! मैं अपने ही अन्दर बैठे शत्रु से छली गयी। इस प्रकार व्यथाओं से भरकर और सभी ओर से निराश होकर वह नायिका रुदन का सहारा लेने लगी है।

आतङ्कः—प्रतियामिनि जागरणं विषमाशनं निरन्तरचिन्तासन्तानाभिनिवेशो निरवग्रहपरितापप्रशमोपायतया च सेव्यमानमृणालनलयजलार्द्रसव्यामप्रभृतिशीतोपचार इत्येभिर्निमित्तै शिरार्तिज्वरलक्षणमातङ्कमावहति। तद्यथा—

आतङ्क—और जब वह इसी तरह विचारों में (प्रत्येक) रातें जागते हुए बिताने लगती है, असमय में भोजन करती है, सदा चिंता में डूबी रहती है तब इस अपरिहार्य सन्ताप की शान्ति के लिये उसे कमलनाल के वलय पहिनाये जाते हैं, जल से पत्तों को गीला कर हवा की जाती है और गीले या ठंडे कपड़ों को पहिनाया जाता है। ऐसी दशा में ज्वर या शिरोवेदना आदि कार्यों से जो रूप बनता है उसे '*आतङ्क*' नामक अवस्था समझना चाहिए। जैसे :—

> आतङ्कान्न घटितसङ्गमास्य बाला
> मोढाङ्गं स्वतनुमितस्ततः क्षिपन्ती।
> मूर्छिता भजति सखीजनेन हस्तं
> विन्यस्योरसि सुविमृश्यमानसंज्ञा॥

यह बाला अपने प्रिय से न मिलने के कारण अतिशय वेदनावश अपने शरीर को इधर उधर पटक रही है और उसकी सखियाँ चारों ओर बैठकर उसकी दिल की हलकी पड़ने वाली धड़कनों को हाथ रख कर उसकी चेतनता का विचार कर रही हैं।

उन्मादः—अतिचिरकालमेवंविधविविधकष्टभावनाया प्रकृतिविपर्ययादुन्मादः। यत्र विना हेतो रोदिति, विना निद्रां स्वपिति, विना प्रहर्षेण हसति, विना क्रोधात् क्रुध्यति, तद्य सुभगमितस्ततः सङ्कल्पस्पर्णिकाविलिखितमवलोकने, तमालिङ्गितु नभसि भुजलता प्रसारयति, तद्य मनःतवाप्यजलधारास्निग्धस्तिमीलनयनोत्पलयुगला विविधमुग्धविदग्धभङ्गितरङ्गवद्भिर्वचनैरपालमते। तद्यथा—

उन्माद—बहुत दिनों तक इसी तरह के अनेक कष्टों को झेलते रहने के कारण मस्तिष्क के उलट जाने पर 'उन्माद' हो जाता है। इस अवस्था में नायिका बिना कारण रोने लगती है, बिना नींद के ऊंघती है, बिना किसी प्रसन्नता के ही हँसती है, बिना क्रोध के ही झल्लाने लगती है और अपनी कल्पनाओं की तूलिका से चित्रित प्रियतम के उसी रूप को देखती है। उसी से मिलने के लिए ऊपर आकाश में अपनी भुजाएँ फैलाती है और अपनी नीलकमल जैसी सुन्दर आँखों से आँसू बहाती है। वह अपने प्रियतम को भोलेपन से चातुर्य और अगभगियों से युक्त स्नेहपूर्ण वचनों द्वारा उलाहना देती है। जैसे :—

करकिसलयपृष्ठोत्सारिताजस्रबाष्पा
मुहुरपि च धुनाना स्यलतूलीं रसौघम्।
लिखति तनुमनङ्गोन्मादवेगात् प्रियस्य
स्वपिति च हृदि कृत्वा स्विन्नरोमाञ्चिताङ्गी ॥

वह बाला अपने कोमल पल्लव के समान हाथों के पिछले भाग से जब आँसुओं को पोंछती है तो हाथ का रंग आँसुओं में लग जाता है और वह ऐसे हाथ को बार-बार झटकती रहती है। फिर जब प्रेम अधिक उमड़ता है तो उसी आवेश में आकर वह अपने प्रिय का स्वरूप अंकित करने लगती है और स्वेद, रोमाञ्च आदि के कारण खिन्न हो जाने पर उसी प्रिय का हृदय में ध्यान रखकर सो जाती है।

परित्यक्तप्राच्यप्रकृतिरभिधत्ते विसदृशं
विना हेतोरुच्यत्यतिहसति क्रन्दत्यपि भृशम्।
घनारूढोन्मादा किमपि परिरब्धुं भुजलता
प्रसार्य प्रेयांसं लिखितमभिधावत्यनिभृतम् ॥

वह अपनी पूर्व प्रकृति के विपरीत उलटी सीधी बातें बकने लगता है कभी बिना कारण रूठती है और कभी हँसने और कभी रोने लगती है। जब उन्माद गंभीर हो जाता है तो अपनी बाँहें फैलाकर प्रियतम के चित्र को आलिंगन करने के लिए भागने लगती है।

जड़ता—मियाद्वैतभावनापरिपाकजा जडता। यस्या न जिघ्रति, न पश्यति, न संशृणुते नास्यै कश्चिद्रसः स्वदते इति। तद्यथा—

जडता—प्रियतम के साथ एकात्मभावना के अतिशय चिन्तन से 'जडता' उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में उसे किसी सुगन्धित वस्तु की गन्ध नहीं आती, न कोई दिखाई देता है और न ही कानों में शब्द सुनाई पडते हैं। तब उसे किसी भी पदार्थ का स्पर्श या अनुभव नहीं रहता। जैसे :—

सर्वक्रियाव्युपरतिं जडतामुपेत्य
बाला न पश्यति पुरःमहितानि किञ्चित्।
गृह्णाति नैव च रसं न च गन्धमद्धा
स्पर्शं न वेत्ति न च चेतयते पुरेव ॥

जडता के कारण उस बाला से कुछ भी करते-धरते नहीं बनता और वह अपने सम्मुख विद्यमान वस्तु को भी नहीं देख पाती है। उसे किसी वस्तु का स्वाद या गन्ध का अनुभव नहीं हो रहा और न सम्मुख रखे गए पदार्थ के स्पर्श होने का ही भान है।

मरणम्—मरणं प्राणच्छेदः। यथोक्तम्—

जीवन की समाप्ति या प्राणों का शरीर से निकल जाना 'मरण' कहलाता है। जैसा कि कहा भी है :—

यत्नैरलभ्यमानेष्वसङ्गमेऽन्त प्रदीपित।
कामाग्निर्ज्वलयत्यङ्गान्यदोप इव लङ्घनम् ॥

जब सारे प्रयत्नों के बाद भी प्रिय का मिलन न हो पाए तो प्रेम की ज्वालाएँ सारी बाधाओं के साथ उसके शरीर को भी जला डालती हैं जैसे बिना दोष के लघन शरीर को ध्वस्त कर देता है।

तस्यैव विषस्य मरणस्य लक्षणमनङ्गवृत्तित्वादाचार्येण नोपवर्णित मलमस्योपन्यासेन। यथाह—

इस मरण दशा का विस्तार से विवरण आचार्यों ने नहीं बतलाया क्योंकि यह दशा घटित न होने के कारण नाटकीय घटना का अंग नहीं बन सकती। जैसा कि कहा जाता है :—

इति मरणमनङ्गवर्तिमुक्त्वा
नटति नटीव युवत्यशेषभावान्।
नटति खलु युवापि काललब्ध-
स्मरललितातिशयः कदाचिदेव ॥ ३३५ ॥

इन दशाओं में केवल मरण को अंग न बनाते हुए युवती नायिका शेष दशाओं को नटी के समान प्राप्त करती है और युवा नायक भी इसी प्रकार इन दशाओं को प्रेम के मीठे अरमान हृदय में संजोते हुए क्षमफलता के बीच सहन करता है।

नवानामप्यासां दशानां लक्षणमूयस्त्वान्नोपवर्णितम्। ज्ञेयं तु नाटके जानकीराघवे सीतानृत्ये, प्रकरणे मालतीमाधवे माल्त्या., नाटिकायां सागरिकाया, यूनाञ्च माधवादीनामिति दशावस्था लास्यविधि.।

इन नौ अवस्थाओं को लक्षण आदि का विस्तार करने हुए यहाँ नहीं बतलाया जा सका है। इनको जानकीराघव नाटक में सीता के नृत्य, मालतीमाधव प्रकरण में मालती के अभिनय और रत्नावली नाटिका में सागरिका के अभिनय या मालतीमाधव में माधव के अभिनय में देखकर समझा जा सकता है। इस प्रकार लास्य में होने वाली दस अवस्थाओं को हमने बतलाया।

अथ नायिकाः—अप्राप्तमङ्गमाया नायिकाया परतश्चान्या अपि अष्टौ नायिका सम्भवन्ति। तासां नामानि—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनदयिता, अभिसारिका चेति। तत्र—

नायिका के भेद—जब नायिका का अपने प्रिय से मिलन नहीं होता तो दशाओं की भिन्नता के कारण नायिकाओं के और भी आठ भेद हो जाते हैं। इनके नाम हैं—(१) वासकसज्जा, (२) विरहोत्कण्ठिता, (३) खंडिता, (४) विप्रलब्धा, (५) कलहान्तरिता, (६) प्रोषितभर्तृका, (७) स्वाधीनदयिता (पतिका) तथा (८) अभिसारिका।

वासकसज्जा—

वासवेश्मनि सुकल्पिततल्पा
या समागमविधिं विदधाना।
तिष्ठति प्रियसमागमसज्जा
तामिहागमय वासकसज्जाम् ॥ २३६ ॥

वासकसज्जा—जो नायिका अपने प्रियतम से मिलने के लिए अपने

घर में ही साजसज्जा को ठीक से बनाकर और सेज सजाते हुए तैयार बैठी रहे तो उसे *'वासकसज्जा'* नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

यथा —

दृष्टिं द्वारि मुहुर्मुहुर्विदधति क्वाऽपि प्रवृत्ते ध्वनौ
दृष्टोऽसाविति कान्तपादपदन॰ श्रद्धोत्थितावस्थिता।
खेदं वामविलोचनस्फुरितकैर्नात्यन्तमातन्वती
धिक् त कार्यजड निशास्वपि चिरादेष्यन्तमन्विष्यति॥

अयमस्या लास्यविधि ।

वह नायिका कहीं से थोड़ी आहट या शब्द सुनाई पड़ने पर बार-बार दरवाजे की ओर अपनी दृष्टि डालती है और प्रियतम के पैरों की आवाज के भान होते ही खड़ी होकर आदर देने के लिए देखने को उठ दौड़ती है फिर (वही) कभी कभी अपनी आँखों के प्रतिकूल भाव में फड़कने पर खिन्न सी हो जाती है, और देर तक रात में घर न लौटने वाले प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई (उसे) ढूढ़ती रहती है। ये ही क्रियाएँ (इन) नायिका की लास्य दशा बतलाने में भी प्रयुक्त की जा सकती हैं।

विरहोत्कण्ठिता—या परित्यज्य प्रियतमो रतायोपकल्पितवेषा गतश्चिरान्नागच्छति सा विरहोत्कण्ठिता। यथा —

विरहोत्कंठिता—प्रिय मिलने के लिये अपनी साजसज्जा की हुई इसी (वासकसज्जा) नायिका का स्वामी जब उसे छोड़कर चला जाए और बहुत देर तक न लौटे तो *'विरहोत्कंठिता'* नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

उष्णश्वासविवर्णिताधरदला प्रौढाश्रुपातोच्छ्वसत्-
पर्यन्तारुणलोचना प्रतिनिशं जागर्यया धूसरा।
चन्द्रेऽप्युद्वलती रुजं विदधती स्वैरप्रदोषानिले
प्रत्याशार्गलरुद्धकण्ठपथिकप्राणा वियोगेऽस्ति सा॥

इस नायिका का निचला ओंठ गरम साँसों से बदरंग हो रहा है और आँसुओं की धारा बराबर बहते रहने के कारण आँखों के कोने सूजकर लाल हो गए हैं; रात के जागरणों से चेहरा सफेद हो रहा है; चन्द्र को देखते ही उद्वेग उमड़ता है और सायंकालीन पवन के मन्द

मन्द संचार से व्याधि उत्पन्न हो जाने पर भी प्रिय से पुनर्मिलन की आशारूपी अर्गला के कारण उसके कण्ठगत प्राण शरीर में टिके हुए हैं।

खण्डिता—यस्याः पतिः परया सह रजनीमतिवाह्य प्रभाते भवनमभ्येति सा खण्डिता । यथा—

खण्डिता—जिस (नायिका) का स्वामी दूसरी नायिका के साथ रात्रि बिता कर प्रातः अपने भवन मे लौटे उसे *'खण्डिता'* नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

हा कष्टं हतया कया विलिखितः कायो नखाग्रेण ते
किं रोद्धासि ममैव खण्डनमिदं केनाधरे रुध्यताम् ।
किं धूर्त प्रणमस्ययं प्रतिमुहुः क्षेमं न दत्ते सखी
सैषा किं करवाणि संस्पृशसि यत्तत्रापि खेदो न मे ॥

हाय, हाय ! किस मुई ने तुम्हारे शरीर पर नखों की खरोंचें डाल दीं ? क्या तुम्हें किसी ने रोक लिया था ? आप मेरे द्वारा दिये जाने वाले ओष्ठ के क्षतों के समान इन क्षतों को क्यों दबा रहे हैं ? और झुककर मुझे प्रणाम कर क्यों छल रहे हैं ? अरे, क्या तुम्हारी उस प्रियसहचरी ने आपकी कुछ भी सेवा न की ? परन्तु मैं अब क्या कर सकती हूँ, क्योंकि अब तो तुम्हारे छूने पर भी मुझे कष्ट नहीं होगा ?

विप्रलब्धा—

अहरहरनुरागाद् दूतिकां प्रेष्य पूर्वं
सरभसमभिधाय क्वापि सङ्केतकं वा ।
न मिलति खलु यस्या वल्लभो दैवयोगात्
कथयति भरतस्तां नायिकां विप्रलब्धाम् ॥२३७॥

यथा—

विप्रलब्धा—आचार्य भरत का मत है कि नायिका के द्वारा प्रतिदिन अपना सन्देश दूत आदि के द्वारा भेजने तथा अपनी आतुरता या सङ्केत स्थान की सूचना दे देने पर भी दुर्भाग्य या परिस्थितिवश (जब) उसका प्रियतम उसी स्थान पर आकर नहीं मिलता हो तो उसे *'विप्रलब्धा'* नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

स पुण्यजन्मा स्वयमभ्युपेत्य नायाति न प्रत्ययमेति चेतः ।
तदालि मिथ्याकथितं त्वयैव किं सुस्थिते तिष्ठसि कान्तमेहि ॥

वह बड़भागी वचन देकर भी जब खुद नहीं आया तो अब मेरे मन से उसका विश्वास उठ गया। सखी, तूने मुझे झूठ ही बतलाया। फिर तू यहाँ अब क्यों खड़ी है? तू (ही) मेरे स्वामी के पास चली जा?

कलहान्तरिता—ययाऽतिकोपया प्रणतोऽवधीरितः प्रियतमः कोपात् सा कलहान्तरिता। यथा—

कलहान्तरिता—जो नायिका अपने क्रोधी स्वभाव के कारण या अतिशय क्रोध के वश होकर क्षमा माँगने को झुके हुए प्रिय का भी तिरस्कार कर दे उसे '*कलहान्तरिता*' नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

किं चित्त रे व्यवसितं भवताद्य कोप-
चण्डालपक्षमकृथास्तमपास्य रत्नम् ।
सख्यः समाश्वसिहि मामधुनाभिधत्त
तर्हि क यूयमगमद्दयितो यदा मे ॥

ए मेरे मन, तूने इस चांडाल क्रोध का पक्ष लेकर उस रत्न को निकाल कर यह क्या कर डाला !! सखियों, अब तुम धीरज धरो और मुझे बतलाओ कि जब मेरा प्रियतम यहाँ से जाने लगा था तब तुम कहाँ (चली गयी) थीं?

प्रोषितभर्तृका—यस्यास्तु कार्यवशात् देशान्तरमुपगतः कान्तः सा प्रोषितभर्तृका। सा तु तदागमननिमित्तव्रतोपवासब्राह्मणपरिचर्यातनुतराङ्गयष्टिस्तस्यागमनमेव चिन्तयति। यथा—

प्रोषितभर्तृका—जिसका स्वामी किसी कार्यवश दूर देश में चला जाए उसे 'प्रोषितभर्तृका' नायिका समझना चाहिए। यह सदा अपने स्वामी के आने की प्रतीक्षा में चिन्तित रहा करती है और स्वामी की निर्विघ्न यात्रा के लिए व्रत, उपवास और ब्राह्मणों की सेवा करते हुए स्वयं को गला डालती है। जैसे :—

आलम्बितालक-लता-पिहितेक्षणास्मि
नेक्षे क्व शाखिनि खगो मधुरं विरौति ।
एतच्च मे स्फुरति वामकमक्षि सख्य'
चेत प्रसीदति किमद्य ममैति कान्तः ॥

सखियों, मेरी आँखें इन झूलनेवाली लटों से ढँक गयी हैं, इसलिये कुछ दिखाई नहीं पड़ता कि यह पक्षी किस डाल पर बैठकर ऐसा मधुर गान कर रहा है। पर आज मेरी बाँयी आँख फड़क रही है और मन में प्रसन्नता व्याप रही है; तो क्या आज मेरे स्वामी लौटेंगे ?

यथा च—

भर्तुं प्रोषितभर्तृका द्रुततरप्रत्यागमानागमौ
विज्ञातुं प्रवितीर्य पिण्डयुगलं तावदयार्द्रा स्थिता ।
नाज्ञासीदुभयञ्च तत्र बलवत्काकारवाडम्बर-
क्रूरैकक्षणलम्पटदग्धकरटश्रेणी विलुप्तात्मनि ॥

तथा—

जब प्रोषितभर्तृका नायिका अपने प्रियतम के शीघ्र लौटने और न लौटने की परीक्षा करने के लिये चावल के दो गोलों को रखकर आशा की मीठी कल्पना में डूबने लगी, तभी वहाँ आकर कौओं ने जोर की आवाज करते हुए उन गोलों को अपनी क्रूर लीला करते हुए बखेर डाला तो उस बेचारी को इस (अप्रत्याशित) घटना के कारण किसी एक बात का ठीक से ज्ञान न हो पाया और वह घबरा उठी।

स्वाधीनभर्तृका—यस्याश्चित्ररति क्रीडालालसः पार्श्वे तिष्ठति पतिः सा स्वाधीनभर्तृका । यथा—

स्वाधीनभर्तृका—जिस नायिका का स्वामी सदा उसके पास अनेकविध प्रणय क्रीड़ाओं की लालसा लिए हुए बना रहे तो उसे 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

क्षणं कराहतेनेव क्षणं चरणपातिना ।
कन्दुकेनेव कान्तेन स्वाधीनेन विचेष्टते ॥

यह नायिका अपने अधीन प्रिय के साथ गेंद जैसी क्रीड़ा करते

हुए कभी तो उसे हाथ से टक्कर लगाती है और कभी पैरों पर गिराती (रहती) है।

अभिसारिका—या तु दूतीमनपेक्ष्य गच्छति सा ऽभिसारिका। तत्र कुलजा पतिप्रार्थिता याति। यथा—पद्मावती वत्सराजम्। वेश्या त्वप्रार्थितैव। यथा—रम्भा नलकूबरम्। तत्र कुलजाया गमने—

सालीना स्वेषु गात्रेषु त्रास-विप्रेक्षितानना।
अवगुण्ठनसंवीता मूकीभूतविभूषणा॥ ३३८॥
वेपमानोरुयुगला चकिता च पदे पदे।
श्वासायासितसर्वाङ्गी कुलजा अभिसारिणी॥ ३३९॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसञ्चारा वेश्या स्यादभिसारिका॥ ३४०॥
वक्रतां दधती मार्गे यथा श्लोके कविर्नरः।
निश्चयं न समभ्येति पदोद्धारानरोपणे॥ ३४१॥
कुमुदोदरकुटीं शून्यां कुर्वती मधुपायिभिः।
निजामोदाहृतैर्वेश्या कान्तं यात्यभिसारिका॥ ३४२॥

अभिसारिका—जो नायिका किसी दूती की अपेक्षा किये बिना [अपने प्रिय से मिलने के लिए] प्रस्थान करती है उसे *'अभिसारिका'* नायिका समझना चाहिए। इनमें कुलजा नायिका अपने स्वामी के आमन्त्रण या सन्देश प्राप्त करने पर प्रस्थान करती है। जैसे पद्मावती का वत्सराज के पास अभिसरण करना। वेश्या नायिका बिना आमन्त्रण के अपने प्रिय से मिलने को जाती है। जैसे रम्भा का नलकूबर के पास अभिसरण करना।

जब कुलजा नायिका अभिसरण करे तो वह अपना शरीर कपड़ों से ढक लेती है, भय से चारों ओर देखती जाती है, मुँह पर घूँघट रख कर चलती है और गहनों की आवाज नहीं होने देती। अभिसरण के समय इसकी दोनों पिंडलियाँ भय से काँपती रहती हैं और जोरों से साँस चलने के कारण उसका शरीर थक सा जाता है।

जब सामान्या या वेश्या नायिका अभिसरण करती है तो वह नशे में रहती है और उसके मुँह से लड़खड़ाते हुए शब्द निकलते हैं,

आनन्द की कल्पना से उसकी आँखें खिली दिखतीं हैं और चाल लड़खड़ाती हुई उद्धत गति में रहती है। वह रास्ते में अपने पैर उसी प्रकार आड़े-तिरछे जमाती है जैसे कोई नौसिखिया[1] कवि अपनी रचना में अटपटे शब्द रखता हो। यह अपने शरीर पर लगाए गए सुगन्धित द्रव्यों से कमलों की गन्ध लेने वाले भौंरों को लुभा कर अपने स्थानों से हटा कर अपनी ओर खींच लेती है।

अनयोश्च काला नव बोद्धव्याः। श्यामा-प्रदोषः, चन्द्रोदयः, दुर्दिनम्, तुषारपातः, हेमन्तनिशा, निदाघमध्याह्नः, कोलाहलः, वाताली, महश्च। 'मदनविधुरितानां नास्ति कालः' इति केचित्। कुलजायाः पुनः श्यामाप्रदोष एव। यथा—

प्रियतम से मिलने के लिये इन सभी नायिकाओं (कुलजा या वेश्या) के लिये नौ समय उपयुक्त माने जाते हैं। जैसे कृष्णपक्ष की रात, चन्द्रोदय की सन्ध्या, बरसात की अँधेरी दिवा-वेला, बरफ गिरने का समय, हेमन्तऋतु की रात, ग्रीष्म ऋतु की दोपहर, कोलाहल या मेले का समय, चारों ओर वात्या या लू चलने का समय या किसी विवाह आदि उत्सव का दिन।

कुछ आचार्यों का मत है कि कामपीडितों के लिये कोई समय निश्चित नहीं होता।

कुलजा नायिका के लिये केवल कृष्णपक्ष की रात्रि का आरम्भ (प्रथम प्रहर) ही उपयुक्त समय माना जाता है। जैसेः—

दूतीमागमयस्व मा व्रज सखि स्वैरा प्रकृत्यैव सा
वशीकृत्य धनुर्न पश्यसि चिरादन्वेति मां मन्मथः।
मार्गोऽयं जनसङ्कटो विटपिनि न्यस्यामि किञ्चित्तमः
सान्द्रं नन्वभिसारिकासु कृपया भ्राम्यन्ति खद्योतकाः॥

---

१ कविर्नवः = नौसिखिया कवि जिसे अपनी रचना में उचित पदों का रखना नहीं आता हो। उक्त कथन की राजशेखर के निम्न उद्धरण से तुलना की जा सकती है।

यथाः—आवापोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त, सिद्धा सरस्वती॥
(काव्यमीमांसा G. O. S. पृ० २०)

सखि, दूती को (मेरे साथ) भेजो, तुम मत चलो, क्योंकि वह दूती तो स्वभावतः स्वैरिणी है [और] तुम धनुष चढ़ा कर मेरा पीछा करने को उद्यत इस काम को नहीं देख रही ! अरे, यह मार्ग बड़ा मसृण हो रहा है तो मैं इस पेड़ पर अपना शरीर टिका कर थोड़ा आराम कर लूँ। अँधेरा धीरे धीरे गहरा होता जा रहा है और हम अभिसारिकाओं पर कृपा करने के लिये भी इधर-उधर जुगनू घूमने लगे हैं।

> समयां वर्णयन्त्येके या स्त्री भर्तुर्गृहे सकृत् ।
> रतिमात्रक्रमभ्येति भीतिप्रोड्डीनजीविता ॥ ३४३ ॥
> चित्त एव वसन्त्यस्याः भावाः सर्वे मनोभुवः ।
> दुर्गतस्येव गर्भिण्याः दोहदाः सिद्धिवर्जिताः ॥ ३४४ ॥

कुछ आचार्यों के मत में इसके अतिरिक्त *'समया'* नामक एक अन्य प्रकार भी (नायिकाओं का) होता है।

जो रति सुख से आकृष्ट हो कर प्रिय के भवन में जाए और भय के कारण जिसके प्राण घबराते हों उसे *'समया'* (अभिसारिका) नायिका समझना चाहिए।

(भय के कारण) इस नायिका के मन में प्रियतम से मिलने की इच्छा और क्रीड़ा, विहारसुख आदि के सारे भाव बिना पूर्ण हुए रह जाते हैं जैसे किसी दरिद्र पुरुष की गर्भिणी भार्या के मनोरथ हों।

> इत्यासां समयां वर्जयित्वा लास्यविधौ चरितानि ।

लास्य में इन नायिकाओं की अवस्था या कार्यों को प्रस्तुत किया जाता है पर समया नायिका का अभिनय लास्य में नहीं रखना चाहिए।

अथ चेष्टालङ्कारा कथ्यन्ते—

> प्रकाशरूपकं सत्त्वं सत्त्वाद् भावाः समुद्भवाः (-स्थिताः) ।
> तेभ्यो हावादिनिष्पत्तिरित्याह भरतो मुनिः ॥ ३४५ ॥
> लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
> मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा ॥ ३४६ ॥
> विहृतश्चेति विज्ञेया स्त्रीणां भावाः स्वभावजाः ।
> हाव-हेलाक्षिविक्षेप-मौग्ध्य-मद-तपनान्यपि ॥ ३४७ ॥

चेष्टालङ्कार—अब हम (नायिकाओं के) चेष्टालङ्कारों[1] को बतलाएँगे। भरतमुनि का मत है कि 'सत्व' एक मानस गुण है जो प्रकाशात्मक स्वरूपवाला होता है। इस सत्व से भाव की और भाव से हाव (आदि) की उत्पत्ति होती है।

नायिकाओं के सहजगुण सम्पन्न अलंकारों में निम्न (दस) अलङ्कार आते हैं यथा—(१) लीला, (२) विलास, (३) विच्छित्ति, (४) विभ्रम, (५) किलकिञ्चित्, (६) मोट्टायित, (७) कुट्टमित, (८) विब्बोक, (९) ललित और (१०) विकृत। इसके अतिरिक्त हाव, हेला, विक्षेप, मौग्ध्य, मद और तपन भी सहज भाव माने जाते हैं।

लीला—

तत्र प्रियतमस्यानवाप्तसमागमा सखीनां पुरतः स्वचित्त-विनोदार्थं वेषगति-हसितभणितैरनुकृतिर्या क्रियते सा लीला। यथा—

लीला—जब प्रिय का मिलन न पाकर सखियों के समक्ष अपना मन बहलाने के लिये नायिका वेष, गति, परिहास तथा उक्ति आदि से अपने इष्टतम प्रिय का अनुकरण करे तो उसे 'लीला' समझना चाहिए। जैसे :—

वेणीबन्धकपर्दिनी सितत्तनुः श्रीखण्डपांसूत्करैः
केतक्येकदलेन्दुभृद्-बिसलता-व्यालोपवीतिन्यपि।
प्राक्पाणिग्रहणाद् विनोदविषये सख्याः पुरो लीलया
कुर्वाणानुकृतिं हरस्य दिशतु श्रेयांसि वः पार्वती॥

(नाग० सर्व० १३। १६)

---

१. आचार्य भरतमुनि ने लीला विलास आदि की स्त्रियों के स्वभावज अलङ्कारों में गणना की है परन्तु इन्हीं की चेष्टालङ्कारों में गणना करना बौद्ध आचार्य राहुल का मत है। चेष्टालङ्कारों में राहुल ने ही मौग्ध्य, मद, भाविकत्व तथा तपन की भी गणना की है। सागरनन्दी ने भाविकत्व को चेष्टालङ्कारों में नहीं लिया तथा हाव, हेला के साथ विक्षेप भी जोड़ दिया है। विक्षेप का यहाँ रखना पद्मश्री का अनुकरण है जिनने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नागरसर्वस्व' में लीला आदि सभी चेष्टालङ्कारों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वर्णन दिया है। पद्मश्री बौद्ध लेखक थे तथा यह भी सम्भव है कि पद्मश्री ने यह प्रेरणा आचार्य राहुल से ही ग्रहण की हो!

अपनी वेणी को ऊपर चढ़ा कर जटाजूट जैसी बाँधती हुई, चन्दन की धूलि को शरीर पर लेपन कर शुभ्र अंग बना लेनेवाली, केतकी की पखुरी को अपने मस्तक पर बाँध कर अर्धचन्द्र बना लेनेवाली, कमल-नाल के तन्तुओं से सर्प के यज्ञोपवीत जैसे धारण किये हुए अपने विवाह के पूर्व सखियों के समक्ष मनोविनोदार्थ अपने भावी वर शिवजी के समग्र स्वरूप का अनुकरण करनेवाली देवी पार्वती जी आपको समृद्धि प्रदान करें।

यथा च—

> एवं बाहून् विधत्ते चलयति चरणावेवमेवञ्च दृष्टिं
> न्यस्यत्यग्रे सखीनामिति हरनटने न्यस्यमाने भवान्याः।
> प्रस्ताधारब्धपूर्वं पृथुजघनतयालम्बमानान्तरान्त—
> क्रीडानारूढदूरोल्लसनरयविधिर्दण्डपादोऽवताद्वः ॥

तथा—

जब अपनी सखियों के समक्ष पार्वती ने शिव के नृत्य को प्रस्तुत किया तो वे बीच में इस प्रकार कहती चलीं—'वे अपने बाहुओं को [नृत्य के अवसर पर] इस प्रकार रखते थे, फिर इस प्रकार अपने पैरों को उठाते थे और इस तरह अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाते थे'। इस प्रकार नृत्य के बीच कह कर जब पार्वती जी ने अपने उठाये हुए सीधे तने पैर को नीचे रखा तभी अपनी भारी जघा और हिलते हुए वक्षों के कोनों को देख कर उन्हें लज्जा आ गयी और (पुनः) वे दूर तक फैलाए हुए उसी पैर को वेग से पृथ्वी पर सीधा न रख सकीं। भगवती पार्वती जी का इस प्रकार उठा हुआ सीधा पैर आप सभी की रक्षा करे।

विलासः—प्रियोपगमने यत् स्थानासनगमनविलोकितेषु विकारोऽकस्मात् क्रोधस्मितचमत्कृतयो मुखस्य विकूणनं स विलासः। तद्यथा—

विलास—प्रिय के समीप जाने के समय खड़े होने, बैठने, चलने और देखने में अकस्मात् विशेष परिवर्तन के साथ क्रोध, मुसकुराहट और आश्चर्य मिश्रित भावों में मुँह को रखते हुए इठलाना 'विलास' कहलाता है। जैसे :—

> स्खलितबहुलं पादन्यासे विलोकितमन्यत
> स्थितिरविषये वक्त्राम्भोजं प्रयाति विकूणनम्।

स्मितमपि मुधा व्यर्थं क्रोधो वृथैव चमत्कृति-
र्दयितसविधं यान्त्यास्तन्व्याः विलासरसो ह्ययम् ॥
(नाग० स० १३ । १८)

प्रिय के समीप जाने की दशा मे कृशाङ्गी युवती द्वारा अपने पैरों को उठा कर आगे रखने मे ठमकना या चूक हो जाना, बिना किसी लक्ष्य के ही दृष्टि को घुमाना और उसका किसी एक स्थान पर न टिकना, मुख कमल को सिकुड़ाना, अकारण ही मुसकान बिखेरना तथा आश्चर्य करना आदि ऐसे कार्य हैं जो मौज और आकर्षण के करतब बन जाते हैं।

विच्छित्तिः—मालाभरणाच्छादनविशेषाणां कुतश्चित् प्रियापराधादीर्ष्ययाऽनादरेण सखीनां प्रयत्नाद्धारणं विच्छित्तिः । तद्यथा—

विच्छित्ति—प्रिय के द्वारा (किसी) अपराध के हो जाने पर खीझ या डाह के कारण फेंके गए माला, भूषण, वस्त्र आदि विविध पदार्थों को सखियों के द्वारा पुनः नायिका को पहनाया जाना *'विच्छित्ति'* कहलाता है। जैसे :—

सखि प्रेयान् स्वामी स्खलितमकरोत् क्षन्तुमुचितं
विधत्स्वालङ्कारं नहि नहि बलादर्पयसि किम् ।
अयि श्रेयश्चिन्त्यं सततमबलाभिः प्रणयिनो
विभूषा मा मुञ्च प्रतनुमपि विच्छित्तिविषयाम् ॥
(नाग० स० १३ । ८)

सखि, तेरे प्रिय स्वामी ने यदि कुछ अपराध (विप्रिय) भी किया हो तो उसे क्षमा करना ही उचित है (अतः) तुम इन अलङ्कारों को (अब) पहिन लो। अरे, तुम मुझे जबरन इन अलङ्कारों को क्यों पहिना रही हो ? अरी, स्त्री को अपने भर्त्ता का सदा मंगल विचारना चाहिए और गहनों को कभी इस प्रकार नहीं उतारना चाहिए क्योंकि ये थोड़े होने पर भी (प्रिय को आकर्षित करने में) बड़े शोभा बढ़ाने वाले या प्रभाव रखने वाले होते हैं।

अन्ये—*प्रियेण दत्तं प्रीतिनिबन्धनं स्वल्पमपि भूषणं विच्छित्ति*मिच्छन्ति । यथा—

दूसरे आचार्यों के मत में प्रिय के द्वारा दिया हुआ छोटा सा गहना भी प्रीति की निशानी होने से जब नायिक द्वारा धारण किया जाए तो उसे भी *'विच्छित्ति'* समझना चाहिए। जैसे :—

सपत्नीनामग्रे शिरसि दयितेन प्रतिधृता
वहत्येका शुष्कामपि बकुलमाला वरतनु ।
न वस्तु ध्यातव्यं महदहहमेतत् प्रियजने
प्रवृत्ति प्रेम्णोऽस्मिन्ननुहरति सौभाग्यवसतिम् ॥

यह युवती अपनी सौतों के बीच सूखी बकुलमाला को भी—जो उसके प्रिय ने मस्तक पर गजरे जैसी उसे पहिनाई थी—धारण किये है। (क्योंकि) प्रियतम के द्वारा प्रेम से दी गई वस्तु के छोटे-बड़े होने का विचार अनुचित (होता) है। यह तो प्रेम का वह कार्य (या निशानी) है जो स्वय सौभाग्य का स्थान होने से एक विशिष्ट आकर्षक स्वरूप लिये होता है।

विभ्रमः—अनिमित्तमासनादुत्थायान्यत्रगमनं प्रियप्रारब्धकथामाक्षिप्य सख्या आलपनमुभैव हसितक्रोधौ पुष्पादीनां वाञ्छा, तस्य सहसैव परित्यागः, वस्त्राभरणमाल्यानामकारणतः खण्डनं मलनं (वा) विभ्रमः। तद्यथा—

विभ्रम—बिना कारण अपने स्थान से उठ कर चल पड़ना, अपने स्वामी की बातों को अनसुनी कर सखी से सभाषण करने लगना, बिना कारण हँसना और क्रोध करना, पुष्पों आदि की इच्छा करना और फिर एकदम उन्हें फेंक देना, वस्त्र अलंकार तथा पुष्पमालाओं को तोड़ या मल डालना आदि को *'विभ्रम'* समझना चाहिए। जैसे :—

आस्तां नाथ भवत्कथा सखि लता सिक्ता त्वया माधवी
धान्तैतन्मम सम्प्रयच्छ कुसुमं किं वाऽमुना मे फलम् ।
माल्यं निर्मलयामि मौक्तिकमिदं न्यस्तं त्वया दह्यताम्
इत्थं विभ्रमसम्भ्रमो मदयति प्रेयासमेणीदृश ॥

(नाग० स० १३। १४)

अन्यस्त्वन्यथा लक्षणमाह—'योषितां यौवनविकारो विभ्रम इति।' तद्यथा—

स्वामिन्, अब अपनी बात रहने दो। सखि, तुमने उस माधवी लता को तो सींच दिया है? प्रिय, जरा इस पुष्प को तो मुझे दे दो या अब रहने दो, इससे कोई लाभ नहीं है। मैं अब इस पुष्पमाला को मल दूँगी और तुम्हारे द्वारा लादी गयी यह मोतियों की माला भी जल जाए तो अच्छा। इस प्रकार मृगनयनी ललनाओं के चपलतापूर्वक किये जानेवाले प्रदर्शन उनके प्रियों को और भी मदहोश कर डालते हैं। दूसरे आचार्यों के अनुसार 'विभ्रम' का लक्षण है—'स्त्रियों में स्थित उद्दाम यौवन का जोश या विकार ही 'विभ्रम' है।' जैसे :—

> यस्मिन्बाल्यविदूषकः स्मितसुधावर्षैकविष्कम्भको
> रागाङ्को रतिसूत्रधारविकृतिप्रामङ्गभूविभ्रमः ।
> तारुण्यं सुतनोः स्मरप्रकरणं सामग्र्यमप्याश्रितं
> नो विद्यो कतमोऽत्र नायकपदे धात्राधिरोपिष्यते ॥

जिसमें बाल्यकाल (कन्यात्व) ही विदूषक है, मुसकानों की अमृत वृष्टि ही विष्कम्भक है, अनुराग अंक है, रति सूत्रधार है, रूपभेद [बार-बार अनेक स्वरूप बदलना,] ही पूर्वरंग है तथा यौवन ही विभ्रम है ऐसा इस सुन्दरी का प्रणय ही एक नाटक [स्मर प्रकरण] है जो इन अङ्गों से अपनी पूर्णता तो बनाता है पर अभी तक यह विदित नहीं हो पाया कि इस नाटक के—नायक पद पर विधाता किसे बैठाएगा ?

किलकिञ्चितम्—यत्र किल शुष्करुदितहसितक्रोधभयत्रासमिश्ररूपमिष्टजनदर्शनाविर्भूतहर्षवशात् क्रियते तत् किलकिञ्चितम्। तद्यथा—

किलकिञ्चित—जहाँ बिना आँसुओं के रोना तथा अकारण हास्य, क्रोध और भय से मिश्रित स्वरूप को प्रिय के दर्शन से होनेवाले हर्ष के अवसर पर उतावली में प्रकट किया जाए तो उसे *'किलकिञ्चित्'* समझना चाहिए। जैसे :—

> क्रन्दत्यवाष्पमभये भयमातनोति
> क्रोधञ्च नाटयति तत्क्षणमेव हास्यम् ।

आलम्ब्य हर्षमबला किलकिञ्चितारव्यं
भवान् विभावयति पुण्यवतो ऽन्तिकस्था ॥
(नाग० स० १३ । १२)

यह युवती बिना आँसुओं को निकाले ही रोने लगती है, बिना किसी भय के ही डरती है और कभी क्रोध और कभी मुसकान बतलाती है। इस प्रकार हर्षविभोर हो कर यह 'किलकिञ्चित्' के सभी लक्षणों को प्रियतम के समीप बतलाते हुए उसके सौभाग्य [भाग्यशालिता] की सूचना दे रही है।

मोट्टायितम्—प्रियतमकथाश्रवणावर्जितकर्णया यद् भङ्क्त्वा-ऽङ्गानि विजृम्भितं तत् मोट्टायितम्। तद्यथा—

मोट्टायित—प्रियतम के विषय में कोई बात चले तो उसे सुनने के लिये अपने कान लगाना और बीच बीच में अपने अवयवों को आलस्यवश जभाई लेते हुए मरोड़ना आदि को 'मोट्टायित' समझना चाहिए। जैसे —

तस्याद्भिद्धितयं नमन्ति विबुधाः सैवैकः सर्ववित्
त मृत्युञ्जयमामनन्ति मुनयः सोऽप्यप्यपाणिग्रहः।
इत्याकर्ण्य कथा हरस्य विजयापार्श्वे विवाहात् पुरा
भङ्क्त्वाङ्गानि विजृम्भितं गिरिभुवो मोट्टायितं पातु वः॥
(नाग० स० १३ । २८)

भगवती पार्वती का वही मोट्टायित भाव आपकी रक्षा करे जिसमें विवाह के पूर्व विजया सखी के समीप बैठी हुई पार्वती ने—'देवगण उनके चरणों की वन्दना करते हैं, ऋषिजन उन्हें मृत्युञ्जय मानते हैं और अभी उनका विवाह नहीं हुआ है' आदि शिवजी के किये गए वर्णनों को बड़े ध्यान से सुना और फिर अपने अङ्गों को मरोड़ा और जभाई ली।

कुट्टमितम्—प्रियस्य रतिसम्भोगे गाढपरिपीडनेषु उद्दामदर्पनिवेशेन हि किं पीडयसि न सहास्मीति सुखे दुःखाविष्करणं कुट्टमितम्। तद्यथा—

कुट्टमित—सम्भोग काल में प्रिय के द्वारा किये गए गाढ आलिङ्गन-जन्य आनन्द प्राप्त करते हुए भी दुःख का प्रदर्शन करते हुए—'आप

क्यों दुःख दे रहे हैं ? हाय, अब नहीं सहा जाता' आदि कहना 'कुट्ट-मित' समझना चाहिए। जैसे :—

किं कान्त निर्दयमयं भुजकन्दलीभ्यां
द्वाभ्यां निपीडयसि मां न सहिष्णुरस्मि।
वामभ्रुवामिति सुखेष्वपि दुःखमाजां
धन्यः शृणोति यदि कुट्टमिताक्षराणि॥
(नाग० स० १३। ३०)

'प्रिय, तुम अपनी दोनों कोमल भुजलताओं से मुझे इतना निर्दयतापूर्वक क्यों दबा रहे हो? मैं इसे सहन नहीं कर सकूँगी!' सुख में भी दुःखों को बतलाने वाली सुन्दरी युवतियों के ऐसे 'कुट्टमित' दशा के शब्दों को जो सुनता है वह निश्चित ही भाग्य-शाली है।

यथा च—

आश्लेषे निविडे ददत्यपि वपुर्नेते न नेत्यक्षरं
वाञ्छत्येव नखक्षतं वितनुते जातां चमत्कारिताम्।
दत्ते चाधरमस्य खण्डनविधौ धूनोति हस्ताम्बुजं
तन्वी कुट्टमितक्रमेण दयितुश्चेतः समाकर्षति॥

अपने शरीर को आलिङ्गन की गाढ़ता से बाँध कर भी जो नहीं-नहीं शब्दों का उच्चारण करने लगती है। नखक्षत की चाह रख कर भी उसके अनुभव में जो आश्चर्य जताती है और अपने अधरों को चुम्बन के लिये अर्पित करने के साथ ही अधरक्षत के समय अपने करकमल को कंपाती है। इस प्रकार 'कुट्टमित' की चेष्टाओं से वह कृशाङ्गी युवती अपने प्रियतम का मन मोहित कर लेती है।

बिब्बोकः—इष्टानां भावानां प्राप्तेऽप्यनास्थागर्वसम्भवः पाद-प्रहारः प्रियस्य कृतागमः चरणयोः काञ्च्या संयमनं पुष्पमाल्या ताडन-मनादरपरिग्रहो वा बिब्बोकः। तद्यथा—

बिब्बोक—अपने इष्ट पदार्थों को भी अनिच्छा या अहंकारवश ठुकरा देना, अपराधी प्रिय को पैरों से पीटना, उसके पैरों में करधनी

बाँध देना, पुष्पमाला से पीटना या अनादरपूर्वक भर्त्सना करना 'बिब्बोक' समझना चाहिए। जैसे :—

> अनास्था वस्तूनामभिमततराणामुपहृतौ
> घनो गर्वस्तन्व्या रुषविहसिताडम्बरविधिः।
> प्रहार पादाभ्यां यमनमपि काञ्च्या चरणयो
> कृतागा बिब्बोकं तदिदमिति धन्योऽनुभवति॥
> (नाग० स० १२। १०)

यह सुन्दरी अपनी इष्टतम वस्तुओं को सामने रखने पर भी उन्हें देखने के लिये अपना मुँह ऊँचा नहीं करती है। जिसका बढ़ा हुआ गर्व क्रोध और हँसी के बडे बडे आडम्बर खडे करता है। जो अपराधी प्रियतम को अपने पैरों से ठोकर लगाती है और उसके पैरों को करधनी से बाँध देती है। इस प्रकार के 'बिब्बोक' का अनुभव लेनेवाला उसका अपराधी पुरुष सचमुच भाग्यशाली (होता) है।

ललितम्—चरणनिपात-रणरणित-नूपुरं मसृणचरणरेखावशेष-स्थितत्रिवलितरङ्गसंस्थानसमुन्नमित-भुजमुरःस्थलप्रसारणाद्द्विगुणपृथक्कृ-तस्तनस्तवकं स्कन्धावसक्तैककुण्डलमुल्लसितभ्रु साचीकृतविलो-कितं ललितमिति। तद्यथा—

ललित—जहाँ पैरों को पृथ्वी पर रखने पर नूपुरों की झनझनाहट होने लगती हो, कोमल चरणों को पृथ्वी पर टिकाते हुए खडे हो जाने पर रेखाओं की लहरें अंकित हो जाती हो, भुजाओं के ऊपर उठाने पर नाभि-प्रदेश में तीन रेखाएँ लहर जैसी उभर आती हों, छातियों के फैलाने पर दोनों उरोज गुच्छों जैसे विभाजित हो कर उभर आते हों, कन्धों से कुण्डल टकराने लगते हों या टिक जाते हों और भौंहों को नचा कर तिरछी निगाहों से देखा जाता हो तो उसे '*ललित*' नामक अलङ्कार समझना चाहिए। जैसे —

> स्कन्धाश्रितैकमणिकुण्डलमुन्नतैक-
> भ्रूवल्लिसाचिविनिवेशितदृष्टिपातम्।
> चेतो न कस्य ललितं हरति प्रियाया
> हासो यतोऽग्रुनिरुद्धदेन्दुकान्ति॥
> (नाग० स० १२। ३६)

'अपनी भौंहरूपी लता को झुका कर वह तिरछेपन से जब देखती है तो उस सुन्दरी के एक कन्धे से मणिजडित कुंडल टकराने लगता है और मुसकानों के बीच मुँह से बाहर आनेवाली दाँतों की चन्द्रिका कपड़ों से टकरा कर रुक जाती है' इस प्रकार प्रिया के ललित अलङ्कार किस प्रिय के चित्त को नहीं भाते या मुग्ध कर लेते ?

विकृतम् — वाच्यानामर्थानां ज्ञानेऽपि यदभाषणं तद् विकृतम् ।

तद्यथा—

विकृत (विहृत ?)—किसी पदार्थ का ठीक से ज्ञान रखने पर भी उसका सही वर्णन न करना 'विकृत' समझना चाहिए। जैसे :—

> कण्ठे क एष तव वल्लभ नूपुरोऽयं
> तत्पादभूषणमयं वलयस्तदानीम् ।
> इत्यादिवाच्यमविभाव्य वदौ मृगाक्ष्या
> ज्ञानेऽपि तद् विकृतमुत्सुकतां तनोति ॥
>
> (नाग० स० ११ । २१)

'प्रिय, तुम्हारे गले में क्या है ?
यही पैंजन, और क्या।
तब तो यह पैरों का गहना है।
अच्छा, तो इसे कड़ा समझ लो, इस प्रकार ज्ञान रहते हुए भी उस मृगनयनी द्वारा—बिना पदार्थ का ध्यान रख कर किये हुए संभाषण प्रिय की अभिलाषा और कौतूहल को और भी बढ़ा देते हैं।

हावः—हरविलोचनानलज्वलित मदन-ताप-निर्वापण-सुधा-सार-सोदरस्मितं प्रतिपदमङ्गिविदग्धवचनमपाङ्गभागामिकविलोकितं स्नेहनिस्यन्दि प्रेमानुबन्धि कुलपालिकाचरणमुचिदाक्षिण्यानुवर्ति बाष्पभररुद्धकण्ठत्रुटि दुःखनिर्वापि बाष्पगद्गदमालपितं यत् तरुण्याः ॥ हावः ।

तद्यथा—

हाव—त्रिपुरारि शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि से दग्ध होनेवाले काम के सन्ताप को दूर करने में समर्थ तथा अमृत के तात्त्विक-सार के समान मुसकान से युक्त, उच्चारित किये गए प्रत्येक पद में कलापूर्ण अभिव्यक्ति के साथ उक्ति कौशल लिये हुए चितवनों को भेजने और

खींचने के भावों से स्नेहाभिव्यक्ति करनेवाले दृष्टिपात के साथ प्रणय के परिणामों के निदर्शक, कुलीनता और विनयपूर्ण वृत्ति के सूचक, उदारता और सारल्य से अनुसृत, आँसुओं से रुँधे कण्ठ से उच्चारित तथा स्नेहाश्रु से संवलित युवती के गद्गद प्रेमोद्गार जिनके कथन मात्र से दुःख शान्त हो जाए तो ऐसे उद्गारों से आपूरित उक्तियों को 'हाव' समझना चाहिए।

जैसा कि कहा भी है :—

प्राप्तेषु शृङ्गाररसाश्रयेषु भावेषु कामाङ्कुरचिह्नभूतम्।
उत्पद्यते यत् स्मितवीक्षितोक्तम् उन्मीलितं वामतया स हावः।।३४८।।
(ना० स० १३। २०)

जो शृङ्गार रस का आश्रय लिए हो, जिनमें काम या अभिलाष के अंकुर सूचित होते हों, जो मुसकान और दृष्टिक्षेप के साथ कहे जाँए तथा ऐसे प्रतिकूल वचनों से जो प्रकट होता है उसे 'हाव' समझना चाहिये।

हेला—शृङ्गाररसप्रवृद्धौ या रत्यभिनिवेशनिष्ठा सा हेला।

तद्यथा—

हेला—शृङ्गार के विस्तार प्राप्त करने या प्रेम के अतिशय बढ़ जाने पर रति के लिए की जानेवाली हठ का नाम 'हेला' है। जैसे :—

आसज्य स्वयमेव चुम्बनविधिर्यात्म्या विनालिङ्गनं
तल्पान्ते जघनेन वेपथुमता पर्यायेण जानुनि।
क्रोधोक्तं मम मर्षयेत्यनुनयस्तन्व्याः स्मरव्रीडित-
प्रौढेच्छाभिरिति प्रियस्य हृदयं हेला बलात् कर्षति।।
(ना० स० १३१६)

जब उस कृशाङ्गी ने (अपने) प्रिय का चुम्बन लेकर बिना किसी अनुनय के कम्पित होने वाली अपनी जंघाओं को नायक के घुटनों तक फैला कर आलिङ्गन करते हुए प्रिय के बिछौने के एक कोने पर करते हुए यह कहा कि—'हे प्रिये, तुम क्रोध में कहे हुए मेरे वचनों को भूल जाओ' और इस प्रकार सकेतों से अपनी संभोग की प्रबल आकांक्षा को प्रकट किया तो इस 'हेला' के द्वारा वेग से प्रिय का मन उसने अपनी ओर बलात् आकर्षित कर डाला।

विक्षेपः—अर्धविसक्तधम्मिल्ल विसस्थुल-निवेशिततिलक लोचनैकस्मकज्जललवोऽवहेलधृतपतितजघनसिचयाञ्चल ताम्बूलरागलेखला-ञ्छितैकाधरप्रदेशो विविधविकारनाट्यनर्तको विक्षेपः। तद्यथा—

विक्षेप—'विक्षेप' में केशरचना या चोटी का आधा भाग बँधा और आधा खुला रहता है, ललाट पर तिलक ठीक तरह से नहीं लगाया गया होता है, एक आँख में ही काजल का थोड़ा स्पर्श मात्र किया जाता है, जघाओं से खिसकने वाले कपड़े को लापरवाही से थामा जाता है, एक या ऊपरी ओठ पर ही पान की ललाई छायी रहती है और अनेक मानसिक विकारों या परिवर्तनों का (जिसमें) अनवरत नर्तन चलता रहता है [तो इस सभी क्रियाओं के द्वारा 'विक्षेप' समझना चाहिए]। जैसे —

धम्मिल्लं बद्धमुक्तं तिलकमसकलन्यस्तमृगिचह्नं धत्ते
दृष्टावेकत्र बालाञ्जनमुरसि रणत्किङ्किणी रत्नकाञ्ची।
अंसोत्क्षिप्तार्धहारा क्रमुकरसकणालञ्छितैकाधरान्ता
कान्ता विक्षेपशिक्षास्वपि हरति मनाक्स्रस्तरुद्धोरुवासा॥

यद्यपि उस सुन्दरी के केश का जूड़ा आधा ही बाँध कर छोड़ दिया गया है, ललाट का तिलक ठीक स्थान पर नहीं लगा है, एक आँख में काजल का स्पर्श मात्र हुआ है, झनझनाने वाली मणिजटित करधनी छाती तक खिसक आयी है, गले का हार ऊपर चढ़ा कर कधों पर रख लिया गया है, ओष्ठ के एक भाग में ही पान सुपारी का रंग चढ़ पाया है और जघाओं से धीरे-धीरे खिसकने वाले वस्त्र का कोना थामा गया है पर फिर भी यह 'विक्षेप' प्रियतम के मन को अपनी ओर खींचने में समर्थ हो रहा है।

मौग्ध्यम्—

मौग्ध्यं—बाल्यत्र्यपगमाद् यद्विसदृश वचनम्। लोके यस्य ध्यारिमेति व्यवहार। तद्यथा—

यदादि मे चन्दनबिन्दुरेष सख्या ललाटे लिखितस्तदादि।
शिरोव्यथा मेऽस्ति कथ नु मातः पर्याहरं पौरजना वदन्ति॥

यथा च—

के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।
नाथ मत्कङ्कणे न्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥

मौग्ध्य—बचपन बीत जाने पर भी भोलीभाली या अप्राकृतिक बातें करना *'मौग्ध'* समझना चाहिए। इसको लौकिक भाषा में *'आरिम'* कहा जाता है। जैसे :—अरी मैया, मेरी सखियों ने जब से मेरे भाल पर चन्दन तिलक लगाया तभी से मेरे सर में उसके भार के कारण दर्द होने लग गया। फिर नगर के ये मजदूर इतने भारी सामान को किस प्रकार ढो लेते होंगे, जरा बतलाओ तो ?

और भी—हे स्वामिन्, बतलाइये वे वृक्ष कौन हैं, किस गाँव में होते हैं और उन्हें किन ने लगाया है ? जिनके फल मेरे कंकनों में जड़े हुए ये मोती हैं।

मदः—तारुण्यातिशयजन्मा रभसः सुरापानप्रणयी मद इव नैक-विकारभूमिः मदः । तथथा—

मद—उद्दाम यौवन में उत्पन्न होने वाला एक जोश जो मदिरा-पान से होने वाले नशे के समान अनेक परिवर्तन या विकारों को उत्पन्न कर दे तो उसे 'मद' समझना चाहिए। जैसे :—

आलापः स्मितकौमुदीसहचरो दृष्टिः महर्षोल्लसा
भ्रूर्नृत्याध्वरदीक्षिता चरणयोर्न्यासः समे भङ्गुरः ।
वेषेषु क्षणिकस्पृहा रतिविधावद्वैतवादाश्रयं
तन्व्याः नैकविकारभूर्मधुमदप्रायो मदः स्फूर्जति ॥

उसकी बातें मुसकान की चाँदनी के साथ निकलती हैं, उसकी आँखें हर्ष के उल्लास से चमकीली बनी रहती हैं, उसकी भौंहों ने नृत्ययज्ञ की दीक्षा ले ली है और उसकी चाल हर डगों पर लड़खड़ाती रहती है। अपनी सजावट में उसे कम लगाव रह गया है और रतिक्रीड़ा के व्यवहार में अद्वैतवाद का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इस प्रकार अनेक परिवर्तनों के प्रदर्शन में कारणीभूत उस सुन्दरी का मद भाव मदिरा के नशे के समान प्रकट होकर मदमस्त बना रहा है।

तपनम्—प्रियजने क्वापि गते प्रहरार्धमपि नागच्छति स्वयमेव परिकल्पित-दौर्भाग्य-ज्वरगृहीता क्षणरुदितश्वसित-स्वप्न-द्वारावेक्षण शिरो-व्यथादिविषयं **तपनम्**। तद्यथा—

तपन—कार्यवश बाहर जाने वाले प्रिय के आधे पहर तक न लौटने पर नायिका द्वारा उसके विषय में स्वयं ही किसी अनिष्ट या दुर्भाग्य की कल्पना करते हुए ज्वराक्रान्त हो उठना, क्षण क्षण में सिसकना, जोरों से सांस लेना, सपने देखना, दरवाजे की ओर दृष्टि दौड़ाना तथा (इसी कारण) सर दर्द होने लगना आदि को 'तपन' समझना चाहिए। जैसे :—

प्राप्ते न प्रहरार्धमेव दयिते भङ्क्त्वा नितम्बे मिथ
संसक्ताङ्गुलिजालमध्यमधुना सख्य कृतार्था इति।
व्याहार स्वपनं मुहुः प्ररुदितं गौर्यर्थनाभ्यर्चनं
तन्वङ्गया· तपनं करोति कृतिन प्रेमाणमुच्चैरिदम् ॥

(ना० स० १३ । ३४)

प्रिय के चले जाने के बाद यद्यपि अभी आधा प्रहर ही बीता है पर फिर भी एकान्त में अपनी कमर झुका कर उस पर अपनी सारी उंगलियों को एक साथ मिला कर रखते हुए वह कहने लगी—'अब मेरी सखियों (सौतों ?) को सन्तोष मिलेगा' फिर कई बार नींद लेते हुए, कभी रो कर उस कृशाङ्गी युवती ने पार्वती जी से मन्नत होते हुए पूजन करते हुए प्रार्थना की और इन सभी बातों ने उसके भाग्यशाली नायक के अनुराग को और बढ़ा डाला।

सङ्कीर्णा एवैते प्रायेण भवन्त्यलङ्काराः।
एकस्योत्पादः पृथक् पृथङ् नेष्यते शुद्धः ॥ ३४९ ॥

तथा हि—

लोकेषु दुर्लक्ष्मनोनिनिरिष्टम्
आत्मानमावेदयितुं त्वरावान्।
स्त्रीणां विलासादि-विचेष्टितानां
कामप्रवृत्तिं न सहत्यनङ्गः ॥३५०॥ इति।

(एक ही उदाहरण में) ये अलङ्कार प्रायः मिले हुए या साथ साथ (भी) प्राप्त होते हैं। इनमें प्रत्येक का पृथक्-पृथक् शुद्ध या अमिश्रित स्वरूप में प्रयोग आवश्यक नहीं होता है।

यद्यपि काम अदृश्यस्वरूप वाला होता है परन्तु फिर भी वह जगत् के सभी जन मानसों में व्याप्त रहता है और बड़ी शीघ्रता से जब प्रकट होता है तो स्त्रियों के आन्तरिक विलास आदि चेष्टाओं के द्वारा अलङ्कारों की विस्तारक गति को किसी प्रकार (की) क्षति नहीं पहुँचाता।

अथ नाटिका—

यथोच्यते—

सभेदा कैशिकी यत्र शृङ्गारद्वयमुज्ज्वलम्।
चतुरङ्कं सहासश्च नाटकं नाटिकां विदुः॥ ३५१॥

नाटिका—अब हम नाटिका का स्वरूप बतलाते हैं। जैसा कि कहा भी गया है :—

जिसमें कैशिकी वृत्ति के (सभी) अङ्ग हों, शृङ्गार रस के दोनों [संयोग, विप्रलम्भ] प्रकारों का निवेश रहे, चार अङ्क हों तथा नाटक के समान हास परिहास युक्त घटनाएँ हो तो उसे *'नाटिका'* समझना चाहिए।

यथा—

प्रकरणनाटकभेदादुत्पाद्यवस्तुविषया नायको यत्र नृपतिः।
अन्तःपुरसङ्गीतककन्यामधिकृत्य कर्त्तव्या॥ ३५२॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी।
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोध[दम्भ]संयुता चापि।
नायक-दूती-देवी-परिजनवती नाटिकेति विज्ञेया॥ ३५३॥

(ना० शा० २० । १०७-१०८)

तथा [भरत मुनि ने भी] कहा है कि—

नाटक तथा प्रकरण के मिश्र लक्षणों से उत्पाद्य कथावस्तु और क्षत्रिय राजा जैसे नायक को तथा अन्तःपुर में विद्यमान किसी संगीत कलाविद् कन्या के चरित्र को लेकर जिसकी रचना की जाए उसे *'नाटिका'* कहते हैं। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता रहती है, चार अंक होते हैं, ललित अंग विन्यासों से पूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया जाता है, राजकीय

आचार व्यवहार तथा क्रीड़ा विहारों का शालीन प्रस्तुतीकरण रहने के साथ नायक, दूती, महारानी तथा उनकी दासियों आदि से युक्त रहने वाली घटनाओं से पूर्ण नाट्यरचना को *'नाटिका'* समझना चाहिए।

तत्र समेदा कैशिकी वृत्तिः। नर्म-नर्मगर्भ-नर्मस्फोट-नर्मस्फञ्जा श्चत्वारोऽस्या भेदाः। शृङ्गारश्च सम्भोगो विप्रलम्भश्च। हासो विदूषक-विषयः। अङ्कचतुष्टयं मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहण-सन्धियुक्तम्। अन्तः-पुरे कथमपि निवेशिता कन्या परिणयविधियुक्ता। धीरललिता देवी, तस्या एव क्रोधः, तत्रैव राज्ञः प्रसादनविधिः। सम्भोगश्च देव्याः स्वा-धीनभर्तृकाविषयः। कन्यायाः सम्भोगः विप्रलम्भश्च कर्तव्यः, येनास्या उत्कण्ठिता-विरहिणी-लास्याभिलाषादयश्च (दशाः) दर्श्यन्ते। राजा चात्र भार्याजितः सविधेयः। न तु पूर्व-नायिकाप्रणयविरोधी। नायिका-यैव भर्तुरभ्युदयिनः 'अतः परं किं ते करोमी' त्यभिधाय संहारः कर्त्तव्यः। अत्र निदर्शनं प्रमेयी, रत्नावली चेति।

लक्षण में कैशिकी के अंगों के रखने का आशय है कि नाटिका में कैशिकी वृत्ति के सभी प्रभेद रखे जाएं। कैशिकी के चार प्रकारों के नाम हैं—(१) नर्म, (२) नर्मगर्भ, (३) नर्मस्फोट तथा (४) नर्मस्फञ्ज। शृङ्गार के (दो) प्रकारों से आशय है कि इसमें संयोग तथा विप्रलंभ शृंगार की योजना रहनी चाहिए। हास-परिहास विदूषक के द्वारा होता है। इसमें चार अंक होते हैं; मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। अन्तःपुर में किसी परिस्थिति या दुर्भाग्य-वश रखी गयी [राज] कन्या के साथ [प्रणय के बाद] विवाह होने की घटना रहती है। इसमें महारानी धीरललिता (नायिका) होती है। इसी को क्रोध आता है और महाराज (नायक) द्वारा इसी को प्रसन्न किया या अनुकूल बनाया जाता है। इसमें संयोगशृंगार का स्वरूप महारानी के साथ दिखलाया जाता है क्योंकि स्वाधीनभर्तृका नायिका के ही वश में नायक रहता है। इसमें कन्या के साथ संभोग तथा विप्रलंभशृंगार के स्वरूपों की संयोजना रहनी चाहिए जिससे उसकी उत्कण्ठा, विरह-दशा लास्य तथा अभिलाषा आदि दशाओं का प्रदर्शन किया जा सके। इसका नायक मुख्य रानी से डरनेवाला (या दबनेवाला) होता है। नायक अपनी प्रथम प्रिया के साथ प्रणय का विरोधी नहीं होता। इसकी

समाप्ति भी मुख्य (नायिका) महारानी के द्वारा—'अब मैं तुम्हारे लिये और कौन प्रिय या इष्टतम कार्य करूँ' आदि को-स्वामी के अभ्युदयार्थ—कहते हुए की जाती है। नाटिका के उदाहरणों में मामेयी[1] तथा *रत्नावली* नाटिकाओं को लिया जा सकता है।

तोटकम्—

तोटकं—नाटकस्यैव प्रभेदः। आहाश्मकुट्टः—

'दिव्यमानुषसंयोगोऽप्यङ्केऽप्यङ्के विदूषकः।'

नखकुट्टस्त्वाह—

'दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकार्थकम्।' इति

बादरायणोऽप्येवमाह—

'तोटकं तद्धि विज्ञेयं दिव्यमानवसम्भवम्।' इति च।

तोटक या त्रोटक—(नाटिका के समान ही) नाटक का एक विशिष्ट प्रकार 'तोटक' कहलाता है। जैसा कि *अश्मकुट्ट* आचार्य ने बतलाया है '—'तोटक में दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण हो जाता है तथा हर अङ्क में विदूषक पात्र विद्यमान रहता है।' *नखकुट्ट*[2] आचार्य का मत है कि—'दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण या संयोग रहना ही त्रोटक है क्योंकि इसके अतिरिक्त इसका सारा स्वरूप नाटक के समान ही होता है। *बादरायण*[3] आचार्य का भी मत है कि दिव्य तथा मानव पात्रों का संयोग होना ही 'त्रोटक' कहलाता है।

तदेव दिव्याया मानुषेण सह सङ्गमो यस्तदेव महल्लक्षणम्। प्रत्यङ्कविदूषकप्रवेशकस्तूपलक्षणम्। यथा विक्रमोर्वशीतोटकं न तथाभूतविदूषकम्। मेनकानहुषं तु प्रत्यङ्क-विदूषकत्वात् अश्मकुट्टमतानुगमात् सिद्धमिति।

---

१. मामेयी—रत्नावली के समान एक नाटिका थी जो आज नहीं मिलती।

२ नखकुट्ट का उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में किया है। (द्रष्ट—सा० द० ६। २९)

३. बादरायण का उल्लेख दशरूपक की बहुरूपमिश्र की व्याख्या में भी मिलता है। (द्रष्टव्य यथा बादरायणोऽपि इत्यादि J. O R. Vol VIII पृष्ठ ३६०)

इन लक्षणों से स्पष्ट है कि दिव्य नायिका के साथ मानव नायक का मिलन ही 'त्रोटक' की विशेषता या मुख्य लक्षण है। यही इसकी प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक अङ्क में विदूषक का रखा जाना त्रोटक की मुख्य विशेषता नहीं है।[1] जैसे विक्रमोर्वशीय नामक त्रोटक के प्रत्येक अङ्क में विदूषक की प्राप्ति नहीं होती। यदि अश्मकुट्ट के अनुसार प्रत्येक अङ्क में विदूषक अनिवार्य ही माना जाए तो फिर 'मेनकानहुष'[2] को त्रोटक का उदाहरण मानना चाहिए।

प्रकरणम्—

ये नाटके कथिताः सन्धयो यान्यङ्गानि लक्षणान्यलङ्काराश्च ते सर्वे गुणा अस्मिन्नपि कर्तव्याः। केवलमयं भेदः। अत्र कविना वस्तुशरीरं नायकश्चोत्पाद्यते। तत् प्रकरणम्। यदाहाचार्यः—

प्रकरण—अब प्रकरण का लक्षण बतलाते हैं। नाटक के लक्षण में जिन सन्धियों, सन्ध्यङ्गों, लक्षणों तथा अलङ्कारों को बतलाया जा चुका है *इन सभी की प्रकरण में भी योजना करनी चाहिए। इन दोनों में* यही अन्तर है कि प्रकरण में नायक का चरित्र कल्पित कथावस्तु के द्वारा नाट्यकार ग्रथित करता है। जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने भी बतलाया है :—

> यत्र कविरात्मबुद्ध्या वस्तुशरीरं च नायकञ्चैव।
> औत्पत्तिकं प्रकुरुते तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥ ३५४ ॥
> (ना० शा० २० । ९३)

जब नाट्यकार कल्पनाप्रसूत कथावस्तु और नायक को लेकर अपनी नाट्यरचना का निर्माण करे तो उसे 'प्रकरण' समझना चाहिए।

राजर्षिदिव्यचरितहीनम् अमात्यविप्रवणिक्चरितशरीरम्। यथा—मृच्छकटिकम्, पद्मावतीपरिणयः, पुष्पदूषितकम्। नोदात्तनायकमिति

---

१. भावप्रकाशन के अनुसार त्रोटक के प्रत्येक अङ्क में विदूषक का होना हर्षविक्रम या हर्षवार्तिककार का मत विदित होता है (द्रष्टव्य—भावप्रकाशन G. O. S. पृष्ठ २३८)

२. मेनकानहुष त्रोटक का उल्लेख अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी अपने ग्रन्थ में किया है जिससे विदित होता है कि यह नौ अङ्कों का त्रोटक था। इसके रचयिता का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है।

श्रेष्ठितापसविटादिजनभूषितञ्च । मृच्छकटिके सर्वमिदं ज्ञेयम् । पुरोधोऽमात्यविप्रवणिग्भृतवार्तायुक्तम् । यथा—मालतीपरिणयः । मन्दकुलस्त्रीकृतं काव्यं (कर्तव्यम्) यदि कार्यवशाद्वेश्याकुलाङ्गनयोः सङ्गमो भवेत् । 'अविकृतभाषाचारं तत्र पाठ्यं प्रयोजयेत्' वेश्यामपि शौरसेनीं पाठयेत् । यथा—पद्मावती परिणयः । पूर्वोक्तविष्कम्भकश्चात्रावश्यं कर्तव्यः । अपरश्चाह—

प्रकरण के नायक या नायिका राजकुल या दिव्यकुल में प्रसूत नहीं होते । इसकी कथावस्तु किसी अमात्य, वणिक्, विप्र या इसी प्रकार के अन्य नायक के चरित्र को लेकर निर्मित की जाती है । जैसे—मृच्छकटिक, पद्मावती परिणय या पुष्पदूषितक । (नाटक के समान) उदात्त नायक प्रकरण में नहीं रहता अतएव इसमें श्रेष्ठि, तापस, विट आदि पात्र रखे जा सकते हैं । ये सभी लक्षण मृच्छकटिक में विद्यमान हैं । पुरोहित, अमात्य, विप्र तथा वणिक् पात्रों के चरित्र और कार्य प्रकरण में रहना चाहिए । जैसे—मालती परिणय[1] प्रकरण । प्रकरण में कुलस्त्री या कुलजा नायिका का चरित्र इस प्रकार कम रखा जाता है जिसमें कुल परम्परा का पालन मात्र रहे या उसका परिष्कार होता हो । यदि आवश्यकतानुसार वेश्या और कुलजा नायिका का मिश्रण रखा जाता हो तो फिर कुलजा नायिका चरित्र गौण या अल्पकालीक रखा जाना उचित होता है ।

इसमें पात्रों के संवाद भाषागत विकारों के बिना पात्रों की प्रकृति या कार्यों के अनुसार निर्धारित नियमानुसार रखने चाहिए । इसमें

1. मालतीमाधव का ही घटना के आधार पर दूसरा नाम 'मालतीपरिणय' रखा गया होगा ऐसा समझना चाहिए ।

2. मन्दकुलस्त्रीचरितम् = अर्थात् इसमें किसी कुलजा का चरित्र ऐसा बतलाया जाए जो बाद में अपनी परम्परा को निर्वाह करने या कुलपरम्परा या मर्यादा का ठीक से संरक्षण कर सकें या जिसका बाद में और परिष्कार हो जाए । दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि प्रकरण में कुलजा और सामान्या नायिकाओं के रहने पर कुलजा का चरित्र कम स्थान में रहना चाहिए । या फिर इसका तीसरा अर्थ होगा कि प्रकरण में मन्दकुल = नीचकुल की स्त्रियों के चरित्र या कार्यों को भी कम रखना चाहिए या प्रकरण में छोटे परिवार की भी नायिका रखी जा सकती है ।

वेश्यापात्र के संवाद भी (कुलजा के समान) शौरसेनी भाषा में रहने चाहिए। जैसे—पद्मावतीपरिणय में। विष्कम्भक और प्रवेशक को भी प्रकरण में रखा जाए जिनके लक्षण बतलाए जा चुके हैं। अन्य आचार्य का मत है कि—

'द्विधा रूपकमेतत्तु शुद्धं सङ्कीर्णमेव च।
कुलस्त्रीसहितं शुद्धं सङ्कीर्णं वेश्यया सह॥' इति
(ना० शा० २०-१०४)

तत्र शुद्धं पुष्पदूषितकं सङ्कीर्णं मृच्छकटिकम् इति।

प्रकरण दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा सङ्कीर्ण। कुलजा नायिका के होने पर शुद्ध और वेश्या नायिका होने पर उसे सङ्कीर्ण प्रकार समझना चाहिए।

शुद्ध प्रकरण का उदाहरण है पुष्पदूषितक तथा सङ्कीर्ण का मृच्छकटिक।

व्यायोगः—

अथ व्यायोगः। (स च) प्रख्यातनायकविषयः ऋषिकन्यापरिणययुतः सम्भोगमुक्तो वा एकाङ्कः। नियुद्धयुद्धबहुलः दीप्तवीररौद्ररसो विदितकथः सम्फेटवान्मुखनिर्वहणसन्धियुक्तो नातिकरुणशृङ्गारो व्यायोगः कथ्यते सद्भिः।

व्यायोग—अब व्यायोग का लक्षण बतलाते हैं। व्यायोग में एक अङ्क होता है, प्रसिद्ध नायक होता है तथा प्रणयकथा के अन्तर्गत किसी तापस का ऋषिकन्या से विवाह रखा जाता है। इसमें युद्ध या मल्लयुद्ध की प्रचुरता रहती है। वीर और रौद्ररसों की तीव्रतापूर्ण अभिव्यक्ति, प्रख्यात कथावस्तु और सम्फेट आदि की योजना की जाती है। केवल मुख और निर्वहण सन्धि रहती है तथा करुण और शृङ्गाररस का आधिक्य नहीं रहता। इन्हीं लक्षणों से विद्वान् इसे 'व्यायोग'[1] मानते हैं।

---

1. सागरनन्दी ने व्यायोग का कोई उदाहरण नहीं दिया। व्यायोग के उदाहरण धनञ्जयविजय या जामदग्न्यजय हैं जिन्हें क्रमशः दशार्णवसुधाकर तथा नाट्यदर्पणसूत्र में दिया गया है।

अङ्कः—

अथाङ्कः।

प्रख्यातवस्तुविषयः अप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात्।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः शेषैरन्यैर्भवेत् पुंभिः॥ ३५५॥

करुणरसमाय निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च स्त्रीपरिदेवनाबहुल नाना-व्याकुलचेष्ट (सात्वती-) आरभटीकैशिकीविहीन कार्यस्त्वङ्क इति।

अंक—अब हम 'अंक' का लक्षण बतलाते हैं।

इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है तथा कभी कभी अप्रसिद्ध या उत्पाद्य कथावस्तु भी होती है। इसमें दिव्यपात्र नहीं होता पर दूसरे सभी प्रकार के पात्र रहते हैं।

अङ्क मे करुण रस की बहुलता रहती है, युद्ध और उद्धत चेष्टाएँ प्रदर्शित नहीं की जातीं, अनेक प्रकार की व्याकुलताओं के साथ स्त्रियों का विलाप भी लंबा चलता है और (सात्वती) आरभटी और कैशिकी वृत्ति से हीन 'अंक'[1] का निर्माण किया जाता है।

डिमः—

अथ डिमः। स च षोडशनायकयुक्त। यथा नरकोद्धरणम्। विख्यातवस्तुविषयः। यथा—वृत्रोद्धरणम्। दीप्तरसकाव्ययोनि। प्रख्यातनायक। यथाह—'माया कुहक सम्पूर्ण इन्द्रजाल-समाकुल।' यथा—तदेव। पिशाचसुरासुरयक्षरक्षोनागसङ्कुल। उल्कापातावकीर्ण। कैशिकीवृत्तिरत्र नोच्यते। अस्य चत्वारोऽङ्का सन्धयश्च मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याः चत्वार इति।

डिम—अब हम '*डिम*' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें सोलह नायक होते हैं। जैसे—नरकोद्धरण[2] (डिम) में हैं। कथावस्तु प्रख्यात

---

१. अङ्क का उदाहरण सागरनन्दी ने नहीं दिया। इसका उदाहरण विश्वनाथ के अनुसार शर्मिष्ठाययाति या रसार्णवसुधाकर के अनुसार करुणाकन्दल समझना चाहिए।

२ बहुरूपमिश्र ने डिम क उदाहरण में तारकोद्धरण उदाहरण दिया है तथा एक दूसरे डिम वृत्रोद्धरण का भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नकोश में लिपिप्रमाद के कारण तारकोद्धरण के स्थान पर नरकोद्धरण कर दिया गया होगा। [द्रष्टव्य–J. O. R. Vol-VIII पृ० १२८]

रहती है। जैसे—वृत्रोद्धरण में है। उद्दीप्त या तीव्रता लिए हुए रसों का निवेश रखा जाता है तथा प्रख्यात नायक होते हैं। यह इन्द्रजाल, माया, भ्रम आदि से युक्त रहता है। जैसे उपर्युक्त डिम में है। इसमें पिशाच, देव, राक्षस, असुर, यक्ष तथा नाग आदि पात्र होते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती तथा मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण नामक चार सन्धियाँ रखी जाती हैं।

समवकारः—अथ समवकारः। स च देवासुरवीर्यकृत। यथा-शक्रानन्दः। द्वादशनायकान्वित.। तस्मिन् त्रयो विद्रवाः अग्निसमीर-कृत, युद्धकृत, पुरोपरोधश्च। तत्राद्यः—पल्लिव्यङ्के अन्त पुराग्निसम्भ्रम.। द्वितीयः—बलवाभ्यां कंसयुद्धार्थं कृष्णस्य क्रीडापर्वतारोहणम्। शेषो मृच्छकटिकायामार्यकानुसरणे पुरोपरोधश्चेति। त्रयश्च कपटा। (तत्र) एको वस्तुक्रमज., अन्यो देवकृतः, अपरोऽन्यकृत' सुखदु खसम्भवः। तत्राद्यश्चित्रशालिकायां विदूषकस्य प्रवेशे दण्डकाष्ठासादनक्रमभूजर्जर-कपटः। द्वितीयो वध्यशिलायां दैवागतरक्तपटप्रसादनाज्जीमूतवाहनस्य शिलावरोहणम्। शेषोऽपि पुंसवनाङ्के तृमायचितासुखयोः कैकेयी-मन्थरा-माया-चरणमिति।

शृङ्गाराश्च त्रयः—धर्मशृङ्गारः, कामशृङ्गारोऽर्थशृङ्गारश्चेति। तत्र व्रतादिविहित आत्महितहेतुर्धर्मप्रापको तत्र यथा—लामकायनाङ्के नन्दयन्त्या ब्राह्मणभोजनादि। स्त्रीसम्भोगयुत. सोन्मादः धर्मशृङ्गारः। यथा उदयनस्य वासवदत्तापरिणयः। स्वेच्छया बहुविधोपायसंयुतो-ऽर्थशृङ्गारः। यथा स्वदेशमालसात्कर्तुमुदयनस्य पद्मावतीपरिणय.।

समवकार—अब हम 'समवकार' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें देव तथा असुरों का शौर्य प्रस्तुत किया जाता है। जैसे :—*शक्रानन्द*[1]—में। इसमें बारह नायक होते हैं। तीन विद्रव (भगदड़, खलबली) होते हैं। यथा—(१) अग्नि या वायु के द्वारा होनेवाला विद्रव (२) युद्ध के

---

१. बहुरूपमिश्र ने शक्रानन्द का भी उल्लेख किया है। [J. O. R. VIII पृ० ३२८]

कारण होने वाला विद्रव तथा (३) नगर के घेरे के कारण होने वाला। इनमें पहिले विद्रव का उदाहरण है 'पलित्यङ्क' जहाँ अन्तःपुर में आग लग जाने के कारण भगदड़ मच जाती है। दूसरे प्रकार का उदाहरण है श्री कृष्ण का युद्धार्थ कंस के पहलवानों के साथ क्रीड़ापर्वत (अखाड़ा) पर चढ़ना। तीसरे प्रकार का उदाहरण है मृच्छकटिक में आर्यक का पीछा करते हुए (उसे पकडने के लिये) नगरी पर घेरा डाला जाना। इसमें तीन प्रकार के कपटों का संयोजन किया जाता है—(१) विषय या कथावस्तु में अपेक्षित क्रमिकता या अन्य परिस्थितिवश किया जाने वाला कपट (२) दैवी घटना या अन्य अदृश्य शक्ति से घटने वाला कपट तथा (३) किसी दूसरे पुरुष के द्वारा सुख या दुःख देने के लिए किया जाने वाला कपट। इनमें प्रथम प्रकार के कपट का उदाहरण है 'चित्र[1] शालिका' में विदूषक का दण्डकाष्ठ का सहारा लेकर ज्वर का बहाना करते हुए प्रवेश करना। दूसरे प्रकार का उदाहरण है—वध्यशिला (नामक अङ्क) में जीमूतवाहन का अकस्मात् लाल वस्त्रों को प्राप्त कर वध्यशिला पर बैठ जाना। तीसरे प्रकार का उदाहरण है 'पुसवनाङ्क' में सुमाय और चितामुख के द्वारा मन्थरा और कैकेयी को अपने कपट जाल में फसाना। समवकार में शृङ्गार के तीन प्रकार भी रखे जाते हैं—ये हैं—(१) धर्मशृङ्गार, (२) कामशृङ्गार तथा (३) अर्थशृङ्गार। इनमें धार्मिक भाव से आत्मकल्याण या समृद्धि की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला व्रत आदि धार्मिक कार्यों का आचरण धर्मशृङ्गार कहलाता है। अपनी स्वार्थपूर्ति या आवश्यकता के लिए कार्यों या उपायों का किया जाना 'अर्थशृङ्गार' है। स्त्री के मिलन या इसी कार्य की पूर्ति के लिये उन्माद आदि के साथ होने वाला व्यवहार 'कामशृङ्गार' समझना चाहिए। इनमें प्रथम प्रकार का उदाहरण लामकायनाङ्क'[2] में नन्दयन्ती के द्वारा किया जाने वाला ब्राह्मण भोजन आदि है। उदयन का अपने राज्य को फिर से प्राप्त करने के लक्ष्य से पद्मावती के साथ विवाह करना 'अर्थशृङ्गार' का उदाहरण है तथा

---

१. चित्रशालिका का उल्लेख सागरनन्दी ने दो स्थानों पर किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी अज्ञात रूपक का कोई अङ्क है। चित्रशालिका का उल्लेख शारदातनय ने भी किया है (द० भा० प्र० पृ० २५०)

२. लामकायनाङ्क = पुष्पदूषितक के पञ्चमाङ्क का नाम। इसमें लामकायन एक पात्र तथा नन्दयन्ती नायिका है।

इसी का (प्रणयवश) वासवदत्ता से विवाह होना 'कामशृङ्गार' का उदाहरण समझना चाहिए।

कैशिकीवृत्तिरत्र न कर्तव्या। तत्कथं शृङ्गारः ? शुद्धा कैशिकी (चात्र) कर्तव्या। अस्याश्चत्वारि यान्यङ्गानि नर्मनर्मस्फञ्जनर्मस्फोटनर्मगर्भाणि तान्यत्र न कर्तव्यानि। केवलं सयोगविहितं नर्ममात्रं कर्तव्यम्।

समवकार मे कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं रहता है।
प्रश्न—बिना कैशिकी वृत्ति के शृङ्गाररस कैसे होगा ?

उत्तर—कैशिकी वृत्ति का मोटे तौर पर या सामान्यतः प्रयोग किया जा सकता है केवल विस्तारपूर्वक कैशिकी वृत्ति के सारे अङ्गो नर्म, नर्मस्फञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ–के साथ यहाँ प्रयोग नहीं रखना चाहिए। यहाँ सयोगमात्र के प्रदर्शन में उपयुक्त माने गए नर्म का ही प्रयोग पर्याप्त होता है।

शृङ्गारोद्दीपनो यस्तु परिहासः सविभ्रमः।
भयेच्छाहासभेदेन नर्मात्र त्रिविधं भवेत् ॥ ३५६ ॥
इति।

जो शृङ्गार का उद्दीपक हो तथा जिसमे विलास और परिहासों का संयोजन रहता हो ऐसे नर्म को भय, इच्छा या हास्य के तीन प्रकारों मे रखा जाता है।

त्रयोऽप्यङ्काः। तत्र प्रथमोऽङ्कः सवीथ्यङ्गः सविद्रवः सकपटः सशृङ्गारः सप्रहसनश्च द्वादशनाडिकः। द्वितीयोऽङ्कः चतुर्नालिकाः। तृतीयस्तु समानकृतः। नाडिका कालस्य मानम्।

इसमे तीन अङ्क होते हैं। प्रथम अङ्क मे वीथी के सभी अङ्गों, विद्रव, कपट और शृङ्गार के (अपने भेदों के) तथा हास-परिहास के साथ रखा जाता है। प्रथम अङ्क का बारह नाडिका कालमान होता है। दूसरे अङ्क का चार नाडिका का कालमान रहता है तथा तीसरे अङ्क का कालमान आवश्यकता के अनुसार (कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जितना अपेक्षित हो) रखा जाता है। नालिका का अर्थ है समय का एक माप।

त्रयोऽप्यङ्कास्तु कर्तव्याः न परस्परसूचनम् ।
अत्र हि समवकारे प्राहुर्न प्रतिबद्धक्रम् ॥ ३५७ ॥
[ना० शा० २०।६०] इति ।

समवकार मे तीन अङ्क होते हैं, तीनों मे कार्य या कथावस्तु के सकेतिक सूत्र की एकता नहीं होती [वे स्वतन्त्र होते हैं] तथा इसमे विषय या कथा का पारस्परिक गठन या परम्परागत क्रम नहीं रखा जाता [अथवा समकार के उद्देश्य मे ये परस्पर स्वतन्त्र रहकर बाधक भी नहीं होते]।

ईहामृगः—

अथेहामृगः । स च कैशिकीवृत्तिहीनोऽचतुरङ्कयान्वितो यथोर्वशी-मर्दनम् । दिव्यावलाकारणप्रवृत्तियुद्ध, प्रसिद्धपुरुष, विप्रत्ययकारक, षण्णायक, षड्रसो वस्तुशृङ्गारयुक्तो नायकसङ्ग्रामयुक्तश्च । अस्योदाहरण कुन्द (सुम) शेखरविजय ।

ईहामृग—अब *'ईहामृग'* का लक्षण बतलाते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती और चार अङ्क रहते हैं। जैसे—*उर्वशीमर्दन*। इसमे किसी दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है; प्रख्यात नायक रहता है, वैसमकी लिए हुए अन्य छ पात्र होते हैं तथा छ रस रहते हैं। कथा वस्तु शृङ्गाररस से युक्त होती है तथा नायक द्वारा किये जाने वाले युद्ध का प्रदर्शन रखा जाता है। ईहामृग का उदाहरण है कुन्दशेखर-[1] विजय।

भाणः—अथ भाणः । स चात्मानुभूतशसी परसंश्रयवर्णनाविशेषो विविधाश्रय एकहार्य । एकया नायिकया हार्य. इत्यर्थ । भाण इहैका-थिन्या नार्या हार्याऽङ्गहारिण्येति । यत्र परवचनमात्मवचनै सान्तरैर्ग्रथित श्वाच्यश्च भवेत् । आकाशपुरुषा यत्र व्याहरन्ति । धूर्तविटा (दी) ना सम्प्रयोगो नानावस्थाभि सुसदु खात्मिकाभिश्च समुपेत एकाङ्कश्च भाण । यथा पत्रलेखा-नामधेय रलितनागरादयोऽस्योदाहरणानि ।

1. कुन्दशेखरविजय नाम भावप्रकाशन में मिलता है परन्तु बहुरूपमिश्र की टीका में इसका नाम 'कुसुमशेखरविजय' प्राप्त होता है। (द्र० भा० प्र० पृ २५१ तथा J. O R. Vol-VIII पृ० ३३८)

माण—अब 'भाण' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें या तो स्वयं के अनुभवों का या फिर दूसरों के कार्यों का—जो अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध हो—वर्णन रहता है। यह कार्य एक पात्र के द्वारा किया जाता है जो स्त्री या पुरुष पात्र होता है। जैसा कि कहा भी गया है—'भाण का एक ही पात्र के द्वारा—जो नृत्य के अङ्गहारों को सुन्दरता से प्रस्तुत कर सके—अभिनय किया जाता है। इसमें दूसरे व्यक्तियों के शब्दों को आत्मकथन के रूप में बीच में जोड़ते हुए रखा जाता है। इसमें आकाशभाषित का प्रयोग होता है। धूर्त या विट पात्रों की सुख-दुःख आदि अनेक अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तथा एक अङ्क होता है। भाण के उदाहरणों में पत्रलेखा, ललितनागर[1] आदि रखे जा सकते हैं।

अस्य लास्याधिकरणिकान्यङ्गानि—गेयपदं, स्थितपाठ्यमासीनपाठ्यं, वैमूढकं, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदकमुत्तरोत्तरकमुक्तप्रत्युक्तकं द्विमुक्तकं सैन्धवश्चेति ।

भाण के दस लास्याङ्ग अङ्ग होते हैं। इनके नाम हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीनपाठ्य, (४) विमूढक, (५) पुष्पगण्डिका, (६) प्रच्छेदक, (७) उत्तरोत्तरक, (८) उक्तप्रत्युक्तक, (९) द्विमुक्तक तथा (१०) सैन्धव।

गेयपदम्—तत्र यत् तन्त्रीभाण्डोपबृंहितमासने सन्निविष्टया नायिकया गीयते तद् गेयपदम्। यथा गौरीगृहे मलयवती पठति—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि।
अभिवाञ्छितं प्रसिद्धयतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥

(नागा० १ । १३) इति ।

गेयपद—जब नायिका आसीन हो कर वीणा वादन के साथ गीत गाती है तो उसे 'गेयपद' समझना चाहिए। जैसे गौरीगृह नामक अङ्क में मलयवती का—'विकसित कमल के पराग सदृश गौरवर्ण वाली हे पार्वती देवी, आपकी कृपा से मेरी अभिलाषा सिद्ध हो।' आदि का कहना।

---

१. 'ललितनागर' भाण का उल्लेख बहुरूपमिश्र ने भी किया है। (द्र० J. O. R. Vol-VIII पृ० ३२७–३२८),

स्थितपाठ्यम्—यच्च पञ्चपाणिना युक्तं भौमचारीपुरस्कृतं चर्चरीपाठभूषितं लासिकया प्रयुज्यते स्थितपाठ्यं तत्। यथा दुर्दिनाङ्के—

स्थितपाठ्य—जब पञ्चपाणि के साथ भौमचारी प्रस्तुत करते हुए चर्चरीपाठ के साथ नर्तकी गीत प्रस्तुत करे तो उसे '*स्थितपाठ्य*' समझना चाहिए। जैसे दुर्दिन नामक अङ्क में—

वसन्तसेना—भाव, किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया। पश्यतु हि भाव.—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः॥

(मृच्छ० ५। १६)

वसन्तसेना–स्त्री प्रकृति होने के कारण दुष्ट हो जाने वाली से बिजली को उलाहना देना व्यर्थ है। तुम इतना ही समझो कि–

चाहे मेघ बरसें, गरजें या वे वज्र को छोड़ दें पर अपने प्रियतम से मिलने के लिए निकली नारियाँ ऐसी ठंड और गरमी की परवाह नहीं करतीं।

आसीनपाठ्यम्–यदासीनया करचरणभ्रूलताभिनयभावितं प्रयुज्यते तदासीनपाठ्यम्। यदा कदलीगृहे—

सागरिका—हिअअ, समस्सस। (हृदय, समाश्वसिहि।) इत्यादि।

आसीनपाठ्य—यदि बैठ कर नायिका अपने हाथ, पैर और भौंहों की व्यञ्जक मुद्राओं के साथ किसी गीत (खण्ड) को प्रस्तुत करे तो उसे '*आसीनपाठ्य*' समझना चाहिए। जैसे कदलीगृह नामक अङ्क में—

सागरिका—'ओ मेरे मन, तुम जरा धैर्य रखो' इत्यादि।

वैमूढकम्—यत्पुरुषेण स्त्रीवेषमादा (स्था)य समवृत्तिभूषितम· निष्ठुरपदं लास्यमारभ्यते तद् वैमूढकम्। यथा चौर्यविवाहे

(मा० माध० अ० ६)—

वैमूढक—जब किसी पुरुष पात्र के द्वारा स्त्री वेष धारण कर कोमल गति आदि के द्वारा स्त्रियों जैसा लास्य प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'वैमूढक'[1] समझना चाहिए। जैसे चौर्यविवाह नामक अङ्क (मा० मा० अङ्क ६) में—

मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृत्तः। इति।

मकरन्द—तो अब मैं मालती बन जाता हूँ इत्यादि।

पुष्पगण्डिका—यत्र पुंसामाशयग्रहणाय गीतवाद्यतालल‌यकला-कलितं लास्यं प्रसार्यते सा पुष्पगण्डिका। यथोषाहरणनाटक-चतुर्थाङ्के—

पुष्पगण्डिका—जब किसी पुरुष के आन्तरिक भावों का पता लगाने के लिए गीत, वाद्य, ताल, लय को कलापूर्ण पद्धति से लास्य (नृत्य) के साथ प्रस्तुत किया जाए तो उसे *'पुष्पगण्डिका'* समझना चाहिए। जैसे उषाहरण नाटक के चतुर्थाङ्क में :—

उषा—अज्ञउत्त, इमं दुदीअं ठ्ठाणं अलंकरोदुत्ति। (आर्यपुत्र, इमं द्वितीयं स्थानमलङ्करोत्विति।)

उषा—आर्यपुत्र, आप इस दूसरे आसन को अलंकृत करें इत्यादि।

प्रच्छेदकः—यत्र योषिच्चन्द्रातपाकुला कृतापराधमपि कान्तमार्ता प्रियमासज्जति सः प्रच्छेदक उच्यते। राहुलस्त्वाह—यत्र दैवात् प्रिय-पुरुषेण प्रार्थ्यमानामन्या नायिकामवलोक्य प्रेमपरिच्छेदसमर्पितो मानिन्या मन्युर्मनस्तापयति स. प्रच्छेदकः। यथा पद्मावतीपरिणये—

विलासवती—ता किं दाणिं एत्थ करइस्सं। [तत् किमिदानीं करिष्यामि।] (विचिन्त्य) भोदु। इंदुमदीं विसज्जिअ पदुमावदीं ज्जेव्व वारइस्सं। [भवतु। इन्दुमतीं विसृज्य पद्मावतीमेव वारयिष्यामि।]

प्रच्छेदक—जब कोई वियोगिनी नायिका चन्द्रिका के प्रकाश से आकुल होकर सन्तापावस्था में अपराधी प्रिय से स्वयं जाकर मिलने लगे तो उसे 'प्रच्छेदक' समझना चाहिए।

---

१. वैमूढक या विमूढक—इसका अन्यत्र नाट्यशास्त्र आदि में त्रिमूढक नाम प्राप्त होता है। सागरनन्दी ने इसका लक्षण भरत के अनुसार नहीं दिया है किन्तु यहाँ वह दशरूपक के अनुसार है। (द्र० दश रूप०)।

राहुल आचार्य का मत है कि जब दूसरी नायिका की उसके प्रियतम द्वारा की जाने वाली चाटुकारिता को देख कर मानिनी नायिका का अपने प्रिय के प्रति किया गया क्रोध सन्ताप देते हुए मन को खिन्न कर दे तो उसे 'प्रच्छेदक' समझना चाहिए। जैसे *पद्मावतीपरिणय* में—

विलासवती—तो अब मैं क्या करूँ ? (सोच कर) इस इन्दुमती को विदा कर मैं पद्मावती को ही रोक दूँगी।

सैन्धवम्—

यच्छङ्खवलयधारणादि सिन्धुदेशभाषाविशेषगीतवाद्यविषयं सैन्धवाख्यं तदुच्यते।

सैन्धव—जब सिन्धुदेश मे बने हुए शखों के कंकण आदि पहिनते हुए उसी देश के वाद्य यन्त्रों के व्यवहार के साथ देशी (सैन्धवी) भाषा में गीत को प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'सैन्धव' समझना चाहिए।

उक्तप्रत्युक्तम्—

उक्तप्रत्युक्तमिव उक्तप्रत्युक्तकम्। यथा मदनमञ्जुला-तृतीयेऽङ्के—

उक्तप्रत्युक्तकम्—जब प्रश्न तथा उत्तर के रूप में संवाद रखे जायँ तो उसे 'उक्तप्रत्युक्तकम्' समझना चाहिए। जैसे *मदनमञ्जुला* के[1] तृतीयाङ्क में :—

मदनमञ्जुला—मुंचदु मं महाराओ। [मुञ्चतु मा महाराज]

मदनमञ्जुला—महाराज मुझे छोड़ दें।

राजा—किमिति ?

राजा—क्यों ?

मदनमञ्जुला—भाआम्मि अहं। [बिभेम्यहम्]

मदनमञ्जुला—मैं डर रही हूँ।

राजा—कुतः ?

राजा—किससे ?

मदनमञ्जुला—महादेईए। [महादेव्याः]

मदनमञ्जुला—महादेवी से।

---

१. मदनमञ्जुला या मदनमञ्जुका सम्भवतः एक ही रचना प्रतीत होती है। ना० द० र० को० में इसके दो तीन उद्धरण भी प्राप्य हैं।

उत्तरोत्तरकम्—

लीलाहेलादिभूषितमप्रतीक्षिताभिसारिकाकालं कामयितुं कामिना-मलङ्कृतया नायिकया यदारभ्यते तदुत्तरोत्तरकम्। यथा मदयन्ती-संहारे—

मदयन्ती—हिअअ, किं दाणि तस्सिं ओसरे सविधेअत्थमूढो भविअ सपदं उत्तम्मेसि। अण्ण अज एदस्स मुहचन्दचन्दमाए अत्तणो सदावो ण णिव्वाविदो ता अणुहव दाव अत्तणो अविणअस्स फलं। (पार्श्वतोऽवलोक्य। ससम्भ्रमम्) कहं महाराओ। (उच्छित्य शिरो-ऽधोमुखी) त्यादिनृत्यम्। [हृदय, किमिदानीं तस्मिन्नवसरे सविधेयार्थ-मूढं भूत्वा साम्प्रतमुत्ताम्यसि। अन्यच्च यदेतस्य मुखचन्द्रचन्द्रिकयाऽऽ-त्मनस्सन्तापो न निर्वापितस्तदनुभव तावदात्मनोऽविनयस्य फलम्। (पार्श्वतोऽवलोक्य। ससम्भ्रमम्) कथं महाराजः (उच्छित्य शिरो-ऽधोमुखी) त्यादिनृत्यम्।

उत्तरोत्तरक—जब बिना किसी प्रतीक्षा के स्वयं को सजा कर उत्कण्ठावश प्रिय का अभिसरण करने के अवसर पर नायिका लीला, हेला आदि भावों को सुन्दरता से प्रकट करती हुए आगे बढ़ती हैं तो उसे 'उत्तरोत्तरक'[1] समझना चाहिए। जैसे मदयन्ती-संहार नामक अङ्क में—

मदयन्ती—मेरे मन, जब तूने उस समय अपने कर्तव्यज्ञान के प्रति उदासीनता बरती तो अब क्यों सन्तप्त हो रहे हो। और तब तुमने उनकी मुखचन्द्र की चन्द्रिका के द्वारा स्वयं का ताप नहीं मिटाया तो अब अपने इसी [illegible] का फल भोगो (बाजू में देखकर घबराते हुए) अरे! महाराज, (सिर उठाकर मुँह नीचा करते हुए) इत्यादि अभिनयपूर्ण नृत्य को करना आदि।

अथवा यत्र प्रियोऽनागमनभीत्यैव प्रियाया भवनं याति तत् सुखातिशयोत्तरकारत्वात् उत्तरोत्तरकम्।

---

1 उत्तरोत्तरक का ही अन्यत्र 'उत्तमोत्तम' नाम प्राप्त होता है। परन्तु लक्षण में अभिसारिका नायिका की स्थिति का समावेश अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

अथवा जब नायक स्वयं ही नायिका के न आने की आशङ्का के कारण उसका अभिसरण करे तो उत्तरोत्तर सुख की संवर्द्धना करने के कारण इसे 'उत्तरोत्तर' समझना चाहिए।

द्विमुक्तकम्—

मुखप्रतिमुखसंश्लिष्टं नानाभावसमुज्ज्वलं ललितचारीप्रयोजितं द्विमुक्तकम्। यथा कलावत्यास्तृतीयेऽङ्के—

(पुरतोऽवलोक्य) एसा पिअसही इदो ज्जेव्व आअच्छदि (एषा प्रियसखी इत एव आगच्छति) इत्यादि।

द्विमुक्तक—अनेक भावों से शोभित पादचारी के ललित अभिनयों का मुख या प्रतिमुख सन्धि में संयोजित करना 'द्विमुक्तक'[1] समझना चाहिए। जैसे कलावती के तृतीयाङ्क में :—

(सामने देखते हुए) अरे! मेरी प्रियसखी इधर ही आ रही है इत्यादि।

प्रहसनम्—

अथ प्रहसनम्। तद् द्विविधं शुद्धं सङ्कीर्णञ्च। आद्यं परिव्राट्तापसद्विजेरन्यैरपि हास्यकुशलैरारब्धम्। सङ्कीर्णं वेश्याविटनपुंसकदासादिभूषितं भवति। प्रथमं शशिविलासादि द्वितीयं भगवदज्जुकादि। अस्य च द्वावङ्कौ भवतो मुखनिर्वहणसन्धिद्वयञ्च। नरकुट्टस्त्वाह—शृङ्गारमङ्ग्या शून्यं प्रहसनमिति।

प्रहसन—अब 'प्रहसन' का लक्षण बतलाते हैं।

प्रहसन के दो भेद होते हैं—एक शुद्ध और दूसरा मिश्र। शुद्ध प्रहसन में परिव्राजक, ब्राह्मण, तपस्वी आदि जैसे (उत्तम) पात्रों का हास्यपूर्ण अभिनय रखा जाता है। सङ्कीर्ण-प्रहसन में—वेश्या, विट, नपुंसक, दास आदि अधम पात्रों का हास्यपूर्ण अभिनय रहता है। शुद्धप्रहसन का उदाहरण है शशिविलास[2] तथा सङ्कीर्ण-प्रहसन का उदाहरण है भगवदज्जुक।

---

१ द्विमुक्तक का द्विमूढक नाम सर्वत्र प्राप्त होता है।

२. शशिविलास शुद्ध प्रहसन का जो एक प्रकार है इसका नाम बहुरूप मिश्र ने 'शशिकला' लिखा है। बहुरूप मिश्र ने भी भगवदज्जुक को सङ्कीर्ण प्रहसन माना है। (द्रष्टव्य J. O R. पृ० ३२०)

प्रहसन में दो अङ्क तथा मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं। नखकुट्ट आचार्य का मत है कि प्रहसन में आरभटी वृत्ति की योजना नहीं होती।

वीथी—

अथ वीथी। सा च त्रिभिः पात्रैः प्रयोक्तव्या। यथा—बकुलवीथिका। उत्तमाधममध्यमनायिकाभूषिता त्रिप्रकृतियुता बीजबिन्दुकार्यैरर्थप्रकृतिभिर्युक्ता एकाङ्का सन्धिद्वययुक्ता मुखनिर्वहणयुता नानारसभावसन्धिता च। अस्या अङ्गानि त्रयोदश—उद्घात्यकावलगितकनालिका—अवस्यन्दितासत्प्रलाप-वाग्वेणी-मृदवाधिबल-छल त्रिगत व्याहार-गण्डाञ्चितानीति।

वीथी—अब हम 'वीथी' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें तीन पात्र रहते हैं। जैसे—*बकुलवीथिका*। इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति की नायिका होती है, तीन पात्र होते हैं, बीज, बिन्दु तथा कार्य नामक तीन अर्थ प्रकृतियाँ रहती हैं, एक अङ्क होता है, मुख तथा निर्वहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं तथा यह अनेक रस और भाव (आदि) से युक्त होती है। बीथी के तेरह अङ्ग होते हैं। यथा—[१] उद्घात्यक, [२] अवलगित(क), [३] नालिका, [४] अवस्यन्दित, [५] असत्प्रलाप, [६] वाग्वेणी, [७] मृद, [८] अधिबल, [९] छल, [१०] त्रिगत, [११] व्याहार, [१२] गण्ड तथा [१३] अञ्चित।

तत्र उद्घात्यकम्—

पदानि त्वगतार्थानि यन्नराः पुनरादरात्।
योजयन्ति पदैः स्पष्टैस्तद् स्यादुद्घातकं यथा॥ ३५८॥

कैर्गुणैर्नाटकं श्लाघ्यं ये हरन्ति सतां मनः।
क्व तेषां दृष्टमुत्थानं देवदत्तकृताविति॥

यथात्र सूत्रधारोऽप्रतीतमर्थं प्रतिपादयितुकामः प्रश्नेन प्रतिपादितवान्। एवमन्येऽप्याहुः—न प्रतीतं विस्मृतं वा यत् प्रतिपाद्यते तदुद्घात्यकमिति।

उद्घात्यक—जब किसी अस्पष्ट वस्तु या अर्थ को सूचित करने के

लिये अप्रस्तुत अर्थ वाले शब्दों के साथ प्रस्तुत पदों की विचारपूर्वक योजना की जाती है तो उसे 'उद्घात्यक' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—

प्रश्न—नाटक किन विशेषताओं के कारण प्रशंसनीय हो जाता है? उत्तर—जिनसे सहृदयों का मनोरञ्जन या चित्ताकर्षण होता हो। प्रश्न—इनका चरमउत्कर्ष किस रचना में मिलता है? उत्तर—देवदत्त की रचना में। जैसे उक्त उदाहरण[1] में सूत्रधार किसी अज्ञात या अस्पष्ट अर्थ को प्रकट करने की इच्छा से प्रश्न-उत्तर के द्वारा व्याख्या करते हुए अपनी बात कह देता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि अज्ञात या विस्मृत अर्थ को किसी व्याख्यात्मक पद्धति से प्रतिपादित किया जाना (भी) 'उद्घात्यक' कहलाता है।

अवलगितकम्—

यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रकाश्यते।
तत्रावलगितं नाम विज्ञेयं कविभिर्यथा॥ ३५९॥

जाने त्वमिव सा बाला पाणिना स्वेन मां स्पृश।
तद्वियोगाग्निसन्तापो येन मे शान्तिमेष्यतीति॥

अवलगितक—जब किसी दूसरे ही कार्य या बात की योजना के द्वारा अभीष्ट या दूसरे ही प्रकार की कार्यसिद्धि को साधा या प्रकट किया जाए तो उसे *'अवलगितक'* समझना चाहिए। जैसे :—

मैं जानता हूँ कि वह तुम्हारे जैसी ही युवती थी और जिसका वियोगजन्य सन्ताप अब शान्त हो जाएगा। (अतः) तुम अब अपने हाथ से मेरा स्पर्श करो।

अन्यस्त्वाह—रूपकेषु यस्य पात्रस्य सूचना नास्ति तत्रावलगितकेन कर्त्तव्या। यथा—

दूसरे आचार्य का मत है कि जब रूपकों में किसी असूचित पात्र की सूचना देना हो तो 'अवलगितक' का प्रयोग करना चाहिए। जैसे :—

सूत्रधारः—विमुखेनोपदेशेषु वयं निर्वेदितास्त्वया।
शैवाचार्य इवानेन कुशिष्येणैव भैरव॥

---

1 यहाँ 'रत्नकोशकृती' के स्थान पर 'देवदत्तकृती' कर दिया गया है। देवदत्त की किसी रचना का अभी तक पता नहीं लग पाया है।

अत्र भैरवस्य प्रवेशं पारिपार्श्विकस्याधिक्षेपेण तच्छिष्याविधेयता-ख्यापनेन कृतवान् स ।

सूत्रधार—शिक्षा को ठीक से ग्रहण न करते हुए तुमने हमें इसी तरह अप्रसन्न कर डाला है जैसे दुष्ट या मूढ शिष्य से शैवाचार्य भैरव अप्रसन्न हैं।

उक्त उदाहरण में पारिपार्श्विक को डांटते हुए सूत्रधार ने अपने शिष्य की दशा के निदर्शन के साथ भैरवाचार्य का प्रवेश सूचित किया।

नालिका—

> यत्तु वाच्यं प्रपञ्चेन वदेद्वा हास्यहेतुना ।
> प्रहेलिकेव गूढार्था सा ज्ञेया नालिका बुधैः ॥ ३६० ॥
> (ना० शा० २० । १६१)
>
> गूढार्थं प्रश्नमिच्छन्ति नालिकामपरे यथा ।
> हस्ते कर्णस्य का शक्तिः क्ष-म-मध्यगतोऽस्ति कः ॥३६१॥

इत्यादि ।

नालिका—यदि किसी प्रपञ्च या परिहास के लिए कही गयी वचना-वली में प्रहेलिका के समान गूढ अर्थ वाले पदों को रखा जाए तो उसे *'नालिका'* समझना चाहिए।

कुछ आचार्यों का मत है कि गूढ या अन्तर्निहित अर्थ को अपने में रखने हुए प्रश्न का किया जाना 'नालिका' कहलाता है। जैसे—

कर्ण के हाथ में किसने शक्ति दी ? क्ष और म के बीच कौन रहता है ? शत्रुओं से मारे जाने पर भी योद्धाओं की निन्दा न होने का स्थान कौन है ?

असत्प्रलापम्—

> रभसेनोदितं वाक्यं शुभं वा त्वशुभं तथा ।
> अन्यद्वा क्रियते बुद्धया तदवस्यन्दितं भवेत् ॥ ३६२ ॥

यथा निभृतस्थायी भीमो दुर्योधनेन पृष्ट—कस्त्वम् ? स सत्वाह—भीमोऽहम् । पश्चात् सावहित्थोऽवदत् । भीमोऽहं भयानकोऽहमिति ।

अवस्यन्दित—यदि शीघ्रता में कहे गए शुभ या अशुभ वाक्य का

अपनी बुद्धि से दूसरा ही अर्थ निकाला जाए तो उसे *'अवस्यन्दित'* समझना चाहिए।

जैसे (क्रोध से) चुपचाप खड़े हुए भीम को दुर्योधन ने (न जानते हुए) पूछा छिपे हुए तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया—भीम। फिर छलपूर्वक कहा—मैं डरावना हूँ, मैं भयानक हूँ (आदि)।

असत्प्रलापः—

असत्प्रलापो यथा मूर्खस्य पुरतो हितमप्युच्यते वचः न (च) तद् प्रतिगृह्यतेऽसावसत्प्रलापः कथ्यते। यथा—

सुलभाः सततं राजन् पुरुषाः प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

इति सारणवाक्यं रावणेन न गृहीतमित्यसत्प्रलापः।

'किं त्वं बधिरः कुब्जो वा मत्तो वा यन्न पश्यसि।' इति

रथकारकुले जातः कथं वा श्रोत्रियात्मजम्।
राधेयाहूय संयोद्धुमश्वत्थामानमुद्यतमिति॥

अयमप्यसत्प्रलाप एव।

असत्प्रलाप—जब किसी हठी या नासमझको ऐसा हित का उपदेश या सलाह दी जाए जिसे वह न माने तो उसे *'असत्प्रलाप'* समझना चाहिए। जैसे :—[1]

स्वामिन्, संसार में प्रिय बोलने वाले मनुष्य तो सभी स्थानों पर मिल जाते हैं पर अप्रिय और हितावह वचनों को कहने और सुनने वाले कठिनाई से प्राप्त होते हैं। उक्त उदाहरण में—सारण के द्वारा रावण के प्रति कहे गए इन हितकारी शब्दों को सुनकर भी रावण का उन्हें न मानना 'असत्प्रलाप' है। या—

क्या तुम बहिरे, कुबड़े या पागल हो जो मुझे नहीं देख पाते! अथवा—राधापुत्र कर्ण, (क्योंकि) तुम रथकार (सारथी) के नीच

---

१ सागरनन्दी ने उक्त पद्य यशोवर्म के रामाभ्युदय नाटक से यहाँ उद्धृत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्म ने कदाचित् वाल्मीकि के इसी श्लोक को अपने नाटक में उद्धृत किया होगा। वाल्मीकिरामायण में यह श्लोक प्राप्त होता है तथा प्रसिद्ध भी है।

वंश में उत्पन्न हुए हो (अतः) मुझ श्रोत्रिय ब्राह्मण के उच्च कुल में उत्पन्न होनेवाले अश्वत्थामा को भी अपने औद्धत्य से युद्ध के लिए ललकारने लगे?

उक्त कथन में भी 'असत्प्रलाप' समझना चाहिए।

वाग्वेणी—

द्वित्रिप्रतिवचनं वाग्वेणी। यथा—

कस्त्वं कृष्णोऽस्मि वर्णं ते नाहं पृच्छामि नाम किम्।

केशवोऽहं चिराल्लब्धं कुर्यां त्वां खलु केशवमिति॥

वाग्वेणी—दो या तीन शब्दों में (अनेक बार) दिया गया प्रत्युत्तर 'वाग्वेणी' कहलाता है। जैसे :—

तुम कौन हो? मैं कृष्ण [काला] हूँ।

मुझे तुम्हारा रंग नहीं जानना है, अपना नाम बतलाओ? मैं केशव हूँ।

ओ हो, बड़ी देर बाद मिले, अब मैं शिरच्छेद द्वारा तुम्हें शव ही बनाती हूँ।

मृदवम्—

मृदवं यथा—

यस्मिन्निर्ष्टं गुणा दोषाः स्युर्दोषाश्च तथा गुणाः।

चित्रोक्ति मृदवं नाम तन्मतं कविभिर्यथा॥ ३६३॥

(ना० शा० २०। १६४)

मृदव—जब वैदग्ध्य या कलापूर्ण उक्तियों से किसी के गुणों को दोष या दोषों को गुण सिद्ध किया जाए तो उसे 'मृदव' समझना चाहिए।

तत्र गुणदोषीकरणं यथा—

तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया।

सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना॥

दोषगुणीकरणम् यथा—

उदेतु गगनव्यापी महाभागमिदं तमः।

येन साऽभ्येति निश्शङ्कं सङ्केतं मे मृगेक्षणा॥

गुणों को दोष बतलाने का उदाहरण :—

यद्यपि उसका यौवन से जगमग सौन्दर्य संसार में सुख का आगार

बनने जा रहा है पर वही सब आज मेरे लिए अधिक कष्टदायी बन रहा है।

दोष को गुण बतलाने का उदाहरण :—

यह उपकारक महाभाग अन्धकार जोरों से उठ कर आकाश में फैल जाए जिससे वह मृगनयनी निश्शंक होकर बिना घबराए मेरे सकेत स्थान पर आ जाए।

अधिबलम्—

उत्तरोत्तरसम्भूतमात्मनश्च परस्य च।
विद्यादधिबलं वाक्यमेकवस्तुविशेषणम् ॥ ३६४ ॥

(ना० शा० २० । १६५)

यथा—

तिमिराम्बरधारिण्यो वञ्चिताखिलदृष्टयः।
सायमेता मिलन्त्यद्य दिशश्चन्द्राभिसारिका: ॥

इति एकेनोक्तेऽपर आह—एवमाक्षिप्तविहङ्गनूपुराश्चन्द्राभिसारारब्धरागा एता दिश इति।

अधिबल—जब किसी एक ही पदार्थ के विषय में स्वयं के और दूसरे व्यक्तियों के कथन धीरे धीरे आगे बढते चलें तो उसे 'अधिबल' समझना चाहिए। जैसे :—

ये दिशाएँ अभिसारिका बन कर अन्धकार का वस्त्र लपेटे हुए सभी की दृष्टि बचा कर आज सन्ध्या को अपने प्रिय चन्द्र से मिलने आ रही हैं।

इस प्रकार एक व्यक्ति के कहने पर दूसरा कहने लगा :—(और) इन दिशाओं ने पक्षियों के कलरवरूपी पैंजन दूर हटा कर चन्द्र का अभिसरण करने के लिये अपना राग भी चारों ओर फैलाना शुरू कर डाला।

छलम्—

'छलं स्याद्वाच्यमन्यार्थं हास्यरोषातिसन्धिकृत्।'

यथायोध्याभरते—

छल—परिहास, क्रोध या धोखा प्रकट करनेवाले वचनों का प्रयोग करना जो वाच्यार्थ के विरुद्ध हो—'छल' कहलाता है। जैसे *अयोध्याभरत* (नामक अङ्क) में—

लक्ष्मण—सकलराक्षसकुलक्षयकारिणि युष्मद्भुजद्वये सति किमसौ करिष्यति।

लक्ष्मण—समस्त राक्षस कुल के विध्वंस में समर्थ आपकी इन भुजाओं के होने पर उससे क्या बन पड़ेगा?

त्रिजटा—(प्रविश्य) सीदाविओअं। [सीतावियोगम्] अतिसन्धिक्रच्छलमेतत्।

त्रिजटा—(प्रवेश करते हुए) सीता का वियोग।

उक्त कथन से धोखा प्रकट होता है। अतएव यह 'छल' का उदाहरण है।

त्रिगतम्—

स्फुटभाव्यर्थकथनं त्रिगतम्। यथा कदलीगृहे सुसङ्गता—एसा उण एत्थ सारिआ सङ्किदव्वा। कदा वि गहिदत्था कस्स वि पुरदो पआसेदि। [एषा पुनरत्र सारिका शङ्कितव्या। कदापि गृहीतार्था कस्यापि पुरतः प्रकाशयति।]

त्रिगत—भावी घटना को स्पष्टतः कह डालना '*त्रिगत*' कहलाता है। जैसे *कदलीगृह* नामक अङ्क में—

सुसङ्गता—इस सारिका पर ध्यान रखना पड़ेगा क्योंकि इसे जो भी सुनाई देगा उसे यह किसी के भी आगे प्रकट कर सकती है।

व्याहारः—

प्रत्यक्षानुभवारूढो व्याहारो हास्यलेशकृत्।
कृतसम्भोगराजानं सोपहासमिवाब्रवीत्॥ ३६५॥
(ना० शा० २०।१६७)

यथा—

विदूषक—भूप, तव कार्येषु मे जिह्वा पल्लवत्येव गुडदध्ना जडायितुम्। इति।

व्याहार—आंशिक परिहास के साथ अपने अनुभूत वचन को सीधे कह डालना '*व्याहार*' समझना चाहिए।

जैसे संभोग किये हुए राजा को परिहास के साथ विदूषक का इस प्रकार कहना—'राजन्, आपके कार्यों को बतलाने में गुड से सनी मेरी जीभ ऐंठ रही है।

गण्डः—

उक्तमन्यार्थमन्येन वचोऽन्यार्थं प्रकल्पयेत्।
अन्यथेति हि गण्डोऽयं बहुधा परिकीर्तितः ॥ ३६६ ॥

यथा—

जातोऽन्यत्र च योऽन्यत्र वर्द्धितो मधुसम्भव।
परपुष्ट स कृष्णोऽद्य मारयत्यनिवारित ॥
इत्युत्कण्ठितया प्रोक्तं कंसेनाहितमन्यथा।

गण्ड—किसी एक पुरुष के द्वारा कहे गए शब्दों का यदि दूसरा पुरुष अपने पक्ष में अर्थ लगाले तो उसे '*गण्ड*' समझना चाहिये। जैसे :—

जो एक स्थान में उत्पन्न होकर दूसरे स्थान में पाला गया, जिसका मधु से उद्भव है (माधव) जिसका वर्ण काला [कृष्ण] है; वही आज न रोकने के कारण मार [काम के समान कार्य कर] रहा है।

उक्त कथन उत्कण्ठिता नायिका ने कोकिल को लक्ष्य करते हुए कहा किन्तु कंस ने इसका अर्थ अपने पक्ष में लगा लिया। अतएव यह '*गण्ड*' का उदाहरण है।

यत्राभिलषितं काङ्क्षन् गुह्या द्व्यर्थपरैः पदैः।
निर्दिशेद् वाक्यकुशलो द्व्यर्थगण्ड स कथ्यते ॥ ३६७ ॥

यथा—

जब अपने इष्ट अर्थ को कुशल पुरुष दो अर्थों वाले शब्दों से कहकर छुपाते हुए *सङ्केतित या प्रकट करे तो उसे 'द्व्यर्थगण्ड' समझना चाहिए।* जैसे —

जातस्ते दारक कंस स्वसुरानन्दवर्द्धन।
त वक्तुमहमायातो नारदो भवत क्षयम् ॥

कंस, सुनो—तुम्हारी बहिन को आनन्द देनेवाला [अपने ही पक्ष में रहने वाले देवगण के कष्टों को दूर करने वाला] पुत्र उत्पन्न हुआ है और मैं नारद इसी सन्देश को कहने के लिए तुम्हारे घर [आपके क्षय का समाचार देने के लिए यहाँ] आया हूँ।

अन्यदन्यच्च वदतोर्द्वयोर्वाक्यसमागमे ।
जायतेऽनिष्टमिष्टं वा स गण्ड इति कीर्तितः ॥ ३६८ ॥

यथा राघवाभ्युदये—

यदि दो व्यक्तियों के पारस्परिक संवादों के बीच अनेक चर्चाओं के होने पर ऐसे वाक्यों का प्रयोग हो जाए जिससे किसी इष्ट या अनिष्ट की उपलब्धि या उत्पत्ति हो जाए तो उसे भी 'गण्ड' समझना चाहिए। जैसे—*राघवाभ्युदय* में—

राम—'किन्ते स्यादिति चिन्तया मम मनः पर्याकुलं भ्राम्यति।'

राम—(आज) इस चिन्ता के कारण कि तुम्हारा क्या होगा मेरा मन व्याकुल होकर चक्कर खा रहा है।

सीता—विरहो दे। [विरहस्तव।]

सीता—कि तुम्हारा विरह होगा।

राम—शान्तम्। इत्यादिकमाह।

राम—अरे, बन्द करो ''इत्यादि।

द्व्यर्थता यत्र वाक्यानां लेशेनापि प्रतीयते।
शब्दभङ्गानुयातश्च लेशगण्डः स कथ्यते ॥ ३६९ ॥

यथा प्रतिज्ञाभीमे—

भीम—'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च' इत्यादि।

जब वाक्यों के किसी अंश में दो अर्थों का भाव हो तो उसे 'लेशगण्ड' कहते हैं। ऐसे कथन में शब्दों की सभङ्ग (या अभङ्ग) रचना की योजना रहती है। जैसे :—*प्रतिज्ञाभीम* नामक अङ्क में—

सहदेव—प्रेम से (रक्त से) सारे भूमण्डल को अपने अधिकार में करनेवाले तथा विग्रहविहीन (युद्ध न करने वाले, मृत) 'कौरव' इत्यादि।

अश्लिष्टम्—

नानार्थानामुपक्षेपोऽश्लिष्टम्। श्लिष्टानि यत्र पदानि तद्वा अश्लिष्टम्।

यथा—

'लीलावधूतपद्मा' (रत्ना० २। ८) इत्यादि।

यथा वा—

विचित्ररूपसम्पन्ना सा मां कान्तवयोऽन्विता ।
श्यामा रैवतभूमीव चिनोति तिलकोज्ज्वला ॥

अञ्चित—जिसमे अनेक अर्थों को अभिव्यक्त किया जाए तो उसे 'अञ्चित' समझना चाहिए। अथवा जहाँ श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हो उसे भी '*अञ्चित*' कहा जाता है।

जैसे—लीला से कमल को घुमाते हुए ''इत्यादि (रत्ना० २।८)।

अथवा—जिसका विचित्र रूप और सुन्दर अवस्था [सुन्दर पक्षियों से युक्त] है, और जो ललाट पर तिलक लगाए है [तिलक वृक्षों से युक्त है] ऐसी युवती [श्यामा, कृष्णवर्ण वाली] रैवतकपर्वत की भूमि के समान मुझे प्रसन्न कर रही है।

प्रपञ्चम्—

अन्येऽञ्चितस्य स्थाने प्रपञ्चं नाम वीथ्यङ्गं वर्णयन्ति । यथा—"यदसद्भूतवचनसंस्तवयुक्तो द्वयोः परस्परतः । एकस्यार्थस्य कृते आलापो हासजननश्च ।" स प्रपञ्चः । यथा कलावत्यां राज्ञो विदूषकस्य वचनम्—

किञ्चिद्देहि ददामि चित्रफलकं तस्या मयाऽऽसादितं
सर्वं माधव शक्यमेव भवत किं ते मया दीयते ।
किं मां स्तौषि नृपानुगस्तव बटु. सोऽहं भवान्भूपतिः
मुद्रा स्वीक्रियतां ददाम्यलमिदं चित्रं सखे गृह्यताम् ॥
इति । इदं राधाख्यायां वीथ्या ज्ञेयम् ।

कुछ आचार्य अञ्चित के स्थान पर '*प्रपञ्च*' नामक वीथ्यङ्ग मानते हैं। उनके मत मे—"दो पात्रों का किसी एक वस्तु का (परस्पर) परिहास करते हुए असगत या विरुद्ध वचनों द्वारा प्रशंसा आदि के साथ वर्णन करना '*प्रपंच*' होता है। जैसे '*कलावती*' मे राजा और विदूषक का यह पारस्परिक संभाषण—

मुझे कुछ दीजिये ?

---

१. विदूषक तथा राजा के वार्तालाप से युक्त प्रस्तुत उदाहरण में बिना किसी वस्तु को अपने पास रखे ही वे छलने या परिहास करने के लिए ये सारी उक्तियाँ रची गयी हैं जो 'प्रपञ्च' का उदाहरण बन जाती हैं।

मैं आपको (उस सुन्दरी का) वही चित्रफलक दे रहा हूँ जो मुझे प्राप्त हुआ था। अरे माधव, आपके लिये तो सभी प्राप्य है, मैं आपको क्या दे सकता हूँ। आप मेरी व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहे हैं। आप राजा हैं और मैं ठहरा ब्राह्मण और आपका सेवक भी।

अच्छा तो आप ये सुवर्ण मुद्राएँ ले लीजिये।

बस बस, रहने दीजिये इन्हें, आप इस चित्र को यूँ ही ले लीजिये।

राधानामक वीथी में इसका विस्तार से निरूपण प्राप्त हो सकता है।

गोष्ठी—

अथ गोष्ठी। एकाङ्का कैशिकीवृत्तियुक्ता गर्भविमर्शसन्धिशून्या च। यथा—सत्यभामा।

गोष्ठी—अब हम 'गोष्ठी' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें एक अङ्क होता है तथा कैशिकी वृत्ति होती है। गर्भ तथा अवमर्श सन्धियां नहीं होतीं। जैसे :—*सत्यभामा*।

संलापः—

अथ संलापः। सात्त्वत्यारभटीयुतः। यथा-मायाकापालिकः।

संलाप—अब *'संलाप'* का लक्षण बतलाते हैं। इसमें केवल सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति होती है। जैसे—*मायाकापालिक*[1]।

शिल्पकम्—

अथ शिल्पकम्। ब्राह्मणनायकोपेतः। यथा-कनकावतीमाधवः। श्मशानसङ्कुलः, अनुदात्तोपनायकभूषितः, कैशिकी-भारती-सात्त्वत्यारभटीति चतुर्वृत्तिविराजितः, चतुरङ्कभूषितः, सर्वरसपूजितः। तस्य च सप्तविंशति-रङ्गानि। यथा—उत्कण्ठा, अवहित्थम्, प्रयत्नः, ग्रथनम्, आशंसा, तर्कः, संशयः, तापः, उद्वेगः, मौग्ध्यम्, आलस्यम्, अप्रतिपत्तिः, विलापः, वाग्म्यम्, अनुगमनम्, विस्मयः, साधनम्, उच्छ्वासः, चमत्कारः, शून्यत्वम्, प्रलोभः, वैशारद्यम्, सम्फेटः, आश्वासनम्, बोधनम्, प्रहर्षः, प्रशस्तिरिति।

---

1. साहित्यदर्पण में भी मायाकापालिक का उल्लेख प्राप्त होता है। इसका रचयिता अज्ञात है।

शिल्पक—अब *'शिल्पक'* का लक्षण बतलाते हैं। इसका नायक ब्राह्मण होता है। जैसे :—*कनकावतीमाधव*[1]। इसमें श्मशान के दृश्य रहते हैं, ऐसा उपनायक होता है जो धीरोदात्त प्रकृति का न हो। कैशिकी, भारती, सात्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ होती हैं। चार अङ्क और सभी रस होते हैं। शिल्पक के सत्ताईस अङ्ग होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. उत्कण्ठा २. अवहित्थ ३. प्रयत्न ४. ग्रथन ५. आशंसा ६. तर्क ७ संशय ८. ताप ९. उद्वेग १० मौग्ध्य ११ आलस्य १२. अप्रतिपत्ति १३. निलान १४. साम्य १५. अनुगमन १६. विस्मय १७. साधन १८. उच्छ्वास १९ चमत्कार २० शून्यत्व २१. प्रलोभ २२ वैशारद्य २३ सम्फेट २४. आश्वासन २५ बोधन २६. प्रहर्ष तथा २७. प्रशस्ति।

उत्कण्ठा—

तत्र रमणीयवस्तुविषयेऽभिलाषः उत्कण्ठा। यथा शाकुन्तले-

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

(शाकु० १।१५)

उत्कण्ठा—किसी रमणीय वस्तु को पाने की इच्छा करना *'उत्कण्ठा'* कहलाता है। जैसे शाकुन्तल में।

'यदि रनिवास की रानियों में दुर्लभ सुन्दरता इन आश्रमवासिनी कन्याओं को मिली है तो यही समझना चाहिये कि जंगल की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को लजा दिया।

अवहित्थम्—

प्रबुद्धस्य संवरणमवहित्थम्। यथा-वृक्षवाटिकायाम्—रजनिका (प्रविश्य) भट्टिणी किं णेदं [भट्टिनि, किन्त्वेतत्?] नन्दयन्ती— (अपवार्य) हज्जे, ण क्खु किंचिदिति [हञ्जे, न खलु किंचित्] इति।

---

१. अलङ्कारसङ्ग्रह तथा साहित्यदर्पण ने भी 'शिल्पक' का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' ही दिया है। अलङ्कार सङ्ग्रह में इसे शिल्पक के स्थान पर 'सँल्लाप' का उदाहरण माना है तथा शिल्पक के सारे अङ्गों को भी सँल्लाप के अंग जो रत्नकोश तथा भावप्रकाशन में शिल्पक के अंग माने गए हैं।

अवहित्थ—किसी ज्ञात वस्तु को छिपाना *'अवहित्थ'* कहलाता है। जैसे वृक्षवाटिका[1] में—

रजनिका—(आकर) मालकिन, यह क्या है ?

नन्दयन्ती—(छिपा कर) हंजे, कुछ भी तो नहीं।

प्रयत्नः—

अनिवृत्तये यत्नः प्रयत्नः। यथा प्रावृडङ्के—

अये, अन्विष्टेयं मया वनराजी। यावदेनां विचिनोमि। (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमत्रापि नास्ति। कष्टं भोः कष्टम्।

सर्वत्राम्बुमुचो ध्वनन्ति कुटजामोदोऽपि सर्वत्रगः
सर्वत्रैव च ताण्डवव्यसनिना केका कला बर्हिणाम्।
आर्यामाप्तिनिराशमेव कलितं पापस्य मे मानसं
येनास्मिंस्तदवस्थिते समुचितो नोद्देश एव क्षत इति ॥

प्रयत्न—किसी वस्तु को प्राप्त करने का उद्योग या आग्रह करना *'प्रयत्न'* कहलाता है। जैसे—*प्रावृडङ्क* में—

[लक्ष्मण ?]—ओ हो, मुझे इस वन प्रदेश में ढूंढ़ना चाहिए। अच्छा, तो मैं अब उन्हें तलाश करूँ। (घूम कर देखते हुए) अरे! (वह तो) यहाँ भी नहीं। हाय! हाय!

यहाँ सभी ओर मेघों का गर्जन हो रहा है, कुटज की गन्ध फैल रही है और चारों ओर नाचने वाले मोरों की आवाज़ें हो रही हैं। आज मुझ अभागे का मन आर्या को न पा सकने के कारण अतिशय निराश हो रहा है और फिर भी यहाँ पर ऐसा कोई स्थान शेष नहीं जहाँ जाकर मैंने इनकी तलाश न की हो।

प्रथनम्—

अन्योन्यनिर्णयोत्पन्नपरिचयपल्लवितविभ्रमाभिरामोऽर्थविशेषो प्रथनम्। यथा वृहद्बकुलवीथिकायाम्—

अथ तैश्च—

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिस्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः।

---

1. वृक्षवाटिका—पुष्पदूषितक के द्वितीयाङ्क का नाम।

हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-

रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मीलितञ्च ॥ (माल० मा० १ । ३१)

ग्रथन—एक दूसरे के साथ संभाषणों एवं निश्चयों से हो जानेवाले परिचय के कारण मार्दव और सौन्दर्य से पूर्ण अर्थविशेषों का परस्पर प्रयोग करते हुए वार्तालाप करना '*ग्रथन*' समझना चाहिए। जैसे—*बृहद्वकुलवीथिका*[1] नामक अङ्क में—

हे मित्र, उस कमलनयनी के चंचल कटाक्षों ने जो कभी लज्जा के कारण पीछे लौट जाते थे फिर उत्कंठा के कारण तिरछे होकर ऊपर उठ जाया करते थे, कभी पुतलियाँ आश्चर्य के भाव से खिलने पर चमकीली बन जाती थीं। इन कटाक्षों ने मेरे असहाय मन को हर लिया, पटक दिया, पी लिया और वहीं गाड़ दिया।

आशंसा—

ईप्सितस्य दुर्लभस्याशंसनमाशंसा। यथा श्मशानाङ्के—इदमेव तावत् प्रार्थये—

सम्भूयेव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते

यत्रालोकपथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः।

यद्बालेन्दुकलोच्चयादुपचितैः सारैरिवोत्पादितं

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ॥ इति।

(मा० माध० ५ । ९)

आशंसा—किसी दुष्प्राप्य वस्तु को पाने की इच्छा या आशा करना '*आशंसा*' कहलाता है। जैसे *श्मशानाङ्क* में—मैं तो सिर्फ यही चाहता हूँ कि—

जिसके सुन्दर मुख को देखने पर संसार के सभी सुख मिल कर मानो चित्त में आनन्द का संचार सा कर देते हों, जिसके अवलोकन मात्र से नेत्रों में प्रीति का प्रस्ताव आने लगता है, जिसका बालचन्द्र की कला के सारतत्त्वों से निर्माण किया गया सा लगता है उस प्रियतमा के मुख को—जो कामदेव के मंगल सदन के समान है—क्या मैं फिर से देख पाऊँगा?

---

[1] बृहद्वकुलवीथी—मालतीमाधव के 'प्रथमाङ्क' का नाम। 'बकुलवीथी' एक वीथी का भी नाम है। अतः ये दोनों परस्पर भिन्न हैं तथा इसी कारण अङ्क के अभिधान में बृहत् विशेषण जोड़ा गया है।

तर्कः—

आत्मविचाराधीनोऽर्थावग्रहस्तर्कः। यथा नन्दयन्तीसंहारे—

भर्ता तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं
पुत्रस्तवैष कुत इत्यनुदारतैषा।
शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि कष्टं
व्यक्तं विरौमि यदि साभ्युपपद्यते माम्॥ इति।

तर्क—किसी तथ्य को निश्चित करने के लिए किया गया आत्म-परीक्षण 'तर्क' कहलाता है। जैसे नन्दयन्तीसंहार[1] नामक अङ्क में—

इन कष्टमय अवस्थाओं के बीच 'मैं तुम्हारा स्वामी हूँ' कहना अनुचित है और 'तुम्हें यह पुत्र किससे प्राप्त हुआ' पूछना भी अर्थहीन है। मेरी आंखों के सामने अब [आत्महत्या के लिये] शस्त्र पड़ रहा है। हाय! अब मैं क्या करूँ? यदि खुल कर रोता हूँ तो वह अभी मेरे पास आ जाएगी।

संशयः—

कोटिद्वयावलम्बनोऽर्थः संशयः। यथा (विद्ध) शालभञ्जिकायाम्—

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मनाग्
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः।
सुधा-बद्धग्रासैरुपवन चकोरैरनुसृतां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नव-लवलिपाकप्रणयिनीम्॥

(विद्ध० भ० १।३१)

संशय—जिस विषय पर दोनों पक्षों का सन्देह होता हो [या वह अर्थ जिसे दोनों पक्षों में लगाया जा सकता हो] 'संशय' कहलाता है। जैसे विद्धशालभञ्जिका में—

ज़रा उस किले की दीवार के एक कोने पर अपनी नजर उठा कर देखिये और थोड़ा विचार कीजिये कि बिना आकाश के यह निष्कलङ्क चन्द्र यहाँ कैसे उदित हो रहा है। यह अपनी स्वच्छ कान्ति को चारों ओर फैला रहा है जो ताजी लवली लता के समान शुभ्र है। इस

1. नन्दयन्तीसंहार—पुष्पदूषितक के अन्तिम अङ्क का नाम।

चन्द्रिका का पान करने के लिये सुधा रस से सने मुँह वाले उपवन के चकोर पक्षी भी मानों इस चन्द्र का अनुसरण कर रहे हैं।

तापः—

अनुशयविशेषस्तापः। यथा कुलपत्यङ्के—

सुभ्रूर्यास्यति गोचरं नयनयोरुन्निद्रपद्मेक्षणा

मुग्धा सेयमिति स्फुटं यदि परिज्ञातं भवेत् प्राप्य मे।

सद्गौरीदयितादपास्य सकलानन्यान् वरान् केवलं

किं न प्रार्थितवानतीतगणनानन्त्यां विजातस्फुटानिहि॥

ताप—विशेष रूप में पश्चात्ताप करना 'ताप' कहलाता है। जैसे कुलपत्यङ्क में—

क्या मुझे इसके पाने के पहिले स्पष्टतः यह ज्ञात था कि विकसित कमल के समान नेत्रों और सुन्दर बरौनियों वाली जो सुन्दरी मुझे दिखाई दी थी वह वही भोली युवती होगी। यदि ऐसा विदित होता तो मैं गौरीवल्लभ शिवजी के द्वारा दिये हुए सभी वरों को छोड़ कर—जो अपने विपरीत परिणाम को स्पष्टतः प्रकट कर सकते थे—इसी की प्रार्थना क्यों नहीं कर लेता जिससे कि अतीत से अनन्तकाल तक की गणना तक अपरिमित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी।

उद्वेगः—

बन्धुजनवियोगजनित उद्वेगः। यथा धृतराष्ट्राङ्के—

सुक्षत्रियासि भवती क्व च दीनतैषा

निर्वत्सले सुतशतस्य विपत्तिमेनाम्।

त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोग्यं

मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते॥ (वे० स० ५।३)

उद्वेग—अपने सम्बन्धियों से बिछुड़ने पर होने वाला क्लेश 'उद्वेग' समझना चाहिये। जैसे धृतराष्ट्राङ्क में:—

अरे माँ, तुम ऊँचे कुल में उत्पन्न होनेवाली क्षत्रियाणी हो और तुम्हारे मुँह से ये दीनवचन निकल रहे हैं। यह क्या है? अरी पुत्र स्नेह में विह्वल होनेवाली माँ, तुम अपने सभी पुत्रों की आपत्ति का स्मरण नहीं कर रही हो और अकेले मुझ अयोग्य की रक्षा करना चाहती हो। (आज) ये कायरतापूर्ण शब्द तुम्हारे मुँह से निकलने योग्य नहीं हैं।

मौग्ध्यम्—

स्त्रीस्वभावविशेषो मौग्ध्यम् । यथा चैत्रावल्यङ्के—

(सागरिका) अम्मो अम्हाणं तादस्स अन्तेउरे चित्तगदो भअवं अच्चिअदि । एत्थ उण सअं चेअ पूअ पडिस्सदि । [अहोऽस्माकं तातस्यान्तःपुरे चित्रगतो भगवानर्च्यते । अत्र पुन स्वयमेव पूजां प्रतीच्छति ।] (रत्ना० अ० १)

मौग्ध्य—स्त्रियों की अति सहज भोली प्रकृति को 'मौग्ध्य' समझना चाहिये । जैसे चैत्रावल्यङ्क में :—

(सागरिका) अरे, आश्चर्य है । मेरे पिताजी के घर पर तो केवल कामदेव के चित्रों की पूजा की जाती थी पर यहाँ तो साक्षात् काम का अर्चन किया जा रहा है ।

आलस्यम्—

मार्गादिखेदजन्य श्रम आलस्यम् । यथा कुन्दमालानिर्याते—

[सीता—] वच्छ लक्खण, अदिसअं गरुअ गब्भभारं वहणच्छमा ण वहन्दि मे चलणा । ता अग्गदो भविअ णिरुवेदि दाव कीसदूरे भअवदी भाईरघीत्ति । [वत्स लक्ष्मण, अतिशयं गुरुगर्भभारं वहनाक्षमौ न वहतो मे चरणौ । तदग्रतो भूत्वा निरूपय तावत् कियद् दूरे भगवती भागीरथीति ।] (कुन्द० अं० १)

आलस्य—बड़ी दूर तक चलने के कारण होने वाली थकावट को 'आलस्य' समझना चाहिये । जैसे कुन्दमाला में :—

सीता—गर्भ भार से कमजोर हो जाने के कारण अब मेरे पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं । तुम जरा आगे बढ कर पता लगाओ कि अब भागीरथी कितनी दूर है ?

अप्रतिपत्तिः—

प्रतिपत्तिमूढताऽप्रतिपत्तिः । यथा कोशलाङ्के—

पिअसहि, ण क्खु कि पि । किंतु गदं पुत्तकं सुणिअ किं महाराओ पडिवत्तिस्सदि त्ति एव्वं मे सोअकारणं त्ति । [प्रियसखि, न खलु किमपि । किन्तु गतं पुत्रकं श्रुत्वा किं महाराजः प्रतिवक्ष्यतीति एतन्मे शोककारणम् इति ।]

अप्रतिपत्ति—किये जाने वाले कार्य का अज्ञान रहना या उसे करते समय घबड़ाहट होना 'अप्रतिपत्ति' कहलाता है। जैसे कोशलाङ्क में:—

सखि, और कुछ नहीं। पर जब महाराज यह सुनेंगे कि अब उनका पुत्र नहीं रहा तब वे क्या कहेंगे? मेरे शोक का यही कारण है।

विलापः—

शोकसमुत्थमापदि परिदेवनं विलापः। यथा कृत्यारावणेऽटव्यङ्के—'वैदेहि देहि कुपिते दयितस्य वाचम्।

इत्थङ्गतस्य सहसागतसङ्गमस्य ॥' इत्यादि।

विलाप (परिदेवन)—आपत्तिकाल में शोक के कारण होनेवाला रुदन 'परिदेवन' कहलाता है। जैसे कृत्यारावण के अटवी नामक अङ्क में:—

'अरी कुपित होने वाली वैदेहि, इस समय सहसा मिल जाने वाले अपने स्वामी को बुलाओ तो' इत्यादि।

वाम्यम्—

प्रसादने व्युत्थानं वाम्यम्। यथा कुम्भाङ्के—

देवी—देव, एतद्वक्तुकामास्मि। सीता मोचय। अवलीयसीं दशामुपगतस्त्वम्। तत् किं विस्मृतोऽसीत्यादि।

वाम्य—प्रसन्नता के विपरीत आचरण करना 'वाम्य' कहलाता है। जैसे कुम्भाङ्क में:—

देवी देव, तुम्हें मैं यही कहना चाहती थी कि 'सीता को छोड़ दो, अब तुम्हारी शक्ति क्षीण हो गई है फिर क्यों भूल कर रहे हो' आदि।

अनुगमनम्—

प्रस्थितस्य हर्षादनुयानमनुगमनम्। यथा मायाशकुन्ते नलः—

इय दर्भश्रेणी मृदुचरणपातं व्रज शनै
निवर्त्ते स्वाध्यायं निविडनडमालावलयित।
भजेथा. पश्चान्मा वरतनु पुरस्तान्मृगखुर-
क्षुरप्रत्यारेखस्थपुटितविभागा वनभुव ॥

अनुगमन—प्रस्थान करनेवाले स्वामी का प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करना 'अनुगमन' कहलाता है। जैसे *मायाशकुन्त* में:—

नल—इस मार्ग में कुशाओं की पाँतें हैं इसलिए धीरे-धीरे पैरों को

उठा कर चलो। चक्करदार बेंतों की पाँत से युक्त इस रास्ते में धीरे से घूमो। तुम मेरे पीछे-पीछे ही धीरे चलो क्योंकि मृगों के तीखे खुरों से खुदने पर उबड़-खाबड़ भू भाग तीखे हो जाने के कारण चुभने वाले बन गये हैं।

विस्मयः—

अकृतार्थदर्शनोद्भवोऽर्थविशेषो विस्मयः। यथा—[1]'दोर्दण्डाः क्व कृताङ्गदा' इति।

विस्मय—किसी प्रयोजन के पूर्ण न होने पर उसे देखकर होनेवाला मानसिक भाव *'विस्मय'* कहलाता है। जैसे—

अब वे बाजूबन्द से शोभित भुजदण्ड कहाँ हैं? इत्यादि।

साधनम्—

व्याहारविशेष साधनम्। यथा क्षपणककापालिके—'भवतु। मन्त्रेण वशीकरोमि।' इति

साधन—किसी विशेष उपाय का कथन करना *'साधन'* समझना चाहिये। जैसे *क्षपणककापालिक* में '—

खैर, जाने दो। अब मैं अपने मन्त्रों से इसे वश मे करता हूँ।

उच्छ्वासः—

मुग्धस्योत्थानमुच्छ्वासः। यथा विक्रमोर्वशीये—'अये, समुच्छ्वसितमार्येण।' इति। (वि० व० अं ४)

उच्छ्वास—मूच्छित या मोहित पुरुष का फिर अपनी दशा में उठ खड़े होना *'उच्छ्वास'* कहलाता है। जैसे विक्रमोर्वशीय में :—

'अरे, अब आर्य की साँस चलने लगी।'

चमत्कारः—

चमत्कारो लोकप्रसिद्ध एव। यथा क्षपणककापालिके[2]—

हीमाणिके, लामलक्खणेहिं लक्खिदे दंडकालण्णे आकालेदि मं लंकाए त्ति। [आश्चर्यम्, रामलक्ष्मणाभ्यां रक्षिते दण्डकारण्ये आकारयति मा लङ्काया] इति।

चमत्कार—लोकसिद्ध होने से *'चमत्कार'* का लक्षण सभी जानते हैं। जैसे *क्षपणककापालिक* मे :—

---

१. 'दोर्दण्डा' इत्यादि पद्य महावीरचरित के द्वितीय अङ्क का है।

२. क्षपणककापालिक-रामानन्द नाटक के एक अङ्क का नाम।

ओ हो, राम-लक्ष्मण से सुरक्षित दण्डकारण्य में मुझे लङ्का से यह बुला रहा है इत्यादि।

शून्यत्वम्—

विस्मरणशून्यत्वं शून्यत्वम्। यथा प्रावृडङ्के—वत्स, इयतीं वेला क्व गतो भवानासीत्। इति।

शून्यत्व—किसी की याद न आना 'शून्यत्व' कहलाता है। जैसे प्रावृड् नामक अङ्क में :—

बेटे, तुम इतनी देर कहाँ गये हुए थे।

प्रलोभः—

प्रयोजनार्थमर्थादिभिः प्रलोभनं प्रलोभः। यथा मोटकाङ्के—

शकारः—शुवण्णआणं शदं देमि। कंठकं जदुकं दे देमि। मालेहि ले एदं गणिआदालिअं। [सुवर्णकानां शतं ददामि। कण्ठकं जतुकं तुभ्यं दास्यामि। मारय रे एतां गणिकादारिकाम्।]

(मृच्छ० अ० ८)

प्रलोभ—अपने कार्य के लिए धन आदि का लालच दिखलाना 'प्रलोभ' कहलाता है। जैसे मोटनकाङ्क में :—

शकार—मैं तुझे एक सौ सोने की मुहरें दूँगा और एक सोने के दानों का कण्ठा दूँगा जिसमें लाख भरी हुई है। बस, तू इस वेश्या की बच्ची को मार डाल।

वैशारद्यम्—

आत्मनः पौरुषप्रतिपादनं वैशारद्यम्। यथा रामाभ्युदये

वाली— क्षयानलशिखाजाल-विकरालसटावलिः।
दृश्यते वा द्विपैः सिंहः क्रुद्धो वाली न वैरिभिः॥

वैशारद्य—अपने पुरुषार्थ या शौर्य का बखान करना 'वैशारद्य' कहलाता है। जैसे रामाभ्युदय में :—

वाली—प्रलयकाल में उठनेवाली आग की लपटों के समान भयङ्कर जटाओं की पाँतों से व्याप्त क्रोध में भरे हुए वाली (के मुख) को शत्रु उसी प्रकार नहीं देख पाते जैसे सिंह को हाथी।

सम्फेटः—

क्रोधेनातिक्रम सम्फेटः । यथा मोटकाङ्के—

शकार —ओदल गब्भदाशी ओदल । मम केलकाइं गोणाइं वाहेशि । [अवतर गर्भदासी अवतर । मदीयौ गावौ वाहयसि ।]

(मृच्छ० अं० ८)

सम्फेट—क्रोध में मर्यादा को लाँघ जाना 'सम्फेट' कहलाता है। जैसे मोटकाङ्क में :—

शकार—अरे गर्भदासी, नीचे उतर। मेरे बैलों पर चढी जा रही है।

आश्वासनम्—

शोकापनोदमाश्वासनम् । यथा कोशलाङ्के—

सुमित्रा—अज्जे समस्सस । कीस दाणिं तुमं रामभद्दस्स जणणी भविअ अम्हारिसीहिं आसासीअसि । [आर्ये समाश्वसिहि । कस्मादिदानीं त्वं रामभद्रस्य जननी भूत्वास्मादृशीभिराश्वास्यसे ।]

आश्वासन—शोक को दूर करना 'आश्वासन' कहलाता है। जैसे कोशलाङ्क में :—

सुमित्रा—देवी, तुम धैर्य रखो । क्योंकि तुम श्रीराम की माता होकर भी आज हम जैसी से धीरज बँधाने को कही जा रही हो।

बोधनम्—

कार्यप्रतिवचनेन प्रतिबोधनं बोधनम् । यथा राघवाभ्युदये

लक्ष्मणः—तदेतद्विज्ञापयामि ।

अभ्यर्थ्यतां मार्गमसौ पयोधि.
स बध्यतां कूटमतिर्दशास्यः ।
विमुच्य तावत् परिदेवितव्यं
कार्याणि सर्वत्र गुरूभवन्ति ॥

बोधन—भावी कार्यों के क्रम को बतलाना 'बोधन' कहलाता है। जैसे *राघवाभ्युदय* में :—

लक्ष्मण—मैं तो आपको यही निवेदन करता हूँ कि—आप चाहे इस समुद्र से मार्ग की याचना करें या छल-कपट में दक्ष वह रावण

बाँध लिया जाए। पर इन सभी कार्यों के पहिले आप विलाप करना छोड़ दीजिये क्योंकि प्रत्येक किया जानेवाला कार्य सरलता से पूर्ण नहीं हो जाता।

प्रहर्षः—

प्रहर्षश्च लोकप्रसिद्ध एव। यथा (विक्रमोर्वशीये)—

पुरूरवा —(चक्षुषी उन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमोर्वशी।

(विक्र० अ० ४)

प्रहर्ष—लोकप्रसिद्ध होने से '*प्रहर्ष*' को सभी जानते हैं। जैसे *विक्रमोर्वशीय* में :—

पुरूरवा—(आँखें खोलते हुए) अरे! क्या सचमुच मेरी प्रिया उर्वशी है।

प्रशस्तिः—

देवद्विजादिकल्याणावधारण प्रशस्तिः। यथा राघवाभ्युदये—
'प्रीत. पृथ्वीम्' इत्यादि।

प्रशस्ति—देवता या ब्राह्मणों की मङ्गलकामना करना '*प्रशस्ति*' कहलाती है। जैसे *राघवाभ्युदय* में :—

राजा प्रसन्न होकर पृथ्वी की रक्षा करें[1] इत्यादि।

प्रस्थानम्—

अथ प्रस्थानम्। घटचेट्यादिनायिकं, कैशिकीवृत्तिबहुलं, बहुतालल्यात्मकं, सुरापानराजितं, विटोपनायकं दासादिनायकञ्च। यथा—
शृङ्गारतिलकम्।

प्रस्थान—अब '*प्रस्थान*' का लक्षण बतलाते हैं। इसकी नायिका दासी या नीचकुल में उत्पन्न होनेवाली स्त्री होती है, कैशिकी वृत्ति की प्रचुरता रहती है, अनेक ताल और लय से युक्त सङ्गीत की योजना रखी जाती है, सुरापान आदि की घटनायें रहती हैं और दास नायक तथा विट उपनायक होता है। जैसे *शृङ्गारतिलक*[2]।

---

१ 'प्रीत. पृथ्वीम्' इत्यादि सम्पूर्ण श्लोक पहले दिया जा चुका है। (द० ना० ल० र० को० पृ० ९०)

२. शृङ्गारतिलक प्रस्थान का उल्लेख सा० द० (६।२८२), भावप्रकाशन (पृ० २९१) तथा अष्टाङ्गसङ्ग्रह (६।१२३) में भी प्राप्त होता है।

काव्यम्—

अथ काव्यम्। खण्डमान-मात्राद्विपदीभग्नतालकादिविभूषितं, चतुर्वृत्तियुक्तं, शृङ्गारहास्यप्रधानं, गर्भावमर्शसन्धिशून्यमेकाङ्कम्। यथा—उत्कण्ठितमाधवम्।

काव्य—अब 'काव्य' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें रहनेवाले सङ्गीत में खण्डमान, मात्रा, द्विपदी और भग्नताल की योजना की जाती है, चारों वृत्तियाँ रहती हैं, शृङ्गार और हास्य रस मुख्य होते हैं, गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं तथा एक अङ्क होता है। जैसे उत्कण्ठितमाधव।

हल्लीसकम्—

अथ हल्लीसकम्। सप्ताष्ट-नव-योषिद्भूषितं, कैशिकीवृत्तिप्रायं, बहुताललयात्मकम्, एकाङ्कम्, एकपुरुषप्रधानमनुदात्तवचनकृतम्। यथा—केलिरैवतकम्।

हल्लीसक—अब 'हल्लीसक' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें सात, आठ या नौ स्त्री पात्र रहते हैं, कैशिकी वृत्ति मुख्य होती है, लय और ताल से आबद्ध सङ्गीत का प्राचुर्य रहता है, एक अङ्क होता है तथा एक मुख्य पुरुष-पात्र रखा जाता है। इसकी भाषा संस्कृत या परिष्कृत नहीं होती। उदाहरण 'केलिरैवतक'[1]।

श्रीगदितम्—

अथ श्रीगदितम्। यत्र श्रीरासीना करुणं पठति। एकाङ्कमुदात्तवचनकृतं, भारतीवृत्तिप्रधानं प्रख्यातवस्तुनायकम्। यथा—क्रीडारसातलम्।

श्रीगदित—अब 'श्रीगदित' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें एक स्त्री द्वारा बैठ कर करुण गीत गान रखा जाता है। इसमें एक अङ्क, सुसंस्कृत भाषा तथा भारतीवृत्ति होती है। इसके नायक और कथावस्तु प्रख्यात होते हैं। जैसे क्रीडारसातल[2]।

1. केलिरैवतक का उल्लेख सा० द० (६।३०७) भावप्र० (पृ० २६७) तथा अलङ्कारसंग्रह (९।१४९) में भी प्राप्य है।

2. तुलना—सा० द० (६।२९४, ९५) अलं० सं० (९।१४२)।

भाणिका—

अथ भाणिका। उदात्तनायिका, सूक्ष्मनेपथ्यभूषिता, एकाङ्का, कैशिकी–भारतीवृत्तिप्रधाना मन्दपुरुषा च। यथा—कामदत्ता।

अस्या. सप्ताङ्गानि। विन्यास. उपन्यास., विरोध, अनुवृत्ति, साध्वसं, समर्पणं संहारश्चेति।

भाणिका—अब *'भाणिका'* का लक्षण बतलाते हैं। इसमें नायिका कुलजा या उत्तमा होती है। वेशभूषा में उत्कृष्ट वेष एवं वस्त्रों का उपयोग रखा जाता है। एक अङ्क होता है। कैशिकी तथा भारती वृत्ति की प्रमुखता होती है तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषपात्र कम रहते हैं। जैसे *'कामदत्ता'*[1]।

भाणिका के सात अङ्ग होते हैं। यथा :—(१) विन्यास, (२) उपन्यास, (३) विरोध, (४) अनुवृत्ति, (५) साध्वस, (६) समर्पण तथा (७) संहार।

तत्र विन्यासः—

निर्वेदवाक्यं विन्यासः। यथा गृहवाटिकायाम्—

नन्दयन्ती—ता किं मे दोहग्गकलंकमलिनिदेण हदसरीरेण।
[तद् किं मे दौर्भाग्यकलङ्कमलिनितेन हतशरीरेण]

विन्यास—निर्वेदपूर्ण वचनों का कथन *'विन्यास'* कहलाता है। जैसे *गृहवाटिका* में :—

नन्दयन्ती—इस अभागे और मलिन शरीर का अब और उपयोग ही क्या रह गया है।

उपन्यासः—

प्रसङ्गतः कार्यनिवेदनमुपन्यासः। यथा तत्रैव—

नन्दयन्ती—एसो अवरो अज्जउत्तहिअअसरिसो कण्णिआर-पादवोत्थि। [एष. अपर. आर्यपुत्रहृदयसदृशः कर्णिकारपादपः अस्ति।]

उपन्यास—[अवसर पाने पर] भावी कार्य को सहसा कह डालना *'उपन्यास'* समझना चाहिए। जैसे वहीं—

नन्दयन्ती—यह कनेर का वृक्ष आर्यपुत्र के दूसरे हृदय के समान है।

---

1. तुलना—सा० द० (६।३१२) तथा भर्ह० सं० (९।११५)।

विरोधः—

भ्रान्तिनिर्वृत्तिर्विरोधः। यथा अनुतापाङ्के—

राजा— दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तद्गतेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा[1] त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता॥ इति
(अभि० शाकु० ६।२१)

निरोध—किसी भ्रम का हट जाना 'विरोध' समझना चाहिये। जैसे शाकुन्तल के अनुताप नामक अङ्क में :—

राजा—ध्यान में मग्न होकर मैं अपने सामने साक्षात् उपस्थित हुई प्रिया के दर्शन का आनन्द ले रहा था पर तुमने उसी की याद दिलाकर फिर से उसे चित्र बना डाला।

अनुवृत्तिः—

निदर्शनोपन्यासोऽनुवृत्तिः। यथा तत्रैव—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहु मन्यमानः।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्॥ (अभि शा० ६।१६)

अनुवृत्ति—किसी उदाहरण को बतलाते हुए बात करना 'अनुवृत्ति' कहलाता है। जैसे वहीं :—

राजा—हे मित्र, जरा मेरी दशा तो देखो। जब (मेरी) वह (प्रिया) पहिले स्वयं मेरे पास आयी थी तब मैंने उसे लौटा दिया और अब चित्र में लिखित उसी प्रिया पर अपना प्रेम दिखा रहा हूं। यह तो ऐसा ही है कि जैसे किसी भरी हुई नदी को छोड़कर पानी के लिए मृगतृष्णा की ओर कोई झपटने लगे।

साध्वसम्—

अद्भुतस्य साध्वसेन भूतोदाहरणं साध्वसम्। यथा तत्रैव 'चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः' इत्यादि।

(अभि० शाकु० ६।४)

---

1. स्मृतिकारिणेति नि० सा० संस्करणे पाठः।

साध्वस—किसी अद्भुत या असम्भव घटना को भयवश घटित बतला देना 'साध्वस' कहलाता है। जैसे वहीं—

देखो, बहुत पहिले फूटनेवाले आम के बौरों में अभी भी पराग नहीं जम रहा है इत्यादि।

समर्पणम्—

पीडयोपालम्भ समर्पणम्। यथा चन्दनलतागृहे—

मलयवती—भअवं कुसुमाउह, जेण तुमं रूवसोहाए विणिज्जिदो तस्स तए ण किं पि किदं। मम उण अणवरद्धाए कध पहरन्तो ण लज्जसि। [भगवन् कुसुमायुध, येन त्वं रूपशोभया विनिर्जित तस्य त्वया न किमपि कृतम्। मम पुनरनपराद्धाया कथं प्रहरन् न लज्जसे।] इति। (नागा० अ० २)

समर्पण—कष्ट में आकर उलाहना देने लगना 'समर्पण' कहलाता है। जैसे चन्दनलता गृह में'—

मलयवती—भगवन् स्मर, जिसने तुम्हें अपने सौन्दर्य से पराजित किया उसका तो तुम कुछ भी बिगाडते नहीं हो और मुझ निरपराधिनी स्त्री पर प्रहार करते हुए लजाते भी नहीं?

संहारः—

संहारः प्रसिद्ध एव।

संहार—'संहार' का लक्षण प्रसिद्ध (होने से सभी जान सकते) हैं।

भाणी—

अथ भाणी। एकाङ्का विटविदूषकपीठमर्दशोभिता शृङ्गार-रसा, स्वल्पचित्रकाव्या दशलास्याङ्गशोभिता। यथा-वीणावती।

भाणी—अब 'भाणी' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें एक अङ्क होता है, विट, विदूषक और पीठमर्द पात्र होते हैं, शृङ्गाररस होता है, शब्दालङ्कारों की थोड़ी मात्रा में संयोजना रहती है और लास्य के दसों अङ्ग रखे जाते हैं। जैसे वीणावती[1] भाणी।

दुर्मल्लिका—

अथ दुर्मल्लिका। चतुरङ्का गर्भसन्धिशून्या। यथा-बिन्दुमती।

1. द्रष्टव्य—भावप्रका० (पृ० २९१)।

अस्यामेकाङ्को विटविलासमयः। द्वितीयो विदूषकविलासमयः। तृतीयः पीठमर्दविलासमयः। चतुर्थः नागरविलासमयः। प्रथमस्तु त्रिनाडिकः, द्वितीयः पञ्चनाडिकः, शेषौ दशनाडिकौ।

दुर्मल्लिका—अब '*दुर्मल्लिका*' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें चार अङ्क होते हैं तथा गर्भसन्धि नहीं होती। जैसे *बिन्दुमती*। इसके प्रथम अङ्क में विट का कार्य प्रदर्शित किया जाता है, दूसरे में विदूषक का तथा तीसरे में पीठमर्द का। चौथे अङ्क में नायक का नागरक रूप में किया जाने वाला विहार-विलास (आदि) प्रदर्शित किया जाता है। प्रथम अङ्क का समय तीन[1] नाडिका, दूसरे अङ्क का समय दो नाडिका और शेष तीसरे और चौथे अङ्कों का समय दस नाडिका रखा जाता है।

प्रेक्षणकम्—

अथ प्रेक्षणकम्। अशेषभाषोपशोभितं, शौरसेनीप्रधानं, गर्भविमर्शशून्यं तल्लक्षणयुक्तञ्च सर्ववृत्तिनिष्पन्नम्। प्रतिमुखसन्धिप्रवेशकविष्कम्भका अत्र न कर्तव्याः। परिवर्तकयुक्तं प्रयत्नतः कार्यम् नियुद्धसम्फेटयुतं, विपदनुचिन्ताबहुलञ्च। अत्र तु सूत्रधारो न विधेयः। नान्दी उपक्षेपश्च विधेयः। यथा—वालिवधः।

प्रेक्षणक—अब '*प्रेक्षणक*' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें सभी भाषाओं का प्रयोग किया जाता है तथा शौरसेनी की प्रमुखता होती है। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं पर उनके कार्यों के अंश रहते हैं। सभी वृत्तियाँ रहती हैं। इसमें प्रतिमुख सन्धि, प्रवेशक तथा विष्कम्भक नहीं होते पर पूर्वरङ्ग के एक अङ्ग '*परिवर्तक*' को सावधानीपूर्वक रखा जाता है। इसमें बाहुयुद्ध, क्रोधपूर्णसम्भाषण तथा भावी विपत्ति की आशङ्काओं का प्रदर्शन रखा जाता है। इसमें सूत्रधार को नहीं रखा जाता परन्तु नान्दी और उपक्षेप की योजना की जाती है। जैसे *वालिवध*[2]।

---

1. तुलना—सा० द० (६।३०४), भावप्र० (पृ० २६७) तथा अलङ्कारस० (९।१५)। भावप्रकाशन में तीसरे चौथे अङ्क की सात नाडिकायें तथा साहित्यदर्पण और अलङ्कारसंग्रह में तीसरे और चौथे अङ्क की छः नाडिकायें मानी गई हैं।

2. वालिवध प्रेक्षणक का उल्लेख भा० प्र० (पृ० २६३) तथा अलं० स० (९।१२५) में भी मिलता है।

सट्टकम्—

अथ सट्टकम्। तच्च नाटिकाप्रतिरूपक, कैशिकीभारतीप्रधानं, रौद्रवीरभयानकबीभत्समवमर्शसन्धिशून्यम्। यथा—कर्पूरमञ्जरी। अन्तर्यवनिकान्तम्। यथाङ्के यवनिकयाऽवच्छेदा भवन्ति तथात्रापि। शौरसेनीप्राच्यामहाराष्ट्रीयुक्तम्। स्त्रीवद् राज्ञोऽपि प्राकृतपाठः कार्यात् संस्कृतपाठ। तत्र रूपकमेवेदं कार्यमिति राज्ञापि प्राकृतपाठ कर्त्तव्यः।

सट्टक—अब हम 'सट्टक' का लक्षण बतलाते हैं। इसका स्वरूप नाटिका के अनुकरण पर निर्मित किया जाता है। इसमें कैशिकी तथा भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमे रौद्र, वीर तथा भयानक रस होते हैं तथा अवमर्श सन्धि नहीं होती। जैसे—कर्पूरमञ्जरी। यवनिका के द्वारा मध्यन्तर होते हैं। ये मध्यन्तर अङ्क के समान होते हैं अर्थात् अङ्क के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को यवनिका के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसकी भाषा शौरसेनी, प्राच्या या महाराष्ट्री प्राकृत होती है। इसका नायक राजा होता है और स्त्री पात्र के समान प्राकृत भाषा का (ही) व्यवहार करता है तथा (यद्यपि बादरायण आचार्य के अनुसार) कार्यवश संस्कृत भाषा का भी व्यवहार किया जा सकता है फिर भी रूपक के स्वरूप की प्रमुख भाषागत इसी विशेषता के कारण राजा को प्राकृतभाषी ही रखना अधिक अच्छा[1] है।

रासकम्—

अथ रासकम्। मुख्यनायिकम्, सकलभाषाविभाषाशोभितम्, उदात्तनायकं, पञ्चपात्रप्रयोज्यमनेककलोपदेशवार्तामण्डितं, सम्भोगोदात्तभाषभूषितमुत्तरोत्तरप्रधानमेकाङ्क सूत्रधारपरिहीणं वीथ्यङ्गयुक्तम्। यथा—मदनिकाकामुकम्।

रासक—अब हम 'रासक' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें नायिका प्रमुख एवं प्रसिद्ध होती है, सभी भाषाओं का व्यवहार रखा जाता है, धीरोदात्त

---

1. सट्टक की नाटिका से अतिरिक्त विशेषता यही है कि यह प्राकृत भाषा में होता है। 'सट्टक प्राकृताशेषभाषम्'। इसी विभेदक स्वरूप के कारण इसमें सारे पात्रों की भाषा प्राकृत ही रखी जाती है, अतः नायक के राजा होने पर भी उसकी भाषा संस्कृत नहीं रहती तथा इसके सारे सम्भाषण प्राकृत भाषा में ही होते हैं।

नायक होता है, पाँच पात्र होते हैं, अनेक कलाओं की शिक्षा तथा सूचनाओं के देने वाले सम्भाषण रखे जाते हैं, कोमल और उदात्त भावों की योजना रहती है, संवादों में उत्तरोत्तर चढ़ाव या जोड़-तोड़ का प्रयोजन रहता है, एक अङ्क होता है तथा सूत्रधार नहीं होता। इसमें वीथी के सभी अङ्गों की योजना भी की जाती है। जैसे—मदनिका कामुक।

नाट्यरासकम्—

अथ नाट्यरासकम्। बहुताललयात्मकं, हासशृङ्गारमण्डितम्, एकाङ्कं, दशलास्याङ्गभूषितम्, उदात्तनायकपीठमर्दोपनायक वासकसज्जा-नायिकम्। यथा—विलासवती।

नाट्यरासक—अब हम 'नाट्यरासक' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें लय ताल से निबद्ध सङ्गीत की प्रचुरता होती है, हास्य और शृङ्गाररस होते हैं, एक अङ्क होता है तथा लास्य के दसों अङ्गों की योजना की जाती है। इसका नायक (धीर) उदात्त, उपनायक पीठमर्द तथा वासकसज्जा नायिका होती है। जैसे—*विलासवती*[1]।

उल्लाप्यकम्—

अथोल्लाप्यकम्। गीतमयं त्र्यङ्कम्। अस्य लक्षणम्—उदारनायक-मुज्ज्वलरसात्मकं, बहुपुस्तप्रधानं, दिव्यचरितं, शिल्पकाङ्गभूषित हास्य-कारुण्यशृङ्गारपूरितम्।

यथा—देवीमहादेवम्। इति।

उल्लाप्यक (या उल्लाप्यक)—अब हम 'उल्लोप्यक' का लक्षण बतलाते हैं। इसकी रचना गीति पद्यमयी होती है, सङ्गीत की प्रचुरता रखी जाती

---

१. रासक का नायक मुख्य या उदात्त रहना चाहिये। भा० प्र० तथा अलङ्कारसंग्रह ने भी यही माना है। सम्भवतः लिपि प्रमाद के कारण 'मुख्य-नायकम्' शब्द 'मूर्खनायकम्' होकर साहित्यदर्पण की प्रतियों में पहुँच गया प्रतीत होता है। वास्तव में रासक का नायक उदात्त ही होता है। अतः इस उपरूपक का दर्पणानुमोदित मूर्ख नायक कथमपि उपयुक्त नहीं।

२. तुलना—भा० द० (६।२०९, २८०) तथा अलङ्कार सं० (९।१६१)।

है तथा तीन अङ्क[1] होते हैं। इसका नायक उदार (उदात्त ?) प्रकृति का होता है और उसकी वेशभूषा भड (भम ?) कीली रखी जाती है। इसमें अनेक पुस्तकर्म (मुखौटे तथा और पलस्तर से तैयार वस्तुओं) का उपयोग किया जाता है, दिव्य पात्रों का कार्य प्रदर्शित किया जाता है तथा शिल्पक के अङ्गों की संयोजना की जाती है। इसमें हास्य, शृङ्गार तथा करुण रस होते हैं। जैसे—देवीमहादेव[2]।

इह हि भरतमुख्याचार्यशास्त्राम्बुराशेः
अमृतमिव रसाढ्यं लक्षणं नाटकस्य।
प्रतिधृतमपहाय व्यासमुक्त्या च लक्ष्या-
ण्यधिगमयितुमल्पज्ञानमल्पश्रमेण ॥ ३७० ॥

यह भरत आदि प्रमुख नाट्याचार्यों के सिद्धान्तरूपी समुद्र से निकला हुआ नाटक आदि के लक्षण बतलाने वाला अमृततुल्य रस-शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें लक्ष्य का ज्ञान करवाने के लिए बिना विस्तार के उदाहरणपूर्वक विषय का विवरण दिया गया है, जिससे अल्पज्ञान रखनेवाले भी थोडे से परिश्रम से इसका ज्ञान कर लें।

श्रीसागरेण मुकुटेश्वरनन्दिवंश-
व्योमाङ्गनैकशशिनाल्पधियां हिताय।
सृष्टो मुनिप्रवचनैरिह नाटकस्य
बीजादिनैकविध-लक्षणरत्नकोशः ॥ ३७१ ॥

श्रीमुकुटेश्वर नन्दी के वंश में आकाश में विद्यमान चन्द्र के समान स्थित श्रीसागर ने इस रत्नकोश का निर्माण किया जिसमें नाटकीय लक्षण, बीज आदि का आचार्यों के प्रवचन के अनुसार विवरण दिया गया है जो अल्प बुद्धिवालों के लिए ही निर्मित किया गया है।

श्रीहर्ष-विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्ट-नखकुट्टक-बादराणाम्।

---

1. तीन अङ्ग—अर्थात् नृत्य, गीत और वाद्य। इसका नाम ही सङ्गीतमयी रचना को सङ्केतित करता है। उल्लोप्यक को मार्गों के सात भेदों में (ही) भरत मुनि ने माना है। यह एकाङ्क होता है। साहित्य दर्पण ने इसे अन्य मत से तीन अङ्कों का भी माना है जिसकी पुष्टि किन्हीं आचार्यों से नहीं होती।

2. तुलना—सा० द० (६।२८३), भावप्रका० (पृ० २६६)।

एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम् ॥ ३७२ ॥

समाप्तश्चायं नाटकलक्षणरत्नकोशः कवेः श्रीसागरनन्दिनः ।



इस ग्रन्थ में मैंने भरतमुनि के मत को ठीक से रखने के साथ साथ श्रीहर्ष,[1] विक्रमराज,[2] मातृगुप्त, [3]गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादर (बादरायण) नामक आचार्यों के मतों को भी बतलाया है। अतएव सभी सज्जनजन इस रत्नकोश का (नाटकीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए) अनुसरण करते रहें।

श्रीसागरनन्दी के द्वारा निर्मित नाटकलक्षणरत्नकोश
नामक यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।



---

१. श्रीहर्ष नाट्यशास्त्र के वार्तिककार थे। अभिनवगुप्तपाद ने 'हर्षवार्तिकम्' को अपनी अभिनवभारती व्याख्या में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ अपना विशेष महत्व रखता था। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

२. विक्रमराज या विक्रम—हम्मीर के सङ्गीतसङ्ग्रहहार तथा सङ्गीतमकरन्द में विक्रम को नाट्यशास्त्र का लेखक माना है। (द० Journal of the Music Acedemy Madras IV पृ० २०)। रङ्गनाथ की विक्रमोर्वशीय टीका से विदित होता है कि विक्रमराज या साहसाङ्क ने नाट्यशास्त्र पर एक टीका भी लिखी थी (द० रङ्गनाथटीका नि० सा० संस्क० पृ० ३१)। विक्रम के किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ या टीका की कोई प्रति या उनसे उद्धरण भी सम्प्रति प्राप्य नहीं है।

३. गर्ग का उल्लेख रत्नकोश में ही प्राप्य है। बदर को बादरायण समझना चाहिये। बादरायण के अनेक उद्धरण नाट्यसंगीत ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। रत्नकोशकार ने भी इनके मत को तीन बार उद्धृत किया है। अश्मकुट्ट और नखकुट्ट भी नाट्यशास्त्र के ज्ञात आचार्य हैं तथा इनके भी उद्धरण ही प्राप्त होते हैं और इनकी कोई आजतक कृति प्राप्त नहीं हुई।

परिशिष्ट

(१)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों की सूची

(२)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाओं की अनुक्रमणिका

(३)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाओं के अङ्कों की अकाराद्यनुक्रमणिका



नाटकलक्षणरत्नकोशस्थकारिकाणामनुक्रमणिका ।



नाटकलक्षणरत्नकोशस्योदाहरणपद्यानामनुक्रमणिका



सहायक एवं आधारग्रन्थ सूची

अनर्घराघव—(नाटक) मुरारि। रुचिपत्युपाध्यायकृत टीका सहित बम्बई।
अभिज्ञानशाकुन्तल—(नाटक) कालिदास। राघवभट्टकृतटीका सहित।
अभिनवभारती—अभिनवगुप्तप्रणीत नाट्यशास्त्र व्याख्या (खण्ड १—४)।
अमरकोश—टीका सर्वस्व त्रिवेन्द्रम्।
अलङ्कारसंग्रह—अमृतानन्द योगी प्रणीत।
उत्तररामचरित (नाटक) भवभूति। वीर राघव टीका सहित।
काव्यमीमांसा—राजशेखर, चौखम्बा प्रकाशन।
काव्यालङ्कार—रुद्रट।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति—वामन।
कुन्दमाला—दिङ्नाग।
कुट्टनीमतम्—दामोदर गुप्त।
छन्दोमञ्जरी—गङ्गादास चौखम्बा प्रकाशन।
दशरूपक—सावलोक—चौखम्बा प्रकाशन।
दशरूपक टीका—बहुरूप मिश्र Ms Nos R
ध्वन्यालोक—लोचन सहित-चौखम्बा प्रकाशन।
नाटकसर्वस्व—पद्मश्री। जगज्ज्योतिर्मल्लकृत टीका सहित।
नागानन्द—चौखम्बा प्रकाशन।
नाट्यदर्पण—रामचन्द्रगुणचन्द्र बड़ौदा।
नाट्यशास्त्र—भरतमुनिचौखम्बा संस्करण।
बृहद्देशी—मतङ्ग।
भगवदज्जुक—(प्रहसन)।
भावप्रकाशन—शारदातनय
मालतीमाधव—(प्रकरण) भवभूति। चौखम्बा प्रकाशन।
मुद्राराक्षस—विशाखदत्त। M R. काले संस्करण।
मृच्छकटिकम्—शूद्रक। पृथ्वीधर कृत टीका सहित।
याज्ञवल्क्यस्मृति—मिताक्षरासहित। चौखम्बा प्रकाशन।
रत्नावली (नाटिका) हर्ष। चौखम्बा प्रकाशन।
विक्रमोर्वशीयम् (नाटकम्) कालिदास। रङ्गनाथकृत व्याख्या सहित।
विद्धशालभञ्जिका—(नाटिका) राजशेखर। नारायणकृत टीका सहित।
वेणीसंहार (नाटक) भट्टनारायण। जगद्धरकृत टीका सहित।
शृङ्गारप्रकाश—भोजदेव।
शृङ्गारतिलक—रुद्रभट्ट।
सङ्गीतमकरन्द—नारद।
संगीतरत्नाकर—शार्ङ्गदेव (१—४ खण्ड)
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ कविराज। चौखम्बा प्रकाशन।

पत्र पत्रिकाएँ

(१) दशरूपक की बहुरूपमिश्र की व्याख्या पर—
Journal of Oriental Research Madras के VI तथा VII खण्ड।
(२) Journal of the U P Historical Society XVII F-i-iii

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	३	आगे जोड़िये—	इसके अतिरिक्त अन्य प्रभेद भी नाटक के उत्कर्ष को ध्यान में रखकर बतलाए जाएंगे।
४	२	के बाद मूल में जोड़िये—	भरताचार्योऽप्येवं विध नाट्यविशेषं नाटक प्रस्तौति। भरतमुनि ने भी इसी प्रकार के नाट्यविशेषभूत नाटक की प्रशंसा करते हुए कहा है :—
४	८	उदारवचनान्वितम्।	उदात्तवचनान्वितम्।
७	८	षड्ङ्गत्रय	षड्ङ्गत्रयम्।
१० पङ्क्ति १ के पूर्व जोड़िये—			अत्र सीतोपलब्धिमात्रेण राक्षसानां वधाध्यवसायः।
१०	२	वोन्मीलित	वोन्मूलित
१६	५	मुसमुत्पातमुद्धतम्	मुसमुत्पन्नमुद्धतम्।
१६	६	सन्दिशन्	मन्थिरस्थ
१६	२८	भुजगेन्द्रभोगभुवन	भुजगेन्द्रभोगभवनात्
१८	२१	के आगे जोड़िये—	इत्यनेकधा दुर्योधन निकारपरम्परां दर्शयन् प्रयोजनस्य कुरुकुलक्षयस्यानुबन्ध दर्शयति।
२१	२	सिद्धयति।	सिद्धयति।
२२	२०	आधिकारिक—	आधिकारिक—
२३	१२	विन्यान्	विधात्
२५	२	स रङ्गजातस्य	स च सन्ध्यङ्गजातस्य
२५	८	और अङ्ग को रङ्गमञ्च की	और अङ्ग को सन्ध्यङ्गों की
२५	२६	यौऽङ्गशाब्दंनोच्यते	यौऽङ्गशब्देनोच्यते
२७	११	सङ्कीर्णका पादचारेषु	सङ्कीर्णका उपचारेषु
२७	१२	राजपत्य कुरुजा	राजपत्न्य कुब्जा
२८	१	किं काव्यम् ?	किं नाट्यम् ?
२८	५	भाज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते	प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते॥
२८	२२	कोऽभिनय ?	कोऽभिनय ?
२९	२२	शापो सर्ग	शापोत्सर्ग
३०	२२	(कन्तु तस्य)	(किन्तु तस्य)
३२	२४	सुगीवमक्यात्	सुग्रीवमक्यात्
३४	५	तुमन सन्देशार्थं	तु समसन मधुपार्थं
३५	२७	वृन्तक कहा गया	वृत्तक कहा गया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	२२	समासतो हि नाट्योक्तै	समासतो हि नाट्यज्ञै
४२	४	घृष्टचन्दनरसौ बाहू	घृष्टचन्दनरसौ पाण्डू
४३	१०	अन्तःपटीमध्यगतै	यथाऽपटीमध्यगतै
४४	२३	दु सासनस्य करकर्षण	दु शासनस्य कचकर्षण
४७	२६	बीज साधनसम्बन्ध	बिन्दु साधनसम्बन्ध
४९	१७	निष्पन्नयथाशक्य	निष्पत्ति यथाशक्य
५०	५	तालकेतुना कृतिमिति	तालकेतुना कृतिमिति
५१	२३	ग्रहण कर की है।	ग्रहण कर ली है।
५२	१३	या आनन्द का	या आनन्द के
५३	२४	समापनं निर्वाह	समापन निर्वाह स्पष्ट
५५	९	बाणाता मव राघव	बाणाना तव राघव
५७	१४	श्रुतिरत्नपारी	श्रतिरत्नपात्री
५८	१५	के आगे जोड़िये—	तस्य निष्पत्ति न्यास परिन्यास । यदाह—
५९	७	गुननिर्वर्णन	गुणनिर्वर्णन
५९	१२	जैसा कि आचर्य ने	जैसा कि आचार्य ने
६०	१५	सुखयार्थस्योप	सुखार्थस्योप
६४	२४	मङ्गमुद्घाटिवान्	मङ्गमुद्घाटितवान्
६७	२२	सरण ण घर	सरण णु घर
६८	६	क्रीडाविलोभार्थं	क्रीडाविलोभनार्थं
७१	१९	रामप्रवसने	रामप्रवासने
७६	१८	तत्रैव रावण	यथा तत्रैव रावण
७६	२६	तथा सम्पात्यङ्के	यथा सम्पात्यङ्के
७७	२	कपटाभिग्धाने	कपटातिसन्धाने
७९	७	सीतारूपेण रामस्य जनित सन्देहे	सीतारूपेण दर्शयता रामस्य जनितो सन्देहो
८६	२४	प्रतिहता खरदूषणाख्या	प्रतिहता खरदूषणाद्या
८७	२५	कदुअप्पसारेमि। [... कृत्वा प्रसारयामि।]	कदुअ अपसारेमि। [... कृत्वाऽपसारयामि]
८८	९	बहिणित्तणं मोदु	बहिणित्तणं मोदु
८९	२०	[रत्ना० अ० ६]	[रत्ना० अ० ४]
९१	१९	सहारणीयम्।	सहरणीयम्।
९२	२६	मद इति स्मृतम् ॥१०५॥	मद इति स्मृता ॥१०५॥
९६	२५	दानवेन सुरोंश्छलयितुं	दानवेन सुरोंश्छलयितुं
९७	२८	कथान्तरेऽनिरूप्यमाणे	कथान्तरे निरूप्यमाणे
९९	२४	चित्रम् आलेख्याभिमतजन	चित्रमालेख्यमभिमतजन
१०२	११	द्रव्यर्थाविभावं	द्रव्यर्थाविभास

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	१	प्रधाना । सात्विक सात्वत्यां	प्रधाना । वाचिकं भारत्यां सात्विकं सात्वत्यामाहार्यं
१०९	२	सृष्ट तत्क्रोडरूप	सृष्टं तत् क्रोडरूप
१०९	३	व्याहृतेऽपि	व्याहृतेऽपि
१०९	४	माया कृष्ण	पायात् कृष्ण
१०९	२०	नाटकादिरूपेषु	नाटकादिषु रूपेषु
११८	१३	जयसि गजराज	जयति गजराज
१२३	२२	श्लिष्टोऽहं यद् भ्रम	श्लिष्टोऽहं यद् भयं
१२४	४	नायिका आकार	नायिका आ कर
१३६	११	कातितानि ।	कीर्तितानि
१७६	२४	वत्सस्य मे दुर्ललितस्य	वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य
१८३	३०	(मा० का० ')	(सां० का० ९)
१९१	२५	वागङ्गसत्वाभिनेये	वाङ्गसत्वाभिनये
१९३	६	भावास्त्रयस्त्रिंशत्	भावास्त्रयस्त्रिंशत्
२०३	२७	सत्वज्ञ मन समाधान	सत्वज्ञ मन समाधान
२०५	१८	कण्टके पद्मनालैव	कण्टकैः पद्मनालैव
२०८	२६	एतमेव	एता एव
२०९	५	जातियों की	जातियों के
२०९	१४	उपकारण	उपकरण
२०९	१०	अङ्कों के आरम्भ में	नाटकीय अङ्कों के आरम्भ में
२१३	२२	विधातव्ययव' प्रयोक्तृभि ॥	विधातव्या प्रयोक्तृभि ॥
२१५	२३	अपापे धिक् या प्रयाहि	अपेहि धिक् या प्रयाहि
२१६	१८	ओ. पदम् ।	ओ पदम् ।
२२२	९	अपनी समान गौरवर्ण	समान अपनी गौरवर्ण
२४१	५	लुभाकर अपने	लुभाकर उन्हें अपने
२६४	१०	पद्मावतीपरिणय का	पद्मावती परिणय या
२६७	१७	कामश्रृङ्गारोऽर्थश्रृङ्गारश्चेति	कामश्रृङ्गारोऽर्थश्रृङ्गारश्चेति
२६७	१८	आत्महितहेतुर्धर्मसंप्रापको तत्र ।	आत्महितहेतुर्धर्मसंप्रापको धर्मश्रृङ्गार । तत्र
२६७	१९	सोन्माद' धर्मश्रृङ्गारः ।	सोन्मादः कामश्रृङ्गारः
२७५	१६	करती हुए	करते हुए
२७७	१८	[७] शूद्र	[७] शूद्रत्र
२८९	२२	सहदेव—प्रेम से	भीम—प्रेम से
३०६	१०	मलपञ्ज्ञानमल्पप्रमेण	मलपञ्ज्ञानमल्पप्रमेण